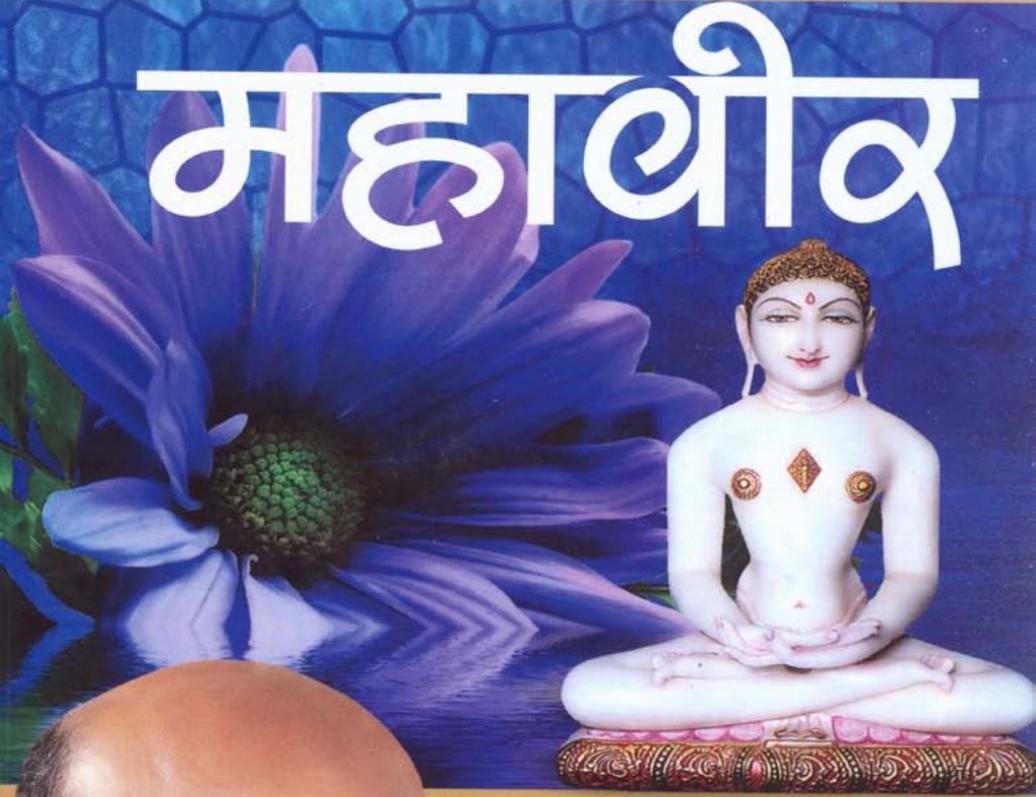


# जागे ओ

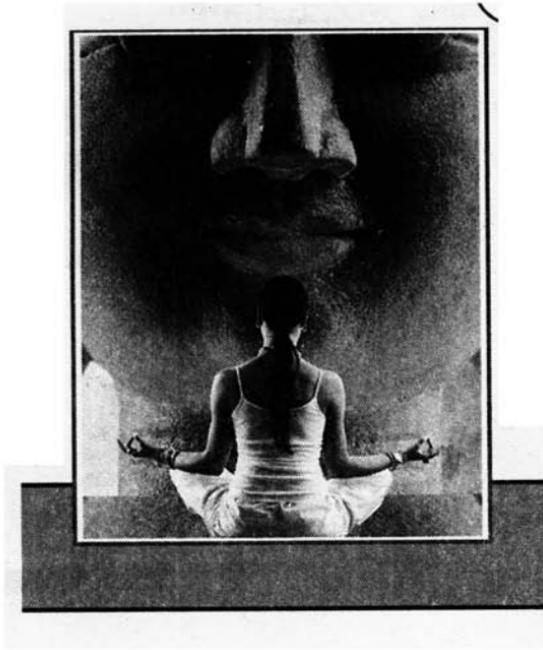
# महाथीर



शांति और बोधपूर्वक  
जीने की कला



श्री चन्द्रपभू





## सौजन्य-संविभाग

---

श्रीमती बसंतीबाई ध.प. स्व. श्री लालचंद जी चौधरी  
प्रदीप-ललिता, निर्मल-वंदना, डॉ. पूर्वा,  
पीयूष, नेहल निरल चौधरी, जावरा



श्री चन्द्रप्रभ



जागे ओ  
महाथीर



जागे सो महावीर  
श्री चन्द्रप्रभ

संपादन  
सुश्री तृप्ति बोहरा



जुलाई 2012, तीसरा संस्करण

---

प्रकाशक : श्री जितयशा फाउंडेशन  
बी-7 अनुकम्पा द्वितीय, एम.आई. रोड, जयपुर (राज.)  
आशीष : गणिवर श्री महिमाप्रभ सागर जी म.  
मुद्रक : भारत प्रेस, जोधपुर  
मूल्य : 40/-

## प्रस्तुति

'जागे सो महावीर' पुस्तक में पूज्य श्री चन्द्रप्रभ द्वारा एक ऐसे महापुरुष पर दिये गये पावन प्रवचन हैं, जिन्होंने अपने जीवन में अहिंसा, अनेकान्त और अध्यात्म की सर्वोच्च ऊँचाइयों का स्पर्श किया। महावीर समय, सम्प्रदाय या व्यवस्था से जकड़ा हुआ नाम नहीं है। यह उस दिव्य चेतना को दिया गया सम्बोधन है जिसने जीवन, जगत और अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को समझते हुए मानव मात्र के लिए श्रेष्ठ जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रस्तुत प्रवचन हमें इस सत्य का अहसास कराते हैं कि महापुरुष और उनके अमृत वचन सार्वकालिक और सार्वजनीन होते हैं। उनकी उपयोगिता उनके समय में भी होती है और हर आने वाले वर्तमान में भी। जो कोई भी अपने जीवन को सरलता और सजगतापूर्वक जीता है वह अपने जीवन में महावीर की चेतना को आत्मसात कर सकता है। श्री चन्द्रप्रभ की यह टिप्पणी बड़ी सटीक है — 'जो जागृत हैं वे महावीर हैं, जो सोये हैं सब कुंभकरण हैं।'।

जीवन में दीप-शिखा की तरह हमारा मार्गदर्शन करने में समर्थ प्रस्तुत ग्रन्थ स्वयं ही जीवन का एक शास्त्र है। विशिष्ट सूत्रों पर दिये गये विशिष्ट प्रवचन हमारे लिए किसी अमृत-तुल्य औषधि का काम करेंगे। श्री चन्द्रप्रभ

जैसे दार्शनिक और महामनीषी संत के द्वारा भगवान महावीर के महासूत्रों पर प्रकाश डालने से इनमें और अधिक प्राण आ चुके हैं।

चन्द्रप्रभजी सक्रिय प्रगतिशील विचारक हैं। वे बड़ी सदाशयतापूर्वक हर किसी धर्म और उसके महापुरुषों पर न केवल जनमानस को सम्बोधित करते हैं, वरन् वे हम सबको सारे संसार के ज्ञान-विज्ञान से जुड़ने का बेहतर नजरिया भी प्रदान करते हैं। जीवन, जगत और अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को वे जितने सटीक और मनोवैज्ञानिक ढंग से हम सब लोगों के दिलों में उतार देते हैं, वह अपने आप में चमत्कृत कर देने वाला है।

इन दिव्य प्रवचनों को जब हम पढ़ेंगे, तो यह स्वतः अहसास होता चला जाएगा कि भीतर की गुफा में किस तरह प्रकाश ने अपना प्रवेश पा लिया है। प्रकाश को वे ही पहचान सकते हैं जिन्हें स्वयं के अंधकार में होने का अहसास हो चुका है। हम इन दिव्य प्रवचनों को धैर्यपूर्वक पढ़ें। निश्चय ही पूज्यश्री के ये वक्तव्य हमारे लिए मील के पत्थर का काम करेंगे।

हम प्रवेश करते हैं सीधे मूल वाणी में — अन्तर्बोध, अन्तरप्रकाश के लिए।

— तृप्ति

## अनुक्रम

१.	मिथ्यात्व-मुक्ति का मार्ग	...	१
२.	कर्म आखिर कैसे करें ?	...	१४
३.	साधना राग की, प्रार्थना वीतराग की	...	२९
४.	हम ही हों हमारे मित्र	...	४४
५.	सम्यक्त्व की सुवास	...	६०
६.	साधना की अन्तर्दृष्टि	...	७८
७.	मार्ग तथा मार्गफल	...	९३
८.	संत स्वयं तीर्थ स्वरूप	...	११०
९.	सम्यक् श्रवण : श्रावक की भूमिका	...	१२५
१०.	सच्चरित्रता के मापदंड	...	१४०
११.	श्रावक-जीवन का स्वरूप	...	१५५
१२.	व्रतों की वास्तविक समझ	...	१७१
१३.	विवेक : अहिंसा को जीने का गुरु	...	१८९
१४.	धार्मिक जीवन के छह सोपान	...	२०६
१५.	जागे सो महवीर	...	२२५





## मिथ्यात्व - मुक्ति का मार्ग

मेरे प्रिय आत्मन् !

मैं देख रहा हूँ उस सज्जन को जो गवाक्ष में बैठा हुआ राजमार्ग से गुजरते हुए राहगीरों को देख रहा है। रास्ते पर चलते मुसाफिरों और उनकी हरकतों को निहारते हुए उस व्यक्ति की पलकें झुक गई हैं। वह पहले तो बाहर के मुसाफिरों को देख रहा था, किन्तु अब वह अपने भीतर में विचारों के राहगीरों को देखने लगा है। विचारों और मन की दशाओं को देखते-देखते वह इतना गहरा उतर गया है कि उसे अपने अतीत की फिर से याद हो आई है। उसने देखा कि वह अतीत में संन्यस्त होकर सद्गुरु के द्वार पर खड़ा है। इतने में उसके पिता सद्गुरु के पास पहुँचे और बोले - 'महात्मन्, आपने जीवन में साधना की परिणति को उपलब्ध किया है। क्या आपके शिष्य-समुदाय या स्नेहीवर्ग में ऐसा कोई व्यक्ति है जो धरती के इतिहास का स्वर्णिम हस्ताक्षर बने?'

सद्गुरु मुस्कराए और बोले - 'तुम दूर क्यों जाते हो? तुम्हारा यह पुत्र ही इतिहास का स्वर्णिम अध्याय बनेगा।' पिता बहुत गौरवान्वित हुए। वे उसके पास आए और बोले - 'पुत्र मुझे तुम पर गर्व है। धन्य है मेरा कुल कि मैंने तुम्हें पाया। भविष्य में तुम्हारे द्वारा सदाचार और सद्विचार की सरिता प्रवाहित होगी। तुम भी आने वाले समय में चक्रवर्ती, बुद्ध या तीर्थंकर जैसा महान् पद प्राप्त करोगे।' वह व्यक्ति सोच रहा है कि जब मैंने यह सब सुना तो मुझे अभिमान हो आया और मैंने

गर्व से अपनी बाजुओं पर थपकी लगाई, लेकिन वही अभिमान मेरी दुर्गति का आधार बना। मुझे मेरे उस अहंकार ने भयानक भवसागर में गोते लगवाए।

‘मैं’ ही वह बीज है जिसमें अनन्त संभावनाएँ समाहित हैं। ‘मैं’ ही वह व्यक्ति है जो कि महापुरुष है, पर थोड़े से अहंकार ने मुझे नरक, देवगति, मनुष्यत्व और तिर्यच गति में भटकाया, मुझे अपने देवत्व से दूर रखा। अहो ! मैं कभी नरक की वैतरणी में डूबा तो कभी सिंह बनकर जंगल में विचरा। मेरे जीवन में इतने उतार-चढ़ाव आए। आखिर क्या कारण है मेरे जीवन के इन उतार-चढ़ावों का? आखिर वह कौन-सी बात है जो मेरी जन्म-जन्म की यात्रा का आधार बनी ?

यह चिन्तन करते-करते गवाक्ष में बैठे हुए उस सज्जन की झुकी हुई पलकों से दो आँसू गिर पड़े। ये आँसू किसी और के लिए नहीं, वरन् स्वयं अपने लिए थे। उन आँसुओं ने उस सज्जन को यह बोध कराया और यह अहसास कराया कि मैं एक महापुरुष होने का सामर्थ्य रखता था, पर मैं किस कारण से इस भयानक भव-वन में भ्रमण करता रहा ? तब उन्हीं आँसुओं से सनकर उस सज्जन महापुरुष के कुछ स्वर फूट पड़े। उनके शब्द थे -

हा ! जह-मोहिय मइणा, सुग्गइ मग्गं अजाण माणेणं।

भीमे भव - कंतारे, सुचिरं भमियं भयकरम्मि॥

पीड़ा के क्षणों में उस सज्जन के मुँह से निकले हुए शब्दों के मर्म को वही व्यक्ति समझ सकता है जो अपनी मुक्ति के लिए कृतसंकल्प और पुरुषार्थशील है। उस सज्जन पुरुष ने आकाश की ओर निहारते हुए कहा, ‘हा ! मुझे खेद है कि मैं मूढ़मति सुगति का मार्ग न जानने के कारण इस भयानक भव-वन में दीर्घकाल तक भ्रमण करता रहा।’

‘मैं सुगति के मार्ग को नहीं जानता था’ अर्थात् किन कारणों से सदगति होती है और किन कारणों से दुर्गति - मैं इस तथ्य से अनजान था। जब कभी व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार की वेदना होती है, तब वेदना के वे क्षण व्यक्ति के अभिनिष्क्रमण, प्रव्रज्या और दीक्षा के कारण बन जाया करते हैं। धन्य हैं वे व्यक्ति जिनके जीवन में ऐसे अद्भुत क्षण आते हैं और वे उन गरिमामय पलों को सार्थक कर जाते हैं। उन महान् क्षणों को व्यर्थ कर देना उसी प्रकार है जैसे समुद्र के किनारे पर आई हुई कोई लहर, किनारे से टकराकर मिट जाती है। स्वयं की गति के प्रति उमड़ी वेदना के वे क्षण ही व्यक्ति में अध्यात्म के बीज का अंकुरण करते हैं। तब व्यक्ति कह उठता है, ‘हा ! मुझे खेद है.....।’

हमारे जीवन में ऐसी हजारों घटनाएँ घटित होती हैं, हजारों ठोकरें लगती हैं, पर अन्तर-जागरूकता न होने से कोई ठोकर हमें झिंझोड़ नहीं पाती। बुद्धिमान व्यक्ति वह है जो दूसरों को ठोकर खाता देखकर सँभल जाया करता है। वह व्यक्ति भी कुछ हद तक समझदार है जो एक बार ठोकर खाने पर सँभल जाता है। पर वह व्यक्ति तो निरा मूढ़ या मूर्ख है जो बार-बार ठोकर खाता रहता है। हमारी असल जिंदगी में ऐसा होता है। एक बार क्रोध किया, कषायों से आविष्ट हुआ, और उसके दुष्परिणामों को देखा; उसने प्रेम किया, उसके सद्परिणामों को देखा, फिर भी व्यक्ति बार-बार उन कषायों में लिप्त हो जाता है। जैसे कि कोई खुजली का रोगी, खुजलाने पर होने वाली जलन व पीड़ा को समझता है, जानता है, फिर भी खुजली से प्रेरित होकर खुजलाने को विवश हो जाता है। हर ठोकर हमारे नए जन्म, हमारे नए भव का आधार बन जाया करती है।

जैसे किसी राजमार्ग पर मुसाफिर आते हैं और चले जाते हैं, वैसे ही इस संसार के राजमार्ग पर भी पथिक आते हैं और गुजर जाते हैं। एक नया मुसाफिर तब ही तो आता है जबकि कोई पुराना चला जाए। वृक्ष में नए पत्ते तब ही तो आते हैं जबकि पुराने पत्ते पीले पड़कर झड़ जाते हैं। पेड़ में हर बार नए पत्ते का आना, नए जन्म का आरंभ ही तो है और इसी प्रकार व्यक्ति हर बार अपनी माया, मूर्च्छा एवं मिथ्यात्व के कारण भवचक्र में प्रवृत्त हो जाता है।

पर कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अलग होते हैं। वे इस पीड़ा से भरकर कह ही उठते हैं — 'हा ! मुझे खेद है। मैं मूढ़मति सुगति का मार्ग न जानने से ही इस भयानक भव-वन में भ्रमण करता रहा।' न केवल आज बल्कि अतीत में भी हमें सुगति का मार्ग नहीं मिला। ऐसा नहीं है कि अतीत में हमें मार्ग दिखाने वाला कोई नहीं था, वरन् हमने किसी रोहिणिय चोर की तरह कान में अंगुली डाल दी। आज ही नहीं, अतीत में भी पिता द्वारा पुत्र को दीक्षा के लिए मना किया जाता था। रोहिणिय के पिता द्वारा भी उससे वचन लिया गया कि वह किसी अमृत पुरुष के वचनों को नहीं सुनेगा। जब रोहिणिय के पैर किसी महावीर के सभामण्डप के पास से गुजरते हैं तो वह कान में अंगुली डाल देता है।

जब सुगति का मार्ग बताया जा रहा था, तब हम किसी मिथ्यात्व में, मूर्च्छा में फँसे थे और जब आज भीतर में पीड़ा है तो मार्ग बताने वाला कोई नहीं है। वह प्रकाश-किरण आज उपलब्ध नहीं है जो हमारे पथ को आलोकित कर सके। ऐसा

नहीं है कि हम आज उन दिव्य पुरुषों के सान्निध्य से महरूम हैं, वरन् हम अतीत में भी उसी प्रकार वंचित रहे हैं, जैसे कि ऋषभदेव के मण्डप में मरीची और महावीर के पास जमाली रहे थे।

गुजरात के एक बहुत श्रद्धेय साधक हुए हैं— भाई राजचन्द्र। उनका जन्म एक गुजराती परिवार में हुआ था, पर वास्तविक राजचन्द्र का जन्म तो उनके जीवन में घटित एक घटना से हुआ। भाई राजचन्द्र जिस मोहल्ले में रहते थे, वहाँ उनके दूर के किसी संबंधी की मृत्यु हो गई। राजचन्द्र को पिता ने कहा, 'बेटा ! आज मुझे शव-यात्रा में जाना है, क्योंकि तुम्हारे काका चल बसे हैं।' पुत्र ने आश्चर्य से पूछा, 'बप्पा ! यह चल बसना क्या होता है ?' पिता ने समझाया, 'बेटा ! वह व्यक्ति सदा-सदा के लिए इस धरती को छोड़कर चला गया है और अब उसकी पंचभूत की काया को अग्नि में समर्पित कर दिया जाएगा।' बेटे ने आश्चर्य से पूछा— 'क्या उसे जला दिया जाएगा?' पिता ने कहा— 'हाँ, बेटा ! यह तो सृष्टि का सनातन नियम है कि मृत व्यक्ति को जला दिया जाता है। मेरी मृत काया को तुम अग्नि लगा दोगे और जब तुम्हारी मृत्यु होगी तो तुम्हारी आने वाली पीढ़ियाँ तुम्हारी मृत काया को अग्नि में समर्पित कर देंगी।' पिता यह कहकर शव-यात्रा में चले गये। पुत्र राजचन्द्र भी उत्सुकता और कौतुहलवश उस शव-यात्रा के पीछे-पीछे हो लिए।

शव-यात्रा श्मशान पहुँची। राजचन्द्र जो उस समय दस-बारह वर्ष के बालक ही थे, पिता न देख लें, इस डर से वे एक पेड़ पर चढ़कर बैठ गए। अंत्येष्टि-क्रिया प्रारंभ हुई। आग लगाई गई और उस जलती चिता को देखते-देखते भाई राजचन्द्र इतने गहरे खो गए कि उन्हें लगने लगा कि वहाँ अन्य किसी की नहीं, बल्कि स्वयं उनकी ही चिता जल रही है। वे सोचते हैं कि अहो ! यह काया आज ही नहीं, बल्कि पूर्व में भी अनन्त बार बनी और बिगड़ी है, जली और सड़ी है। पहले भी महावीर जैसे किसी महानुभाव का सत्संग मिला, उनकी देशना और सान्निध्य मिला, पर वह मार्ग जो उन्होंने दिखाया, वह अन्तर-हृदय तक नहीं पहुँच पाया। अतीत में भी धर्म की खोज के लिए अनन्त साधन अपनाए गए, अनेक नियमों का, व्रतों का पालन किया गया, पर आज तक सुगति का मार्ग नहीं मिला। जब उनकी पीड़ा एक रचना में सिमट आई, जो शायद काव्य की दृष्टि से इतनी वजनदार न हो, पर उसमें छिपे भाव हृदय को छू जाने वाले हैं। वे कहते हैं—

यम नियम संयम आप कियो,  
 पुनि त्याग विराग अथाग लियो ।  
 मन मौन रह्यो, तन पौन रह्यो,  
 दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ।.....  
 वह साधन बार अनन्त कियो,  
 तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो ।

ऐसा नहीं है कि हमें आज श्रमणत्व या श्रावकत्व का जीवन मिला है। अतीत में भी हजारों बार हमने इन नामों के बाने पहने हैं। श्रमणत्व ग्रहण किया, पर कषाय से आविष्ट होकर क्रोध किया और किसी चंडकौशिक की तरह सर्प बने। ऐसा नहीं कि हमने तप-त्याग, संयम आदि नियमों का पालन नहीं किया। हमने सैकड़ों बार त्याग किया, वैराग्य लिया, तपस्याएँ कीं, मौन रहे, दृढ़ आसन किए, पर आज भी हम खाली ही हैं। अन्तर्मन में एक ही सवाल उमड़ता है कि अब भी हम मुक्त क्यों न हो पाए ? बात में बहुत गहराई है। इस बात को वे ही समझ सकते हैं जो एकान्त में बैठकर इस बात का चिन्तन करते हैं कि मेरे वास्तविक बंधन और जंजीरें क्या हैं ? मुझे किससे मुक्त होना है और वह वास्तविक मार्ग क्या है जो मुझे अब तक नहीं मिल पाया। जो अपनी बदहाली से पीड़ित हैं वे ही इन शब्दों के मर्म को समझ सकते हैं। हाँ, हमने धर्म के नाम पर चलने वाली सभी क्रियाएँ तो कीं, मन्दिर गए, स्थानक गए, इसका मुकुट उतारा, उसको चढ़ाया, उसको गाली दी दूसरे का सम्मान किया। अनन्त जन्मों से हम उलट-पुलट, श्रम-परिश्रम ही तो कर रहे हैं।

कितने जनम मन-वचन-तन से  
 श्रम किया, पीड़ा सही ।  
 दुर्भाग्य किन्तु दूर हमसे  
 मुक्ति की मंजिल रही ।

व्यक्ति के हृदय में पीड़ा और व्यथा तभी उठती है जब वह अपनी वर्तमान स्थिति से संतुष्ट न हो। व्यक्ति अपने मकान को तभी तो छोड़ना चाहेगा जब उसे पता चल पड़े कि मेरे मकान में आग लगी है। वही व्यक्ति ही मुक्ति के आकाश में छलांग लगा सकता है जिसको लगे कि जिस मकान में मैं रहता हूँ, उसमें आग गली है। आखिर हम सभी के भीतर विकार, वासना, मिथ्यात्व और मूर्च्छा की आग ही तो लगी हुई है। जो, जाग जाए, वही तो मुक्त हो सकता है।

गवाक्ष में बैठा हुआ वह सज्जन फिर-फिर इस गाथा को दोहराता जाता है—  
‘हा ! खेद है कि सुगति का मार्ग न जानने के कारण मैं मूढ़मति भयानक तथा घोर भव-वन में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा ।’

मूर्ख और मूढ़ में बड़ा फर्क है। मूर्ख वह है जिसे ज्ञान नहीं है या जो अज्ञानी है, जबकि मूढ़ वह है जिसे सत्य-असत्य का ज्ञान है, जो यह जानता है कि क्या हेय है, क्या उपादेय है, क्या आचरणीय है और क्या त्याज्य है, पर वह सब कुछ जानकर भी उसका आचरण नहीं कर पाता। युधिष्ठिर और दुर्योधन ने एक ही गुरु से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की, पर एक धर्म के लिए जूझा तो दूसरा अधर्म और अन्याय के लिए लड़ा। महाभारत का एक बहुत ही प्यारा सूत्र दुर्योधन के संदर्भ में आता है। ‘जानामि धर्मं न मे आचरति, जानामि अधर्मं न मे निवृत्तिः।’ दुर्योधन कहता है कि मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है, पर उसका आचरण नहीं होता और मैं यह भी जानता हूँ कि अधर्म क्या है, पर उससे निवृत्त नहीं हो पाता।’ यही तो व्यक्ति की मूढ़ता है।

इस संसार में तीन प्रकार की मूढ़ताएँ चलती हैं। पहली है लोकमूढ़ता। इस मूढ़ता के चलते व्यक्ति वही सही मानता है, जो दुनिया करती है, अर्थात् सही या गलत जाने बिना दुनिया का अन्धानुकरण करना ही लोकमूढ़ता है। आज सारे ही कुएँ में भांग पड़ी है। एक ने पी और सबने उसका अनुकरण किया। अब सभी नशे में हैं। यही है व्यक्ति की लोकमूढ़ता, उसकी भेड़-धसान-प्रवृत्ति। एक भेड़ के पीछे सारी भेड़ें चलने लगती हैं। यदि एक भेड़ कुएँ में गिरी तो निश्चित रूप से शेष भेड़ें भी कुएँ में गिरेंगी।

‘अन्धा अन्धो ठेलई, दोऊ कूप पड़ंत।’

ले जाने वाले भी अंधे और जाने वाले भी अंधे, तो परिणाम यह होता है कि दोनों ही कुएँ में गिरते हैं। व्यक्ति यह जानने का प्रयत्न ही नहीं करता कि सत्य क्या है ? मैं जो कर रहा हूँ, वह सही है अथवा गलत ? वह तो बस लोकानुकरण करता रहेगा और दुहाई देगा कि अमुक शास्त्र में, अमुक किताब में ऐसा लिखा है या अमुक व्यक्ति ने ऐसा किया है। अरे, वे किताबें तो दो-पाँच हजार वर्ष पुरानी हैं। तू तो आज की अपनी किताब की रचना कर। लोगों की मौजूदा वस्तु या व्यक्ति के प्रति कम आस्था होती है, पर मृतक के प्रति अपार। आस्था के विषय में तो पूछिये ही मत। जब महावीर जीवित थे, तब उनकी उतनी पूजा नहीं की गई

जितनी आज की जाती है। जब महावीर स्वयं थे, तब उनके पीछे शिकारी कुत्ते छोड़े गए, उनके कानों में कीलें ठोंकी गईं और उन पर भी गाली-पत्थरों की बरसात की गई। आज जब महावीर स्वयं नहीं हैं तो उनकी यशोगाथाएँ गाई जाती हैं, उनके चरण चन्दन से पूजे जाते हैं और उनके नाम पर लाखों-करोड़ों रुपये खर्च किए जाते हैं।

यह दुनिया भी अजीब है, जो जीते जी तो व्यक्ति के दुर्गुण देखती है और मरने के बाद गुण ही गुण। यदि दुर्गुणी में भी गुण देखोगे तो उसका जीते जी उपयोग कर जाओगे और यदि गुणी में भी दुर्गुण नजर आते रहेंगे तो उसके मरने के बाद भी उसकी तस्वीर पर धूप-दीप करने के सिवाय तुम्हारे पास कुछ नहीं बचेगा। जब वे थे, तब तो तुम मूढ़मति बने रहे और अब वे नहीं हैं तो तुम्हें उनके वियोग की पीड़ा सता रही है। यही व्यक्ति की लोकमूढ़ता है कि वह सत्य और असत्य का निर्णय किए बिना केवल जगत् का अनुकरण करता है। जिस प्रकार भेड़ें अपनी गर्दन झुकाकर चलती हैं, उनकी आँखें मार्ग को नहीं, बल्कि अपने आगे वाले साथी को देखती हैं, उसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी विवेक रूपी आँखों को झुकाकर बंद कर लेता है और केवल लोकानुकरण करता है।

दूसरी मूढ़ता है – गुरुमूढ़ता यानी 'मेरा गुरु सो सच्चा, बाकी सब झूठे।' अरे, गुरु कभी किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं होता, वह तो ज्ञान की अस्मिता है। वह व्यक्ति जो गुरु के योग्य गुण रखे, वही गुरु है। तुम्हारे गुरु तो तुम स्वयं ही हो। आजकल एक परंपरा और चल पड़ी है, वह है गुरु-आम्नाय की। कोई व्यक्ति कान में मंत्र फूंक देता है और स्वीकार हो गई उसकी गुरु-आम्नाय। लोग कहते हैं कि हमारे दादा ने भी इनकी गुरु-आम्नाय ली थी। अरे, तुम्हारे दादा को कुछ मिला होगा तो उन्होंने उसे गुरु माना। तुम्हें क्या मिला, यह तो सोचो। सब अपने-अपने गुरुओं से उसी प्रकार बंधे हैं जैसे कोई बैल ठाण से बंधा रहता है।

गुरु कोई व्यक्ति विशेष का नाम थोड़े ही है। यह तो एक क्रांति है, जो दो चेतनाओं के बीच घटित होती है। तुम गुरु उसे मानो, जिससे तुम्हारी आत्मा को कुछ उपलब्ध हुआ। तुम एक ही गुरु को सात पीढ़ी से मानने में लगे हो। जिस गुरु को तुमने देखा नहीं, तुम्हें उनसे कुछ मिला नहीं, पर तुम केवल इसलिए मान रहे हो कि उन्हें तुम्हारे पिता भी ऐसे पूजते रहे, तुम्हारे पिता इसलिए मजबूर थे क्योंकि उनके बारे में उनके पिता ने अपने बुजुर्गों से सुना होगा। यह सब भेड़-धसान हुई।

सम्भव है, तुम्हारे सात पीढ़ी पहले के किसी दादा को किसी व्यक्ति से कुछ मिला होगा। सो उन्होंने उन्हें माना। आदर दिया। तुम्हें किन्हीं से कोई प्रेरणा मिले, कुछ ज्ञान मिले, चेतना मिले, तो तुम भी मानना।

गुरु के चरण तो गंगा-स्नान की तरह होते हैं। जैसे घाट पर बैठकर गंगा-जल से निर्मल हुआ जाता है, ऐसे ही मन की निर्मलता के लिए गुरु की गंगा में अवगाहन होता है। गुरु के चरण गंगा-घाट की तरह हैं। मूढ़ता चाहे लोकमूलक हो या गुरुमूलक, अंधानुसरण से बचना चाहिए।

तीसरी मूढ़ता है 'देवमूढ़ता'। इस मूढ़ता का शिकार व्यक्ति यही सोचता है कि जिन देवों को मैं पूजता हूँ, वे ही श्रेष्ठ हैं। देवत्व या दिव्यत्व के प्रति हमारा लगाव हो, न कि किसी नाम विशेष के प्रति। हम जुड़ें किसी गुण विशेष से, न कि व्यक्ति या नाम विशेष से। अतीत में भी हम इन संकीर्णताओं से बंधे रहे हैं और आज भी हमारा भव-भ्रमण जारी है। हम देव से नहीं, दिव्यता से जुड़ें। अपने अन्तर्मन में दिव्यता का संचार करना चाहिए। परमात्मा की भगवत् दशा को हृदय में स्थापित करने से तन-मन की पाशविकता और उसका तमस् दूर होता है।

उस गवाक्ष में बैठे सज्जन की अन्तर-पीड़ा और कसक का समाधान भगवान् अपनी ओर से अगले सूत्र में दे रहे हैं -

*मिच्छन्तं वेदन्तो जीवो, विवरीय दसणो होई।*

*ण य धम्मं रोचेदि हु, महरं पि रसं जहा जरिदो ॥*

भगवान् कहते हैं - 'जो जीव मिथ्यात्व से ग्रस्त होता है, उसकी दृष्टि विपरीत हो जाती है। उसे धर्म भी रुचिकर नहीं लगता, जैसे ज्वरग्रस्त मनुष्य को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता।'

जब व्यक्ति के भीतर यह पीड़ा जगी कि क्या कारण है जिसके चलते मैं भयानक, घोर भव-वन में भ्रमण कर रहा हूँ, तब भगवान् ने राह दिखाई कि मिथ्यात्व, अविद्या, अज्ञान और आसक्ति ही वह आधार है जिसके कारण व्यक्ति दीर्घकाल से भव-भ्रमण कर रहा है। इस मिथ्यात्व ने महावीर के जीव को भी भटकवाया। मिथ्यात्व यानी असत्य। जैसा है, उसे वैसा न देखना मिथ्यात्व है। सच को सच न मानना और झूठ को झूठ न मानना। जो है, उसे नहीं मानना और जो नहीं है, उसे मानना। सत्य के प्रति असत्य-बुद्धि और असत्य के प्रति सत्य-बुद्धि, इसी का नाम मिथ्यात्व है। व्यक्ति की मिथ्या आसक्ति, दुराग्रह

और पूर्वाग्रह ही उसे उसकी मुक्ति से रोकते हैं, बाधक बनते हैं और भव-भ्रमण कराते हैं।

व्यक्ति पर मिथ्यात्व हावी होता है क्योंकि उसने मिथ्या धारणाएँ पाल रखी हैं। यदि आप मुझे बिना किसी पूर्वाग्रह या धारणा के हृदयपूर्वक सुनेंगे तो निश्चय ही हृदय का रूपान्तरण होगा और यदि आप अपनी पूर्व धारणाओं के साथ मात्र तर्क-वितर्क की दृष्टि से सुन रहे हैं तो आप यही सोचते रहेंगे कि इनकी बातों को कैसे काटा जाए ? तब आपके हाथ लगेगी, मात्र कतरन। आपके जीवन का रूपान्तरण नहीं हो पाएगा।

इसलिए आप जब कभी मुझे सुनने आएँ तो अपने मिथ्याग्रहों को, अपनी कुतर्की बुद्धि को वहीं छोड़ आएँ जहाँ आपने जूते उतारे हैं। आप मनोयोगपूर्वक सुनें और उस ज्ञान की किरण को अपने अन्तर की तर्हों तक, अन्तर के तमस् और अन्तर के कारागार तक पहुँचने दें ताकि अज्ञान का अंधियारा मिट जाए, और कोहरा छँट जाए। जिस व्यक्ति ने पूर्व में ही मिथ्याग्रह पाल रखे हैं, उसे धर्म की अच्छी बातें भी उसी प्रकार अरुचिकर लगेंगी जैसे बुखार से पीड़ित व्यक्ति को मिठाई लगती है।

ऐसा व्यक्ति धर्म-स्थान के पास से गुजर जाएगा, पर अन्दर जाने से बचेगा। यदि किसी दबाववश वह प्रवचनस्थल पर पहुँच भी गया तो उसे लगेगा कि मैं यहाँ कहाँ फँस गया? इससे अच्छा तो किसी पिकनिक या पिकचर में जाना होता। पिताजी ने कह दिया कि आज अमुक व्यक्ति की तरफ से पूजा है, इसलिए मन्दिर पहुँच जाना। बेटा पहुँच तो जाएगा, किन्तु वहाँ के भक्ति-गायन में भी किसी फिल्म की तलाश करेगा। सिनेमा हॉल में बैठा हुआ उसका भाई यह सोचे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि मेरा भाई कितना सौभाग्यशाली है जो प्रभु-भक्ति में तल्लीन होकर मिथ्यात्व की कारा को शिथिल कर रहा है और मैं हतभागी, मूढ़मति यहाँ पिकचर देख रहा हूँ। मूल्य दृष्टि का ही तो है। गिद्ध उड़ता तो है आसमान में, पर उसकी दृष्टि किसी जीव के मांस के लोथड़े पर ही होती है। वह ऊँचाइयों पर जाकर भी किसी मरे बैल, सांड या अन्य पशु को ढूँढता रहता है।

यदि दृष्टि ही मिथ्या है तो व्यक्ति कितनी भी ऊँचाई पर पहुँच जाए, वह उस गिद्ध की भाँति बस मांस के लोथड़े को ही खोजता रहेगा। अब संत भी कहने भर को संत हैं। कोई लोकैषणा में फँसा है, कोई वितैषणा में; कोई नाम में उलझा है,

कोई प्रतिष्ठाओं के व्यामोह में, कोई संघ निकलवाने में व्यस्त है और कोई तप-उद्यापन में अपने नाम की चिंता में लगा है। इतने सारे व्यामोहों में ऐसा लगता है कि श्रमणत्व तो कहीं रूँध गया है और कुछ नया स्वरूप ही संत का उभर कर सामने आया है।

प्रश्न है कि संत का वेश तो धारण कर लिया जाता है, किन्तु मन शांत और संत कहाँ हो पाता है? चित्त तो अभी भी कषायों से आविष्ट हो जाता है, चाहे कषाय की छोटी तरंग ही क्यों न हो। बाहर से व्यक्ति के लिए कितना सरल होता है श्रावक या संत बन जाना, पर अपने अन्तर को बदलना बहुत कठिन है। जब कोई व्यक्ति गृहस्थ होता है तो उसे लगता है कि संत-जीवन कितना कठिन है। मैं मानता हूँ कि श्रमणत्व स्वीकारना सरल कार्य नहीं; पर जो संत हो चुके हैं, वे इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि संत होना उतना कठिन नहीं है, जितना कि अपने कषायों, विकारों और चित्त के उद्वेगों को जीतना मुश्किल है। जो व्यक्ति सामायिक नहीं करते, उनकी दृष्टि में सामायिक करना बहुत बड़ा कार्य हो सकता है, पर जो सामायिक करते हैं, वे जानते हैं कि सामायिक करना तो आसान है, पर क्रोध का वातावरण बन जाने पर भी समता रखना कठिन है।

जब व्यक्ति चार कदम आगे बढ़ाता है तो उसे आगे की दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। जो अभी भी यहीं बैठे हैं, उनकी दृष्टि में ये चार कदम भी बहुत कठिन हो सकते हैं, पर जिन्होंने अपने कदम आगे बढ़ाए हैं, वे जानते हैं कि ये चार कदम तो मात्र कंकड़ और काँटों से ही भरे थे, पर अब आगे तो शायद विशाल चट्टानों का सामना भी करना पड़ सकता है। यही तो साधना का मार्ग है, मुक्ति की मंजिल का मार्ग है।

‘मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा’। कोई पीतांबर हो जाता है, कोई श्वेताम्बर, तो कोई काली कम्बली वाला। सब बाहर ही बाहर से परिवर्तन हुए हैं। मन तो अभी भी गृहस्थ के मन की तरह संसार में उलझा है। व्यक्ति श्रमणत्व के आसमान पर पहुँच गया है और ख्वाब देखता है किसी पिंजरे में बंद तोते के; सोचता है कि अहो ! पिंजरे में बंद तोता कितना सुरक्षित है, दाने-पानी की कोई चिंता नहीं, उसे सब बात का आराम है और मुझे कितना परिश्रम, कितनी साधना करनी पड़ती है... यह है मिथ्या दृष्टि। जब तक व्यक्ति की दृष्टि मिथ्यात्व से ग्रसित होती है, तब तक उसे अच्छी बातें अच्छी लग ही नहीं सकतीं। उसे तो बुरी बातों में ही रस आता है।

माता-पिता भी उसे कोई नेक सलाह दें तो वह भी उसे नहीं सुहाती। उसे मालूम है कि रसगुल्ला मीठा है, पर उसके बुखार के कारण उसे मीठा भी कड़वा लगता है। ऐसे ही जो व्यक्ति मिथ्यात्व के ज्वर से ग्रसित होता है, उसे पता है कि अधर्म उसके लिए हानिकारक है, पर वह अपने मिथ्यात्व के चलते उसे छोड़ नहीं पाता। आज हर व्यक्ति जानता है कि सिगरेट हानिकारक है, तंबाखू जानलेवा है, पर फिर भी वह उसका सेवन किए जा रहा है।

मेरी समझ से, दुनिया के पास ज्ञान की कमी नहीं है। ज्ञान इतना अधिक एकत्र हो गया है कि उसका अजीर्ण हो रहा है। यदि व्यक्ति को किसी बात का ज्ञान नहीं है तो वह है अपने अज्ञान का ज्ञान नहीं है। मैं यहाँ जो कुछ आपसे निवेदन कर रहा हूँ, उसका कारण यह नहीं कि मैं ज्ञानी हूँ और ज्ञान बाँट रहा हूँ। मैं, जो आपको यहाँ संबोधित कर रहा हूँ, उसके पीछे एक मात्र कारण अन्तर-बोध जगे, अन्तर-दृष्टि खुले। पथ पर चलना तो आपका काम है। मैं, किसी अंधे की हाथ की अँगुली को थामने वाला नहीं, वरन् उसकी आँख की रोशनी भर हूँ जो उसे पार लगा सके और उसे उसके किनारे पहुँचा सके।

मूल्य है व्यक्ति की दृष्टि का। यदि व्यक्ति की मिथ्या दृष्टि, सम्यक् दृष्टि में तब्दील हो जाए तो वह सिनेमा हॉल में बैठकर भी कोई अच्छा चिंतन कर सकता है और यदि दृष्टि ही मिथ्या है तो मंदिर जाकर भी व्यक्ति किसी पाप का ही अनुबंध कर बैठेगा। सारा दारोमदार व्यक्ति के नजरिये पर है।

एक छोटी-सी घटना लें। एक व्यक्ति किसी गाँव की तरफ जा रहा था। रास्ते में ही उसे दूसरा व्यक्ति बैठा मिला। राहगीर ने उस वृद्ध व्यक्ति से पूछा, 'बाबा, मैं कुछ दिनों के लिए इस गाँव में रुकना चाहता हूँ। आप मुझे यह बताएँ कि यह गाँव और इस गाँव के लोग कैसे हैं?' व्यक्ति बोला, 'इससे पहले कि मैं तुम्हारे सवाल का जवाब दूँ, तुम मुझे यह बताओ कि तुम किस गाँव से आये हो और तुम्हारे गाँव के लोग कैसे हैं?' उस राहगीर ने कहा, 'बाबा, मैं जिस गाँव से आया हूँ, वहाँ के लोगों के बारे में न पूछें तो ही अच्छा। उस गाँव के लोग तो बड़े ही छली, कपटी, चोर और दगाबाज हैं। वे जरूरत पड़ने पर किसी के भी काम नहीं आते।' वृद्ध ने सुना और बोला, 'इस गाँव के लोग भी ऐसे ही हैं। ये भी बड़े छली, कपटी और दगाबाज हैं।' जब उस राहगीर ने यह सुना तो वह बोला, 'फिर तो मैं यहाँ नहीं रुक सकता। मुझे किसी अन्य गाँव की तलाश करनी पड़ेगी।' ऐसा कहकर वह आगे बढ़ गया।

कुछ समय पश्चात् उसी रास्ते से एक अन्य राहगीर गुजरा। उसने भी वृद्ध से यही प्रश्न किया। 'बाबा, मैं इस गाँव में कुछ दिन ठहरना चाहता हूँ। आप कृपया मुझे यह बताएँ कि यह गाँव और इस गाँव के लोग कैसे हैं?' वृद्ध ने उससे भी पूछा, 'बेटा, मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँ, उससे पहले तुम मुझे यह बताओ कि तुम किस गाँव से आए हो और वहाँ के लोग कैसे हैं?' दूसरा राहगीर बोला, 'बाबा! मैं जिस गाँव से आया हूँ, वह बड़ा ही साफ-सुथरा और सुन्दर है। वहाँ के सभी लोग बड़े समझदार, सत्यवादी और भाईचारे की भावना रखने वाले हैं। सब समय पर एक-दूसरे की मदद भी करते हैं।' वृद्ध बोला, 'यह गाँव भी बड़ा साफ और सुंदर है। इस गाँव के लोग भी बड़े सरल, विनीत, हृदयवान और मेल-मिलान की भावना रखने वाले हैं। भाई, तुम बिल्कुल सही जगह पर आए हो। तुम्हारा यहाँ स्वागत है।'

यह सुनकर राहगीर उस गाँव की दिशा में बढ़ गया। उस वृद्ध के पास एक अन्य व्यक्ति बैठा था। उसने वृद्ध के द्वारा दोनों ही राहगीरों को कही गई बातें सुनी थीं। वह उस वृद्ध से बोला, 'बाबा, मुझे आपकी बात समझ में नहीं आई कि आपने पहले व्यक्ति को तो कहा कि यह गाँव और उसके निवासी बड़े बुरे हैं और दूसरे व्यक्ति को कहा कि गाँव भी बड़ा सुन्दर है और यहाँ के लोग भी बड़े अच्छे हैं।'

वृद्ध व्यक्ति बोला, 'इसके पीछे यह कारण है कि पहला व्यक्ति स्वयं ही बुरा था, तभी उसे अपने गाँव के लोग बुरे और अशिष्ट नजर आए और दूसरा व्यक्ति स्वयं अच्छा था इसलिए उसे दूसरों में भी गुण ही नजर आए। तुम यदि बुरी दृष्टि लेकर चलोगे तो तुम्हें हर जगह अवगुण और अवगुणी ही नजर आएँगे और यदि तुम्हारी दृष्टि ही अच्छी है तो तुम बुरे लोगों के बीच रहकर भी उनमें कोई-न-कोई गुण खोज ही लोगे।'

मूल्य इस बात का है कि व्यक्ति किस दृष्टि से देखता है। यदि व्यक्ति मिथ्यात्व-प्रसित दृष्टि से किसी धर्म के तत्त्व का भी आचरण करता है तो उसे उसका उल्टा ही परिणाम मिलेगा। यदि व्यक्ति सम्यक् दृष्टि से तत्त्व को जानता है तो यह उसकी कर्म-निर्जरा में सहायक बनेगा।

इसी संदर्भ में अंगला सूत्र लें -

मिच्छत-परिदप्पा, तिब्ब-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो।  
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥

मिथ्यादृष्टि जीव तीव्र कषाय से पूरी तरह आविष्ट होकर जीव और शरीर को एक मानता है। वह बहिरात्मा है।

आत्मा के तीन स्वरूप हैं – पहला बहिरात्मा ; दूसरा अंतरात्मा और तीसरा परमात्मा। जब व्यक्ति की चेतना की प्रवृत्ति बाहर की तरफ बहे, तो यह व्यक्ति की बहिरात्म-स्थिति होती है। यदि चेतना की प्रवृत्ति का उपयोग अपने लिए हो, उसका बहाव भीतर की तरफ हो तो यह अंतरात्मा की स्थिति है। इसे हम ऐसे समझें कि जैसे कोई चिड़िया घोंसला बनाती है और उस घोंसले से दाना-पानी चुगने के लिए दिन में कहीं उड़ जाती है। यह है बहिरात्मा की स्थिति और साँझ होने पर वह फिर अपने घोंसले में लौट आती है, यह है अंतरात्मा की स्थिति। जैसे कि सूरज दिन के समय अपना प्रकाश सारी धरती पर फैलाता है और शाम होते ही किरणों को अपनी आगोश में समेट लेता है।

सूरज का बाहर की तरफ किरणें फैलाना बहिरात्मा की स्थिति है और किरणों को स्वयं में समेट लेना अंतरात्मा की स्थिति है। जैसे कि कोई व्यक्ति दिन-भर काम-धंधे, लेन-देन या खाने-पीने में लगा रहता है और शाम होने पर जब घर आकर प्रतिक्रमण के लिए बैठता है तो उसकी चेतना की सारी प्रवृत्ति, स्वयं के लिए प्रवृत्त हो जाती है। स्वयं में स्वयं के लिए चेतना का लौट आना ही अंतरात्मा की स्थिति है।

जहाँ अंतरात्मा और बहिरात्मा का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है, वहीं है परमात्मा की स्थिति।





*मरे प्रिय आत्मन् !*

हम जैसे भी हैं, उसका कारण हम स्वयं ही हैं। यदि हम सुखी हैं तो उस सुख के आधार-स्तम्भ भी हम स्वयं हैं; और यदि हम दुखी हैं तो दुख के काँटे भी हमने स्वयं ने ही बोए हैं। हम ही नहीं वरन् सृष्टि का प्रत्येक प्राणी स्वयं ही स्वयं के लिए उत्तरदायी है।

यदि कोई व्यक्ति नारकीय जीवन जी रहा है तो उसका प्रबन्धक भी वह स्वयं ही है और यदि किसी ने मनुष्यता पाई है तो उसका जवाबदेह भी वह स्वयं है। यदि किसी ने इस पृथ्वी पर दिव्यता की ज्योति प्रज्वलित की है तो वह भी स्वयं के पुरुषार्थ से ही। यह प्रकृति की व्यवस्था है कि यदि आज हमें कोई बरगद का पेड़ दिखाई देता है तो अवश्य ही बीते हुए कल में उस पेड़ का बीज बोया गया होगा। आज हमारे जीवन का जो स्वरूप है और जिन सुख-साधनों का हम उपभोग कर रहे हैं, उनके पीछे कोई हेतु अवश्य है, क्योंकि जिस प्रकार कोई भी वृक्ष बिना बीज के नहीं उग सकता, उसी प्रकार बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता।

हर वेदना के लिए, हर शाता-अशाता के लिए हमारे द्वारा किए गये कर्मों की ही भूमिका होती है। हमारे जीवन में उदय आने वाले कर्मों को या तो हमें भोगना पड़ता है या उन्हें काटना पड़ता है; लेकिन कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिन्हें उदय आने पर भोगना ही पड़ता है। आखिर कर्म ही तो वह देहरी है जहाँ पर विवश होकर

व्यक्ति को अपना माथा झुका देना पड़ता है। आखिर कर्म के आधार पर ही तो नैतिकता के नियमों का संचालन होता है। यह प्रकृति का एक महान् विज्ञान और नियम है जो इस जीवन के पश्चात् प्राप्त होने वाले नए जन्म के प्रति आस्थाशील बनाता है और जन्म-जन्मांतर की शृंखलाओं का कारण बनता है। कर्मशास्त्र के अनुसार प्रत्येक कार्य का कारण होता है। यानी 'कॉज एंड इफेक्ट/इम्पेक्ट' साथ-साथ चलते हैं।

यदि किसी सती द्रौपदी के पाँच पति होते हैं तो इसके पीछे भी कोई कारण होता है। यदि महासती सीता का निष्कासन किया जाता है तो इसका भी कोई कारण है। यदि सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र को चांडाल के घर पानी भरना पड़ता है तो इसके पीछे भी कोई कारण है। मैं कारण पर आपका ध्यान केन्द्रित करूँगा।

आज के जिस विज्ञान ने इतने आविष्कार और विकास किये हैं, उसी विज्ञान का एक नियम 'कॉज एंड इफेक्ट' है। इसे ही 'कारण और कार्य का सिद्धान्त' या 'कर्म-सिद्धान्त' कहा जाता है।

जिस व्यक्ति ने इस सिद्धान्त को नहीं माना, उसका जीवन, जीवन-शैली और जीवन का दर्शन पूर्णतः अवैज्ञानिक ही सिद्ध हुआ। इस धरती पर कारण और कार्य के सिद्धान्त को नकारने वाला जो दर्शन उत्पन्न हुआ, वह चार्वाक का था। उसने कहा – 'न तो कोई आत्मा है, न ही कोई कर्म और न उनका भुगतान।' पुनर्जन्म को अस्वीकारते हुए उसने कहा, 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ।' 'ऋणं कृत्वा, धृतं पिवेत'। उधार लेकर भी यदि घी पीने को मिल जाए तो कोई हर्ज नहीं, क्योंकि अगला जन्म किसने देखा है। चूंकि इस दर्शन का आधार अवैज्ञानिक रहा, इसलिए इसे नकार दिया गया।

दूसरा दर्शन जो इस धरती पर आया वह था 'भक्त और भगवान का' जिसने कर्म को दरकिनार कर दिया और कहा कि तुम अपने जीवन में चाहे कुछ भी कर्म करो, चाहे पुण्य या पाप, उनके साथ यदि स्वयं को तुम भगवान् को समर्पित कर देते हो तो तुम्हारे सभी पाप भगवान् द्वारा माफ कर दिए जाते हैं। यानी भगवान् की शरण में तुम्हारे सारे पापों की भी क्षमा है। यह बात भी इस सृष्टि के वैज्ञानिकों को स्वीकार नहीं हुई कि पाप करे कोई और उसकी क्षमा किसी दूसरे के द्वारा मिले। चूंकि इस दर्शन का भी कोई पृष्ठ वैज्ञानिक आधार नहीं रहा, इसलिए यह भी सर्वमान्य न हो पाया।

प्रकृति कभी नियम का उल्लंघन नहीं करती। यह प्रकृति का नियम ही तो है कि जिसके चलते सृष्टि की प्रत्येक व्यवस्था समय पर संपन्न होती है। यदि कोई होलिका किसी प्रह्लाद को अग्नि में लेकर बैठती है और आग होलिका को जलाती है तो इसका अर्थ यह है कि उस आग में सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को जलाने की शक्ति है। यदि पानी किसी आग को शान्त करता है तो उसमें सृष्टि की प्रत्येक आग को शान्त करने की शक्ति है। यही तो 'कारण और कार्य का सिद्धान्त' है।

इसी के चलते पृथ्वी पर जो तीसरा दर्शन आया, वह था 'कर्मवाद'। उसके अनुसार सृष्टि का कोई संचालक या नियंत्रक नहीं होता। हर कार्य अपने नियम के अनुसार स्वतः होता है। जैसा करोगे, वैसा भरोगे। यदि तुम अच्छा करते हो तो उसका परिणाम भी अच्छा होगा और और यदि तुम बुरा करते हो तो उसका परिणाम भी बुरा ही मिलेगा। यह तो प्रकृति का सीधा-सा नियम है कि यदि तुम बबूल का बीज बोओगे तो बबूल का ही पेड़ उगेगा, और यदि आम का बीज वपन करते हो तो प्रतिफल आम का पेड़ ही होगा।

इस सिद्धान्त में भी मनुष्य ने अपनी एक मान्यता स्थापित कर दी कि इस जन्म में जो भी अच्छा-बुरा होगा, उसका फल आने वाले जन्म में मिलेगा और आज जीवन का जो स्वरूप है, उसका कारण पिछला जन्म है। इसकी इसी मान्यता के कारण यह भी उतना कारगर सिद्ध नहीं हो पाया, क्योंकि आदमी सोचता है कि यदि आज पाप करने से पैसा मिलता है, बेईमानी करने से सुख-सुविधाओं के साधन सहजता से मिलते हैं तो कल अर्थात् अगला जन्म किसने देखा है? अगले जन्म में चाहे बैल बनें या सांड, तब देख लेंगे, अभी तो खाएँ-पीएँ, आराम करें।

तब एक वैज्ञानिक सिद्धान्त उभर कर आया कि तुम जो आज करोगे उसका परिणाम तुम्हें आज ही मिलेगा और कल तुमने जिस स्थिति को भोगा, वह तुम्हारे द्वारा कल किए गये कार्य का ही परिणाम था। ऐसा नहीं कि मैं बोल रहा हूँ आज और उसका प्रभाव दस वर्ष बाद पड़े। उसका जो प्रभाव पड़ना होगा, वह आज और अभी ही पड़ेगा। यही तो कार्य और कारण का सिद्धान्त है। यदि तुम आज सुखी हो तो उस सुख का प्रबन्ध भी तुमने ही किया है और यदि तुम दुखी हो तो अपने दुख के प्रति भी तुम स्वयं ही जवाबदेह हो।

यदि कोई व्यक्ति डाकू या चोर है और गहने जवाहरात चोर कर लाता है, सुखपूर्वक जीवन बिताता है तो ऐसा नहीं है कि उसके पीछे मात्र उसका कोई पुण्य

ही है। उसका यह कृत्य अवश्य ही पापपूर्ण है, पर वह जो कुछ भी प्राप्त कर रहा है उसके पीछे उसका अदम्य साहस, उसकी बुद्धि, तत्परता, चतुराई आदि भी हैं जो सही दिशा में नियोजित होकर उसे एक अच्छा इन्सान भी बना सकती है।

इसी तरह यदि कोई अमीर व्यक्ति आज दुखी है तो उसका बीता हुआ कल अवश्य ही अप्रत्यक्ष कारण हो सकता है, पर वर्तमान कारण तो वह चिन्ता, अवसाद, तनाव, पारस्परिक मेल-जोल की भावना का अभाव है। इनके चलते वह सब सुख-सुविधाओं के होते हुए भी दुखी बन गया। व्यक्ति स्वयं की स्थिति के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। यदि कोई बुरा व्यक्ति सुखी है तो उसके पास वह गुण जरूर होगा जिसके कारण वह सुखी है और यदि कोई अच्छा व्यक्ति भी दुखी है तो उसकी कमियाँ ही उसके दुख का कारण हैं। कर्मों का प्रभाव हाथोहाथ आता है।

हम उदाहरण लें किसी आतंकवादी का जो इतना खतरनाक है कि पुलिस भी उसके नाम से कांपती है। उग्रवाद आतंकवाद फैलाना ही उसका कार्य है। साधारण व्यक्ति सोचता है कि वह तो बहुत खुश होगा, क्योंकि उसके पास बीसियों कारों हैं, सब सुख-सुविधा के साधन हैं। हम फिर इतनी मेहनत क्यों करें? क्यों न अपहरण या दो-तीन कत्ल कर बहुत धन कमा लें.... पर ऐसा नहीं है। वह आतंककारी आजाद होकर भी आजादी का जीवन नहीं जी पाता। वह किसी से मिल नहीं सकता, उसे अपना चेहरा सब से छिपा कर रखना पड़ता है। उसके रहने का स्थान भी कोई गुप्त ही होता है। सोचो, क्या वह जेल के सींखचों से आजाद रहकर भी आजाद है? उसका जीवन तो एक कैदी से भी बदतर है, क्योंकि भय तो सदा उसके साथ ही रहता है। यह है बुरे कर्मों का हाथो-हाथ परिणाम।

यदि कोई व्यक्ति हर हाल में मस्त और प्रसन्न रहता है तो उसने अपने सुखी बनने के बीज वपन कर दिए हैं। यदि तुम गाली बोलोगे तो बदले में गाली ही मिलेगी और गीत गाओगे तो गीत ही मिलेंगे। किसी कुएँ में झाँककर तुम जैसी आवाज निकालोगे, वैसी ही आवाज तो लौटकर आएगी। हर क्रिया की प्रतिक्रिया है और हर ध्वनि की प्रतिध्वनि है। यदि तुम बड़े प्यार से किसी को सत्य कहते हो तो बदले में तुम्हारे पास भी सत्य आएगा। यदि तुम किसी को सत्यानाश कहते हो या सत्यानाश करते हो तो तुम्हें भी यह सृष्टि सत्यानाश ही लौटाएगी। यह तो प्रकृति का बड़ा सहज नियम है। इस हाथ जैसा दोगे, उस हाथ वैसा ही लौटेगा।

हम लें, एक छोटी-सी बड़ी प्यारी मनोवैज्ञानिक घटना। एक दिन एक माँ और बेटे में किसी बात को लेकर कलह हो गई। बात इतनी बढ़ गई कि वह छोटा-

सा बच्चा माँ को छोड़कर जंगल में भाग गया। वहाँ जाने पर भी उस बच्चे का गुस्सा शान्त न हो पाया और जैसे ही माँ की शकल याद आई तो वह चिल्लाकर बोल पड़ा, 'हाँ, हाँ, मैं तुमसे नफरत करता हूँ, नफरत, नफरत, नफरत !' जंगल से वह आवाज प्रतिध्वनि के रूप में गूँज कर आती है - 'हाँ, हाँ मैं तुमसे नफरत करता हूँ, नफरत, नफरत, नफरत !'

बच्चा भयभीत हो जाता है और सोचता है कि यहाँ पर भी कुछ बच्चे रहते हैं जो मेरी आवाज पहचानते हैं और उन्होंने भी मुझे बदले में जवाब दिया है। वह मासूम डरा-सहमा भागकर वापस माँ के आँचल में सिमट गया, माँ की आगोश में समा गया और रोकर कहने लगा, 'माँ, जंगल में कुछ बच्चे हैं जो मुझसे नफरत करते हैं।' माँ समझ ही जाती है, क्योंकि वह प्रतिध्वनि के सिद्धान्त से वाकिफ थी। वह जानती थी कि हम प्रकृति को अपनी तरफ से जो देंगे, प्रकृति हमें वही लौटाएगी। यह तो विज्ञान का नियम है, कार्य और कारण का सिद्धान्त। यदि कोई व्यक्ति पानी को भाप में बदलना चाहे तो उसे नीचे आग जलानी ही होगी। भले ही वह सौ-सौ प्रार्थनाएँ बिना आग के पानी को भाप में बदलने के लिए कर ले, पर वे प्रार्थनाएँ पानी को भाप में नहीं बदल पाएँगी। यह प्रकृति का विज्ञान है। जो इस विज्ञान को समझता है, वह बुरा कार्य नहीं कर सकता। किसी को गधा कहकर स्वयं को गधा कहलवाना कौन पसंद करेगा !

उस माँ ने बेटे को बड़े प्यार से कहा, 'बेटे ! तुम मेरे कहने से फिर जंगल में जाओ और इस बार वहाँ जाकर बड़े प्यार से मुस्कुराते हुए कहना, मैं तुमसे प्यार करता हूँ, प्यार, प्यार, प्यार ! और बदले में तुम्हें सौ-सौ आवाजें प्यार की मिलेंगी।' यह मनोवैज्ञानिक घटना इस सत्य को स्थापित करती है कि हर ध्वनि की प्रतिध्वनि है। हमें वही प्राप्त होगा जो हम अपनी तरफ से औरों को देंगे। तब बच्चा जंगल में जाकर पुकारता है, 'हाँ, मैं तुमसे प्यार करता हूँ। प्यार, प्यार, प्यार !' बदले में जंगल से प्रतिध्वनि गूँजती है, 'प्यार, प्यार, प्यार....आई लव यू।' यही है कर्म की व्याख्या और इसकी आधारशिला। जो व्यक्ति प्रकृति के इस सिद्धान्त की तर्हों को, इस गूढ़ सत्य को, इस रहस्य को समझता है, वह व्यक्ति ही भगवान द्वारा प्रदत्त इन तीन सूत्रों को सहजता से समझ सकता है।

जं जं समयं जीवो, आविसइ जेण जेण भावेण।

सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं॥

भगवान कहते हैं – ‘जब जब व्यक्ति जैसे-जैसे शुभ और अशुभ विचार करता है, वैसे ही उस-उस समय शुभ या अशुभ कर्म का बन्धन करता है।’ यहाँ व्यक्ति के कर्म-बंध का बीज व्यक्ति का कृत्य नहीं, वरन् उसके भाव हैं अर्थात् कर्मबन्ध का मूल उसके भाव हैं और जैसी भाव-दशा, वैसी भव-दशा। भव और भाव में बहुत बड़ी समानता है। भव का अर्थ होता है ‘होना’ और भाव का अर्थ भी होता है ‘होना’। जहाँ दोनों में ही होने की स्थिति, स्वभावजन्य स्थिति आ गयी, वहाँ भव और भाव दोनों एक ही अवस्था में होते हैं। लोग कहते हैं कि मरने के बाद भवभ्रमण होता है, पर मैं तो जब भी आदमी का मन टटोलता हूँ तो लगता है कि नहीं, भले ही मरने के बाद भवभ्रमण की नयी यात्रा प्रारम्भ होती होगी, पर व्यक्ति का मन तो अभी भी भवभ्रमण ही कर रहा है।

अगर हम ईमानदारी से अपने मन का निरीक्षण करें तो देखेंगे कि धर्म की किताबों में जिस भवभ्रमण की बात कही गई है, वह भवभ्रमण तो हमारा मन अभी भी तो कर रहा है। व्यक्ति का मन दिन-रात इसी भ्रमण में तो लगा है। यदि धर्मग्रंथ किसी राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का बखान करते हैं तो उसका कारण उनके निर्मल भाव ही हैं। किसी व्यक्ति का वेश, उसका स्थान, उसका कृत्य किसी बंध का कारण नहीं होता। यह संत का जो वेश पहन रखा है, वह तो सिर्फ इसलिए है कि यह सदैव इस बात का स्मरण दिलाता रहे कि तुम सन्त हो। व्यक्ति अपने भावों या विचारों के द्वारा ही कर्म-बन्ध करता है।

योगी अपने भावों में कब भोगी बन जाए और भोगी अपने उच्च विचारों, शुभ भावों से कब योगी बन जाए, कहा नहीं जा सकता। एक ब्रह्मचारी कहलाने वाला व्यक्ति भी अपनी भाव-दशा में कई बार मैथुन का संसर्ग कर लिया करता है। अगर तुम्हें किसी पर क्रोध आ गया तो महत्व इस बात का नहीं है कि तुमने उस क्रोध को प्रकट किया या नहीं, बल्कि महत्व इस बात का है कि तुम्हारे चित्त पर क्रोध का संस्कार उदय हुआ, क्रोध की तरंगें उठीं। हाँ, प्रकट करने पर अवश्य ही उस भाव से बनने वाले कर्म का बन्धन प्रगाढ़ हो जाता है, पर भावों की शृंखला में तो न जाने हम कितने ही अपराध, कितनी ही माया, छल-प्रपंच, व्यभिचार, अभिमान, क्रोध, हत्या और न जाने कौन-कौन से पाप करते रहते हैं। भले ही घर में कुत्ते के रोजाना घुसने पर हम उसे मार नहीं पाते, पर मन में यह भाव तो बना ही रहता है कि कोई उसे लाठी से मार भगाए। हम अपनी भावदशाओं में न जाने ऐसे कितने ही पाप करते रहते हैं।

मैं राजर्षि प्रसन्नचंद्र की एक घटना का जिक्र करूँगा जिसका मैंने एकान्त क्षणों में अनेक बार मनन किया है। प्रसन्नचंद्र एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने राजमहलों, परिजनों, सब सुख-सुविधाओं का त्याग कर दिया। एक-एक माह के उपवासी, एक पाँव जमीन पर, एक हाथ आकाश की ओर, परिग्रह के नाम पर शरीर पर सिर्फ एक वस्त्र....ऐसे घोर तपस्वी के बारे में जब राजा श्रेणिक द्वारा भगवान महावीर से प्रश्न किया जाता है कि 'भन्ते ! जिन क्षणों में मैंने उस तपस्वी के दर्शन किए यदि उन क्षणों में उनकी मृत्यु हो जाती तो उनकी क्या गति होती ? महावीर कहते हैं, 'यदि उन क्षणों में राजर्षि की मृत्यु होती तो वे सातवीं नरक को प्राप्त होते।'

मैं इस घटना पर सहज ही मनन करता रहा हूँ कि जिस व्यक्ति ने अपनी गति के लिए, मुक्ति के वास्ते इतनी व्यवस्थाएँ कर लीं उसकी यह दशा ? फिर मुक्ति का मार्ग कहाँ छिपा है ? तब यह बात समझ में आई कि मुक्ति किसी बाने में, वंश, नाम या कृत्य में नहीं है। व्यक्ति की मुक्ति का मार्ग तो उसकी भाव-दशा में छिपा है। उसकी भावदशा जितनी स्वच्छ और निर्मल होगी, उतना ही वह दिव्यत्व के करीब होगा। जब से यह समझ पाई है तब से श्रमणत्व का सार, मुक्ति का मार्ग कहीं खोजने का प्रयास भी किया है तो वह अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों के प्रति जागरूकता में ही किया है। अपने हर विकल्प, हर भाव, हर विचार के प्रति सजगता। ऐसा नहीं है कि क्रोध-कषाय की तरंग मुझमें न उठती रही हो। आखिर मैं भी तो उसी शरीर को धारण किये हुए हूँ। मुझसे भी वही चित्त और उसके संस्कार जुड़े हैं। आखिर हम सब मनुष्य ही तो हैं। मनुष्य, मनुष्य का अपवाद नहीं हो सकता। हर किसी में हर तरह की सम्भावनाएँ व्याप्त रहती हैं।

अपने चित्त में उठी हर विकृत तरंग के प्रति सजगता, विवेकशीलता ही हमें उस विकृति से मुक्त होने में सहायता देती रही है। बाकी तो दुनियाँ में व्यक्ति किसी व्यक्ति से बचने या न बचने से विकृत या अविकृत नहीं होता और किसी से जुड़ने पर पवित्र या अपवित्र नहीं होता। जिसको गिरना है, वह तो हिमालय पर्वत पर जाकर भी गिर सकता है और जिसको पवित्र रहना है वह किसी कोशा गणिका के पास रहकर भी पवित्र और अखंडित रह सकता है।

भावों में ही भावना भा ली जाती है, भावों में ही दान और दया सम्पन्न हो जाते हैं, भावों में भगवान की पूजा हो जाती है और भाव ही भाव में केवल ज्ञान/परमज्ञान आत्मसात् हो जाता है।

अगर तुम्हारे विचारों में पवित्रता है तो तुम सब के बीच रहकर भी पवित्र रह सकते हो। यदि तुम्हारे विचारों में ही गंदगी है तो तुम कितने ही बाह्य वातावरण से बचे रहो, पर तुम्हारे कर्मों के अनुबन्ध तुम्हारी भावदशा में जारी रहेंगे। इसलिए वह व्यक्ति जिसमें थोड़ी-सी भी जीवन-दृष्टि है, जो अपनी मुक्ति के प्रति जागरूक है, वह सदा अपनी भावदशा के प्रति सजग रहेगा। आप लोग तो कहा करते हैं— 'भावे भावना भाविए, भावे दीजे दान। भावे जिनवर पूजिए, भावे केवल ज्ञान।' व्यक्ति अपनी भावदशा से कब मुक्ति के आकाश को छू ले, यह कहा नहीं जा सकता। रस्सी पर नृत्य करते हुए ईलायची कुमार ने निमित्त मिलने पर अपनी भावदशाओं में ही कैवल्य को उपलब्ध कर लिया था। लोगों की दृष्टि में वह कोई नट रहा होगा, पर व्यक्ति की भावदशा व्यक्ति को कहाँ पहुँचा देती है, यह कहा नहीं जा सकता। कोई भरत, माता मरुदेवी को भगवान ऋषभदेव के दर्शन के लिए ले जाता है, पर वह वहाँ पहुँचने से पूर्व ही अपनी उच्च भावदशा से मोक्ष की पहली अधिकारिणी बन जाती है। कोई नागदत्त और कुरगुडुक मुनि संवत्सरी को भोजन करते हुए भी शुद्ध ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। व्यक्ति अपनी भावदशा में किन कर्मों की निर्जरा कर रहा है, यह उसकी बाहरी दशा/बाह्य क्रिया से नहीं जाना जा सकता।

आप लोग जो यहाँ पर बैठे हैं, उनमें से पता नहीं कौन गृहस्थ के वेश में होकर भी संत है। भावों में कौन कब संत बन जाए और कौन-कब गृहस्थ, बाहरी दशा के आधार पर इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। बाहर से गिरा हुआ दिखाई देने वाला व्यक्ति भीतर में पहुँचा हुआ हो सकता है।

कहते हैं : कुछ साल पहले एक मठाधीश का देहावसान हुआ। योग की बात कि उसी समय एक महिला का भी स्वर्गवास हुआ। महिला का मकान मठाधीश के मठ के सामने ही था। दोनों एक-दूसरे के आमने-सामने रहते थे। मठाधीश धर्म शास्त्रों की कथाएँ भी बाँचता था। महिला मजबूरी की मारी, देह-व्यापार करती थी। दोनों का एक ही समय में मरना योग की ही बात थी। मठाधीश की अन्त्येष्टि में पूरा गाँव उमड़ा। हजारों लोग थे। महिला के बारे में सब जानते थे कि वह कैसा जीवन जी गयी ? महिला को म्युनिसिपल्टी की गाड़ी ले गयी। मठाधीश के लिए चंदन की चिता सजी। दोनों मरकर आगे की कार्यवाही के लिए धर्मराज की सभा में उपस्थित हुए। धर्मराज ने दोनों आत्माओं के साथ जुड़े हुए मन को पढ़ा और मन की भावदशा के आधार पर स्वर्ग-नरक का निर्णय दिया। वेश्या

महिला को स्वर्ग प्रदान करने का फैसला सुनाया गया और मठाधीश को नरक प्रदान करने का।

धर्मराज के फैसले से दोनों ही चौंक पड़े। महिला ने कहा, 'सर ! आपसे कहीं कोई चूक हुई है। मैं, पापिनी ! और स्वर्ग की अधिकारिणी? मठाधीश, नरक के अधिकारी? महाराज, आपने बही-खाते उल्टे पढ़ लिये हैं। नरक तो मेरे लिए है।'

धर्मराज ने कहा, 'माफ करना बहिन ! हमारे न्यायालय में कार्य से पहले मन की दशा को पढ़ा जाता है। तुम मजबूरी के कारण देह-व्यापार करती थी, पर हर समय तुम्हारे मन में तुम्हारे पाप-कृत्य के लिए प्रायश्चित्त होता था। तुम रोजाना सोचती थी कि धन्य है मठाधीश, जो धर्मपथ पर चलकर पवित्रता से जीवन जीता है। पर तुम यह नहीं जानती थी कि मठाधीश के मन के कर्म कैसे थे? मठाधीश जब भी तुम्हारे द्वार पर किसी को आते-जाते देखता तो उसके मन में होता कि मैं अगर मठ की सीमा में न होता तो मैं भी इस महिला के यहाँ आता-जाता। पर... ! मठाधीश मन मसोस कर रह जाता।'

मठाधीश स्वयं को लज्जित महसूस करने लगा। वह धर्मराज की बात का विरोध न कर सका। उसके मन में प्रायश्चित्त हुआ। उसकी आँखों से आँसू ढुलक रहे थे। उसके आँसुओं ने मन की गंदगी को धो डाला। महिला ने देखा, स्वर्ग की जिस सीढ़ी पर वह चढ़ रही है, मठाधीश को भी स्वर्ग के रास्ते पर जाने की अनुमति मिल गई है।

इसीलिए महावीर ने कहा - 'जब-जब व्यक्ति जैसे-जैसे भाव करता है, उस-उस समय वह वैसे ही शुभ या अशुभ कर्मों का बन्धन करता है।' बिल्ली अपने बच्चे को दाँत से पकड़ती है और एक चूहे के बच्चे को भी। पर दोनों ही पकड़ में उसकी भावदशा में अन्तर रहता है। चूहे का बच्चा जैसे ही दाँत के बीच आया, वह उसे निर्दयता से दबा देती है। पर जब वह अपने बच्चों को पकड़ती है तो उसके भावों में एक वात्सल्य, स्नेह, मातृत्व रहता है। एक जगह मारने का भाव है तो दूसरी जगह बचाने का।

एक डॉक्टर जब किसी व्यक्ति का ऑपरेशन करता है तो वह उसकी सम्पूर्ण चीर-फाड़ कर देता है। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के पेट में चाकू घोंपे तो हम उसे हत्यारा और पापी कहते हैं, पर उस डॉक्टर ने तो शरीर की पूरी चीर-फाड़ ही कर दी। शरीर के सब अंगों को ही बाहर निकाल दिया तो क्या वह पापी है? नहीं, चाकू घोंपने वाले व्यक्ति के भाव मारने के हैं तो डॉक्टर के भाव बचाने

के हैं। व्यक्ति की भावदशा ही मुख्य है। एक यतनाचारी हिंसा होने पर भी हिंसाजनित कर्म से बचा रहता है, जबकि दूसरा अयतनाचारी अहिंसा का पालन करते हुए भी हिंसा के दोष का भागी बनता है।

इसलिए ध्यान रखें, वह व्यक्ति जो अपनी मुक्ति के प्रति जागरूक है, जिसे मुक्ति का कोई मार्ग, मुक्ति का कोई धाम और मुक्ति का आनन्द चाहिए, वह अपने चित्त की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्ति के प्रति भी सजग रहे। मन की हर धारा, हर भावदशा के प्रति सजग होना ही मुक्ति का द्वार है।

दूसरा सूत्र है :

*न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्त वग्गा न सुया न बंधवा ।*

*एक्को सयं पच्चणु होई दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥*

महावीर ने बहुत सरल भाषा में अपनी बात कही है कि जाति, मित्रवर्ग, पुत्र, बान्धव आदि उस दुःख का विभाजन नहीं कर सकते। उस दुःख का अकेले ही अनुभव करना पड़ता है। कर्म कर्ता का ही अनुगमन करते हैं।

व्यक्ति को लगता है कि पुत्र, परिवार, बान्धव आदि मेरे हैं, जो दुख आने पर साथ देंगे, पर क्या दुख का बँटवारा कोई कर पाता है? व्यक्ति बिस्तर पर पड़ा रहता है, बेटा या परिवारजन दवाई की सेवा का प्रबन्ध कर सकते हैं, पर बीमारी की पीड़ा तो व्यक्ति को स्वयं अकेले ही भोगनी पड़ती है। कर्म तो कर्ता को ही भोगने पड़ते हैं। व्यक्ति नितान्त अकेला है। आज सुबह ही एक सज्जन मुझसे पूछ रहे थे कि अमुक नगर में जो सन्त हैं, क्या वे आप ही के समुदाय के हैं? मैंने जवाब दिया, 'सब ही अपने हैं।' वे बोले, 'क्या मतलब?' मैंने कहा, 'पृथ्वी पर जितने भी प्राणी हैं, सभी या तो अपने हैं या फिर अपना कोई नहीं।' वे समझ नहीं पाए। पर यह साफ है कि जन्म-जन्मान्तर की इस शृंखला में शायद ही ऐसा कोई जीव हो जिसके साथ अपना सम्बन्ध न रहा हो। जो आज हमारा मित्र है, हो सकता है वह किसी जन्म में हमारा शत्रु रहा हो और जो हमें आज शत्रु लगता है, वह न जाने किस जन्म में हमारा मित्र रहा हो।

आप सब ही मेरे अपने हैं। देखो, कितनी आत्मीयता और अपनत्व के भाव आप लोगों के चेहरे पर खिल रहे हैं। मिलना-बिछुड़ना तो नदी-नाव का संयोग है। जिस तरह एक पेड़ पर साँझ को पक्षियों का झुण्ड एकत्र होता है और सुबह होने पर सब अपनी अपनी मंजिल की तरफ उड़ जाते हैं, यह स्थिति हमारी भी है।

एक घर में आप सभी दादा, दादी, बेटा, बहू मिलकर रहते हो। रात होती है तो दादा अपनी जगह चले जाते हैं, दादी अपनी जगह, बेटा-बहू अपने कमरे में चले जाते हैं, और बच्चा अपने कमरे में। सब अलग-अलग हो जाते हैं। व्यक्ति जब तक सपने में रहता है तब तक उसे सब अपने लगते हैं। यूँ तो व्यक्ति एकदम अकेला है। सुबह होने पर सब अपने साथ मिलते हैं, नाश्ता करते हैं, और अपनी-अपनी मंजिल की ओर निकल जाते हैं। यह सब तो मात्र व्यवस्थाएँ हैं, संयोग हैं, जिन्हें व्यक्ति अपने मानने की भूल करता है।

यह मात्र संयोग है कि मैंने इस माँ की कोख से जन्म लिया। हो सकता है कि आज यह जो छोटी-सी बच्ची है, कभी वह मेरी माँ रही हो। जिस कुत्ते को हम दुत्कार कर भगा देते हैं, वह किसी जन्म में हमारा दादा या अन्य कोई रिश्तेदार रहा हो। जन्मों की इस अनन्त धारा में न जाने हम कितने लोगों से जुड़े-बिछुड़े हैं, कहा नहीं जा सकता। फिर किसके प्रति नफरत, जब सब ही किसी-न-किसी जन्म में अपने सम्बन्धी रह चुके हैं। इसलिए सभी के प्रति प्यार या सभी के प्रति उदासीनता रखें, क्योंकि या तो सभी अपने हैं या सभी पराये।

व्यक्ति का कोई भी अपना तब तक ही होता है, जब तक कि वह आत्म-निर्भर न हो जाए। एक पक्षी अपने घोंसले में तब तक ही रहता है, जब तक कि उसके पंख न निकल आएँ। पंख निकलते ही वह नीड़ छोड़कर मुक्त गगन में उड़ जाता है। बेटा भी माँ-बाप को तब तक ही निभाता है, तब तक ही उनके साथ रहता है जब तक कि उसकी शादी न हो जाए, वह आत्मनिर्भर न हो जाए। उसके बाद तो उसका संसार सिमट जाता है। बस, मियाँ, बीवी और बच्चे। यहाँ कोई किसी को नहीं निभाता, मात्र कर्म ही व्यक्ति को निभाता है। यदि तुम्हारे कर्म अच्छे हैं तो तुम जंगल में भी मंगल कर लोगे और यदि तुम्हारे कर्म ही बुरे हैं तो तुम्हारी हजार व्यवस्थाएँ भी निष्फल चली जाएँगी।

मैं लोगों को कहता हूँ कि मैं सन्त बना, मैंने घर-परिवार सब कुछ छोड़ा, पर एक चीज सदा के लिए साथ में लाया हूँ और वह है मेरी किस्मत, मेरे कर्म। यदि मेरी किस्मत अच्छी है तो मुझे जंगल में भी छोड़ दिया जाए, तो वहाँ पर भी मैं कुछ सुन्दर फूल खिला लूँगा। यदि किस्मत ही खराब है तो स्वर्ग भी कबाड़खाना बन जाएगा। इसीलिए महावीर ने कहा कि 'कर्म कर्ता का अनुगमन करते हैं।' व्यक्ति के साथ उसके कर्म रहते हैं। व्यक्ति जब-जैसे भाव करता है तब-वैसे कर्म का बन्धन करता है। उदय आने पर व्यक्ति उन कर्मों को भोगता है। अन्य व्यक्ति उस

दुःख को देख सकता है, पर दुःख का अनुभव तो कर्ता को अकेले ही करना पड़ता है। उन दुःखों में कोई भागीदारी नहीं कर सकता।

हजारों वर्षों पूर्व जब वाल्मीकि से यह प्रश्न पूछा गया था कि तुम यह चोरी-झका किसके लिए करते हो? तो उसने जवाब दिया, 'यह सब मैं अपने परिवार के लिए करता हूँ।' जब पूछा गया कि तुम जाकर यह तो पूछ आओ कि इन चोरी, डाका और हिंसाजनित पापों से उत्पन्न कर्म उदय में आएँगे तो तुम्हारे सहभागी कौन-कौन बनेंगे?

वाल्मीकि पूछने जाते हैं तो सभी हाथ खड़े कर देते हैं। हाँ, सुख में सहभागी सब बन जाएँगे, पर दुःख का वेदन तो इस जीव को अकेले ही करना पड़ेगा। बच्चे तब तक अपने हैं जब तक कि उनके पंख न लग जाएँ। आत्मनिर्भर होते ही वे साथ छोड़ देते हैं। पत्नी का साथ घर की देहरी तक है और मित्र एवं बान्धवों का साथ श्मशान तक। जीव को तो अकेले ही जाना पड़ता है। यदि उसके कोई मित्र या शत्रु हैं जो उसका साथ नहीं छोड़ते तो वे उसके द्वारा बांधे गये कर्म ही हैं। जो व्यक्ति अपने कर्मों के प्रति सजग रहेगा, वह शुभ और शुद्ध कर्मों का स्वामी बनेगा। जो इनके प्रति असावधान रहेगा, उसका जीवन अन्धेरे में ही रहेगा। वह स्वयं अंधा है और जीवन को अंधों के कुएँ में डाल रहा है। उसका साथ देने वाले भी अन्धे हैं। अंधा तो कुएँ में गिरता ही है, किन्तु उसके साथ वह भी कुएँ में गिरता है, जिसे अंधा ठेल रहा है, जिसका मार्गदर्शक अंधा है, वह केवल भेड़ को प्रोत्साहन दे सकता है।

हम सब लोग इस बात को हृदय में उतर ही जाने दें कि यहाँ कोई किसी का साथ नहीं निभाता। जब तक स्वार्थ सधता रहे, तभी तक हम एक-दूसरे को निभाते हैं। जैसे ही स्वार्थ बाधित हुआ, हम यहाँ दो पल लगाते हैं किसी से भी पल्ला झड़काने में। संसार तो किसी नाट्य-रंगमंच की तरह है। यहाँ सभी मंच पर आते हैं, अपना-अपना संवाद सुनाते हैं और पर्दे की ओट में ओझल हो जाते हैं। ध्यान रखो, कर्म केवल कर्ता का अनुगामी होता है। दुःख अकेले भोगना पड़ता है। संगी-साथी हमारे दुःख के साक्षी भर हो सकते हैं, थोड़ी-बहुत दौड़-भाग कर सकते हैं। शेष तो व्यक्ति स्वयं ही अपना कर्ता-भोक्ता है। व्यक्ति स्वयं ही स्वयं का उत्तरदायी है।

सोच-सोचकर सोचो कि अपने साथ क्या लाए थे? साथ क्या ले जाओगे? किसको साथ लाए थे, किसको साथ ले जाओगे? जब शरीर छोड़ोगे तो एक सुई

भी साथ ले जाना तुम्हारे लिए नामुमकिन हो जाएगा। सिकन्दर ने कहा था कि मेरी अरथी निकले, ताबूत सजाया जाए तो मेरे हाथ ताबूत के बाहर रखे जाएँ ताकि संसार को पता चले कि दुनिया की अकूत सम्पत्ति का मालिक भी आखिर खाली हाथ गया। आया था तो मुठ्ठी बाँधकर, गया तब हाथ पसार कर। अंधा, अंधो ठेलते, दोऊ कूप पड़ते।

तीसरा सूत्र है :

सेणावइम्मि णिहए, जहा सेणा पणस्सई।  
एवं कम्मणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए ॥

यह सूत्र भी कर्मदृष्टि पर आधारित है। भगवान कहते हैं, 'जिस प्रकार सेनापति के नष्ट हो जाने पर सेना समाप्त हो जाती है, वैसे ही एक मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

हमारी लड़ाई किससे चलती है? सेना से। यदि सेनापति को ही नष्ट कर दिया जाए तो सेना की शिकस्त तो है ही। हम तो अपनी लड़ाई छोटी-मोटी सेना से ही करते हैं। कभी एकादशी या पंचमी का व्रत कर लिया तो कभी इन तिथियों में हरी सब्जी न खाने का नियम रख लिया। कभी गाजर-मूली छोड़ी, तो कभी आलू-गोभी। अरे, लड़ना है तो ऐसी लड़ाई लड़ो जहाँ तुम आत्म-विजय का ध्वज फहरा सको, अपनी जीत का जश्न मना सको। तुम जिनत्व के, वीतरागता और जितेन्द्रियता के अधिकारी तब ही बन सकोगे जब तुम्हारी लड़ाई सेना से न होकर सेनापति से होगी।

वह सेनापति है, मोहनीय कर्म। कर्म के आठ चरण हैं जिसमें चौथा चरण है—मोहनीय कर्म। भले ही यह क्रम में चौथा है, पर सबसे घातक है, मुक्ति में बाधक है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गौत्र और अंतराय—ये हैं कर्म के आठ चरण। वैसे तो कर्म की अनन्त प्रकृतियाँ और अनन्त भाग हैं, पर मोटे तौर पर इनका आठ भागों में विभाजन किया गया है। ज्ञानावरणीय यानी जो ज्ञान पर परदा डाल देता है। जैसे बादल से ढक जाने पर सूर्य अपना प्रकाश चारों तरफ नहीं फैला पाता, वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म के कारण व्यक्ति अज्ञान के आवरण से घिर जाता है और स्वाभाविक ज्ञान का प्रकाश नहीं पा पाता। दर्शनावरणीय यानी वह कर्म जो व्यक्ति की मौलिक श्रद्धा पर, उसके दर्शन पर आवरण डाल देता है। यह बिल्कुल वैसा ही है जैसे कोई द्वार-रक्षक बीच में रुकावट बन जाता है और हम मंत्री या राजा से नहीं मिल पाते।

जिसके उदय से हम सुख, दुःख, शाता-अशाता का अनुभव करते हैं, वह वेदनीय कर्म है। ऐसा कर्म जिसके उदय से व्यक्ति चाहकर भी संसार की उलझनों और बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता, वह घातक कर्म मोहनीय है। इसमें व्यक्ति की स्थिति किसी शराबी जैसी होती है, वह बेसुध रहता है। उसे मोह के नशे में यह भान नहीं रहता कि वह जो कर रहा है, सही है या गलत। उसे लगता है कि वह दूसरे पर उपहास कर रहा है, पर वह उपहास स्वयं पर ही करता है। मोहनीय कर्म के उदय से व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल जाता है। अपने आपको भूल बैठना ही जीवन की सबसे बड़ी भूल है।

आयुष्य कर्म एक हल के समान है। हल में व्यक्ति का पाँव फँस जाए तो वह रुका रहता है, उसी प्रकार आयुष्य कर्म के कारण व्यक्ति को एक शरीर में निश्चित अवधि तक रहना पड़ता है। नाम-कर्म एक चित्रकार के समान है। चित्रकार तूलिका से अलग-अलग चित्र बनाता है वैसे ही नाम-कर्म के उदय से व्यक्ति नाना प्रकार के रूप धारण करता है। कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई तिर्यच और कोई नपुंसक। गौत्र-कर्म का स्वभाव एक कुम्भकार के समान है। जैसे कुम्हार एक ही मिट्टी से कोई बर्तन छोटा बनाता है तो कोई बड़ा, वैसे ही गौत्र कर्म के कारण व्यक्ति ऊँच या नीच कुल प्राप्त करता है।

अन्तराय कर्म का स्वभाव उस खजांची या भण्डारी के समान है जो राजा के खजाने में धन होने पर भी देने में बाधक बनता है। यही वह कर्म है जो हमें चाहने पर भी अपनी साधना में आगे नहीं बढ़ने देता। वह हमारे दान, लाभ आदि में बाधक बनता है। इस कर्म के कारण ही भगवान ऋषभदेव को बारह घड़ी की अन्तराय बाँधने पर बारह माह तक भोजन नहीं मिला था।

घाती कर्मों में सबसे अधिक खतरनाक मोहनीय कर्म है, तो अघाती कर्मों में अन्तराय सबसे अधिक बलवान है, जिसे किसी भी उपाय से नहीं काटा जा सकता। हम ज्ञानावरणीय को काट सकते हैं। हम प्रतिदिन ज्ञान का स्वाध्याय करें, ज्ञान की आशातना न करें। दर्शनावरणीय को भी काटा जा सकता है कि व्यक्ति सत्य के प्रति श्रद्धा रखे, सत्य का सम्मान करे। हर शाता-अशाता के बीच मन की समता बनाए रखकर वेदनीय को भी शिथिल किया जा सकता है। संसार में रहकर भी कमल की पँखुरियों के समान निर्लिप्त रहकर मोहनीय पर भी विजय पाई जा सकती है।

जीवन का पहला आर्य सत्य है : कर्म है, क्योंकि हर प्राणी कर्म से आबद्ध है, अपने-अपने कर्म अनुसार प्रवर्तित है। दूसरा आर्य सत्य है : कर्म काटा जा सकता है, क्योंकि कर्मों को काटने का मार्ग है। तीसरा आर्य सत्य है : कर्म-मुक्ति सम्भव है, क्योंकि कर्मों की प्रगाढ़ जंजीरों से मुक्त होकर ही अब तक अनगिनत लोग अमृत निर्वाण-पद के स्वामी हुए हैं।

कर्म से मुक्त होने के लिए 'सहजता' को जीवन का गुरुमंत्र बना लें। जब, जो, जैसा उदय में आएगा, तब, वह, वैसा, सहज स्वीकार होगा। किसी भी उदयकाल के प्रति असंतोष न हो। हर हाल में सहज, हर हाल में मस्त। एक बात तय है कि जिसका उदय होता है, उसका विलय अवश्य होता है, फिर चाहे वह अनुकूलता का उदय हो या प्रतिकूलता का। अनुकूलता के चलते अहंकार न हो और प्रतिकूलता के कारण चित्त में दुःख-दौर्मनस्य न हो। सहजता, हर हाल में सहजता।

'सजगता' कर्म से मुक्त होने का दूसरा गुरुमंत्र है। जीवन में जब, जो, जैसा, उदय होगा, हम उसके प्रति मूर्च्छित नहीं होंगे। हर हाल में सजग रहेंगे। अन्त-वृत्ति के प्रति भी और बाह्य-प्रवृत्ति के प्रति भी। बेहोशी में हाथ हिलना तो दूर, पलक भी न झपकें। खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, मेल-मिलाप करना, भोग-उपभोग करना, सब कुछ सजगतापूर्वक हो।

'निरपेक्षता' को कर्म से मुक्त होने का तीसरा गुरुमंत्र जानें। सबके बीच रहें, पर फिर भी सबसे निर्लिप्त-निरपेक्ष। 'न काहू से दोस्ती, न काहू से वैर।' सबके बीच, फिर भी सबसे ऊपर। 'सबसे मिलकर चालिये, नदी-नाव संयोग।' संबंधों को मात्र नदी-नाव का संयोग भर जानें। किसी के जन्म पर खुशी नहीं, किसी की मृत्यु पर गम नहीं। जो है, सब संयोग भर है। हर परिस्थिति को तुम संयोग भर जान लो। तुम आश्चर्य करोगे कि कोई भी बात तुम्हें प्रभावित नहीं कर पा रही है। तुम वीतराग भी रहोगे और वीतद्वेष भी। तुम घर में रहकर भी तब संत-स्वरूपी बन चुके होओगे। व्यक्ति ऐसे जिए जैसे जल में कमल निर्लिप्त रहता है। संसार में रहकर भी संसार का होकर न जीना। यह कठिन है, पर निर्लिप्त जीवन जीना ही आध्यात्मिक जीवन जीने की कला है।

आज इतना ही अनुरोध है। आप सब के लिए आत्मीय अमृत प्रेम और नमस्कार !





मेरे प्रिय आत्मन् !

जो आसक्त है उसका संसार अनन्त है। जो आसक्ति का अन्त करता है, वह अनन्त को पा लिया करता है। जो मूर्च्छित है, वह दलदल में पड़े हुए कीड़े की तरह है। जो जागृत है, वह दलदल में खिले हुए कमल के पुष्प की तरह है। जो राग-द्वेष के अनुबन्धों से घिरा हुआ है, वह दुनिया के कारागार में बन्द है। जो विराग और वीतरागता की ओर अपने कदम बढ़ा चुका है, वह अनन्त आकाश का स्वामी है।

जिसके पाँव ठहर चुके हैं, वह संसारी है। जिसका मन स्थितप्रज्ञ है, वह संन्यासी है। जिसका मन अशान्त है, वह गृहस्थ है। जो अपने मन में शान्ति और समता का स्वामी बन चुका है, वह सन्त है। संसारी वह प्राणी कहलाता है जो पाँव से तो एक जगह स्थित हो गया है पर उसका मन संसार की दसों दिशाओं में घूमता रहता है। सन्त वह है जो मन से तो स्थितप्रज्ञ हो गया है, पर उसके पाँव सारे संसार का भ्रमण करते रहते हैं।

किसी अंगुलीमाल के द्वारा भगवान को ललकारा जाता है कि तुम जहाँ पर भी हो, वहीं ठहर जाओ। भगवान के द्वारा उत्तर दिया जाता है, 'मैं तो स्थित ही हूँ। हो सके तो तुम ठहर जाओ।' अंगुलीमाल चौंक पड़ता है कि वह स्वयं को तो रुका हुआ कहता है जबकि वह तो चल रहा है। और मुझे जो ठहरा हुआ हूँ, स्थिर होने

की सलाह दे रहा है? अंगुलीमाल जब भगवान को इस रहस्य का खुलासा करने के लिए कहता है तो वे कहते हैं, 'वत्स, मैं तो शांति, प्रेम और समता में स्थित हूँ। हो सके तो तू जिस हिंसा, अज्ञान और क्रोध में दौड़ रहा है, स्वयं को रोक ले। मैं तो समता में स्थितप्रज्ञ हूँ, किन्तु तुम जिस चोरी, हिंसा और व्यभिचार के रास्ते में स्वयं को बहाए जा रहे हो, हो सके तो स्वयं को उससे रोक ले।'

हजारों साल पहले भगवान के द्वारा सन्त और गृहस्थ का यह स्पष्टीकरण किया गया था कि जो आसक्ति में बँधा है, वह गृहस्थ है और जो संसार में रहते हुए भी अभय, अप्रमत्त और कमल की पाँखुरियों की तरह निर्लिप्त है, वही सन्त है।

एक सन्त या श्रमण भी संसार में रहता है, वस्त्र का उपयोग करता है, आहार लेता है और मकान में भी रहता है, लेकिन वह सब का उपयोग करते हुए भी उपयोग नहीं करता। उस व्यक्ति का संसार में रहना, उसका उपभोग करना उसी प्रकार अर्थहीन है, जैसे कि किसी कमल का कीचड़ में पैदा होना। संसार में रहना किसी व्यक्ति के लिए खतरनाक नहीं होता। खतरा तो तब है जब व्यक्ति के हृदय में, चित्त या मन में एक संकीर्ण संसार बस जाए। ऐसा व्यक्ति अपने उस संसार के स्वार्थ के लिए सकल संसार के सुख और शांति को तुच्छ या नगण्य समझता है।

संसार में रहते हुए ही महापुरुषों ने तीर्थकरत्व, सम्बोधि या कैवल्य की सुवास को प्रकट किया है। संसार में रहना या गृहस्थ-जीवन को जीना कोई नाजायज नहीं है, उसी प्रकार जैसे कि किसी कमल का कीचड़ में पैदा होना। लेकिन जब संसार हृदय में बस जाए तो यह व्यक्ति के जीवन को उसी प्रकार गंदा कर देता है जैसे कि कमल की पंखुड़ियाँ जब तक कीचड़ से निर्लिप्त रहती हैं तब तक तो पूजा के योग्य होती हैं, लेकिन जब कीचड़ उनसे लिपट जाता है तो वह फूल अपनी सुवास, सुन्दरता, कोमलता और माधुर्य के महत्त्व और गरिमा को खो बैठता है।

संसार के हर प्राणी के लिए भी यही कसौटी है। क्योंकि मुक्ति का मार्ग तो सबके लिए समान होता है। जो उस मार्ग पर चल पड़ता है, वही तो मंजिल पा सकता है और जो रुका या रुँधा रहे, उससे मंजिल सदैव दूर ही रहती है।

कहते हैं कि एक बार एक युवक ने किसी सन्त को अपने घर पर भोजन के लिए आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया। सन्त ने प्रथमतः तो इन्कार किया, किन्तु युवक के अति आग्रह को देखकर अन्त में उन्होंने स्वीकृति दे दी।

भोजन के समय सन्त युवक के घर पहुँचा। युवक अति सम्पन्न था। वह बहुत सुन्दर मकान और सभी सुख-सुविधाओं का स्वामी था। उसने सन्त को बड़े प्रेमपूर्वक भोजन कराया। सन्त उसके घर दो-तीन घण्टे ठहरे और उसे अपनी तरफ से धर्म की दो चार अच्छी बातें भी बताईं। फिर संत ने कहा, 'अब मैं जाता हूँ।' युवक ने कहा, 'अभी धूप बहुत है। आप थोड़ी देर और हमें अपना सान्निध्य दें।' संत कुछ देर और रुक गए। कुछ समय बाद संत जाने के लिए तैयार हो गए। युवक ने सोचा कि संत को मैं इतनी दूर से लाया हूँ इसलिए यह मेरा कर्तव्य है कि घर के बाहर तक सन्त को छोड़ आऊँ।

युवक संत के पीछे-पीछे घर के बाहर तक छोड़ने निकला। संत ने जब युवक को देखा तो उन्होंने उसे अपने पात्र थमा दिए। युवक शर्मवश संत को कुछ कह न पाया और उसके पीछे-पीछे चलने लगा। चलते चलते वह सोचने लगा कि आखिर मुझमें और इन सन्त पुरुष में क्या अन्तर है? ये भी कपड़े पहनते हैं, मैं भी कपड़े पहनता हूँ, ये भी भोजन करते हैं, मैं भी भोजन करता हूँ, इनके लिए भी रहने का स्थान है और मेरा भी रहने का मकान है। बस, फर्क तो एक ही है कि इनके पत्नी नहीं है और मेरे पत्नी है। तो क्या मात्र यही अन्तर होता है संत और गृहस्थ में ?

जब इस बात पर सोचते-सोचते उसकी जिज्ञासा बहुत बढ़ गई तो उसने सन्त से कहा, 'महाराज ! मेरे मन में एक जिज्ञासा है कि सन्त और गृहस्थ में क्या अन्तर है? कृपया आप मुझे समाधान दें।' सन्त ने सुना, मुस्कुराए और चलते रहे। युवक भी कुछ और बोलने का साहस नहीं जुटा पाया और वह भी पीछे-पीछे चलने लगा। चलते-चलते वे शहर से बहुत दूर आ गए। अब युवक मन-ही-मन सोचने लगा, 'अहो ! मैं अपने घर से बहुत दूर आ गया हूँ। वापस पहुँचने में भी समय लगेगा। प्रश्न का समाधान नहीं मिला तो कोई बात नहीं, पर अब मुझे वापस लौट ही जाना चाहिए।' वह यह सोचते-सोचते बार-बार पीछे मुड़कर देखता कि मेरा मकान कितना पीछे रह गया है।

आखिरकार उसने हिम्मत कर कहा, 'महाराज, अब मुझे आज्ञा दें, मैं अपने घर लौटना चाहता हूँ।' सन्त बोले, 'जाते-जाते तुम अपने प्रश्न का समाधान भी लेते जाओ। तुम अपने मकान से इतने दूर आने पर भी स्मृतियों में उसी मकान को संजोए हुए हो। तुम्हारा मन अभी भी उस मकान, धन, सम्पत्ति और स्त्री की आसक्ति में मूर्च्छित होकर वहीं टिका है। मैंने उस मकान का, सुख-सुविधाओं

का उपयोग किया, पर मेरा मन वहाँ नहीं बँधा हुआ है। सन्त वह है जो समता, प्रेम, सहिष्णुता, दया, करुणा में स्थितप्रज्ञ हो गया है और गृहस्थ वह है जो मूर्च्छा, आसक्ति और मोह के दलदल में फँसा हुआ है।

भगवान के आज के सूत्र उन लोगों के लिए कामयाबी के सूत्र हो जाएँगे जिनके हृदय में अनासक्ति और मुक्ति के फूल खिलाने की उत्कण्ठा है।

*रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।*

*कम्मं च जाईमरणस्स मूलं दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥*

महावीर इस सूत्र के माध्यम से जीवन का विज्ञान प्रस्तुत करते हैं।

वे कहते हैं, 'राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। मोह जन्म और मरण का मूल है तथा जन्म और मरण दुःख का कारण है।'

कितना साफ-सुथरा सूत्र है ऐसे ही कि जैसे कोई गणित का सूत्र हो। जिस तरह गणित में एक और एक दो होते हैं, दो और दो चार होते हैं, ऐसे ही महावीर ने जीवन के गणित को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने इस सूत्र द्वारा मुक्ति का मनोविज्ञान स्थापित किया है। उनके द्वारा दिए गए ये सूत्र सूत्र नहीं, वरन् उनके द्वारा खींची गई ज्योति है।

महावीर कहते हैं कि राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं। खेत में जैसे बीज बोए जाएँगे, वैसी ही तो फसल होगी। लहलहाती फसल का खवाब देखने से पहले उन बीजों की पड़ताल की जानी चाहिए जिनकी सन्तति यह फसल है। यदि आक या धतूरे का बीज बोया जाएगा तो आक या धतूरे का ही पौधा निकलेगा।

यदि बीज कड़वा है तो लगने वाले फल भी कड़वे होंगे। यदि बीज मीठा है तो उससे उत्पन्न फल भी मीठा होगा। हम पल-प्रति-पल कदम-दर-कदम राग-द्वेष के बीज बोते हैं और प्रार्थना करते हैं वीतराग होने की। बहुत ही अच्छा व्यंग्य है यह कि भावना राग की और प्रार्थना वीतराग की! दोनों ही में बहुत बड़ा विरोधाभास है। आदमी की स्थिति कार चलाने वाले उस मूर्ख चालक की तरह है जो एक्सीलरेटर और ब्रेक दोनों का ही साथ-साथ उपयोग करना चाहता है।

यदि एक्सीलरेटर का ही प्रयोग किया जाए तो कार को गति मिल सकती है और यदि ब्रेक का ही उपयोग किया जाए तो कार रुक सकती है, पर व्यक्ति दोनों का ही मज़ा साथ-साथ लेना चाहता है। वह दोनों एक ही साथ दबाता है। तब

उसकी स्थिति उस त्रिशंकु की तरह हो जाती है जो न तो पूरा पृथ्वी पर होता है और न ही पूरा आकाश में। वह बीच में ही अटक कर रह जाता है। आदमी जब संसार में रहता है, तब संन्यस्त होने के ख़वाब देखता है और जब वह संन्यस्त हो जाता है तब संसार की कल्पनाओं में खोया रहता है। व्यक्ति मंदिर जाता है और कहता है 'हे वीतराग !'

हे देव तारा दिल मां वात्सल्य ना झरणा भर्या,  
हे नाथ तारा नयन मां करुणा तणा अमृत भर्या।  
वीतराग तारी मीठी-मीठी वाणी मां जादू भर्या,  
तेथीज तारा चरण मां बाळक बणी आवी गया ॥

वीतराग के चरणों में वीतरागता की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन प्रार्थना करने वाला व्यक्ति मंदिर से जब घर लौटता है और भोजन के लिए बैठता है तो कहता है, 'मुझे यह नहीं भाता, वह भाता है।' अगर सब्जी अच्छी लगती हो तो आदमी दो रोटी की जगह चार रोटी खा जाता है और यदि सब्जी पसंद की न हो तो वह एक रोटी भी बड़ी मुश्किल से खाता है। यह सब ही तो राग, आसक्ति और मूर्च्छा है। किसी बच्चे को कहो कि टमाटर की सब्जी है जिसमें शक्कर भी डाली गई है तो वह बड़ी खुशी से खाना खा लेगा और वहीं उसे यह कहो कि तुरई की सब्जी है तो वह खाना छोड़कर भाग जाएगा। जब आलू बनता है तो अच्छा लगता है और केला बुरा लगता है। व्यक्ति यह नहीं सोचता कि इस डेढ़ इंच की जीभ का ही तो स्वाद है, बाकी तो सबका एक ही परिणाम है। यदि रसगुल्ला खाया जाएगा तो उसका भी वही परिणाम होगा जो कि सूखी रोटी का होता है। पेट में पहुँचने पर तो सबका एक ही परिणाम ! यह तो मात्र व्यक्ति की तृष्णा और आसक्ति की आपूर्ति है। भोजन के प्रति कैसी आसक्ति, कैसी आसक्ति शरीर के प्रति !

यह शरीर तो एकदम उस बिजुके की तरह है जो किसी खेत में पक्षियों को डराने के लिए रखा जाता है। ये हाथ एकदम पेड़ की टहनियों जैसे हैं। यह पेट एक डिब्बा-सा है जिसमें रोटी पचाने के लिए डाली जाती है और अन्त में मल बनकर सब निकल जाता है। जिसके मन में अन्तरपीड़ा है, उसकी भी यही स्थिति है और जो जीवन के प्रति उपहास-दृष्टि रखता है, उसके साथ भी यही स्थिति है।

किन्हीं दिनों हम वाराणसी में रहकर पढ़ाई किया करते थे। निनुआ की एक ही सब्जी उगती थी। जैसे यहाँ तुरई होती है, वैसे ही वहाँ वह सब्जी होती है। वहाँ हमें तीन साल तक उसी सब्जी को खाना पड़ा। बचपन में शायद इस सब्जी का

नाम सुनते ही भाग जाते थे। वहाँ पढ़ाई के लिए सुबह चार बजे ही उठ जाना पड़ता था और जब हम बारह बजे आहार-चर्या के लिए जाते तो बड़ी भूख लगी होती थी। चार रोटी और निनुआ की सब्जी ! और तीसरी कोई चीज नहीं होती। हम उन्हें लाते और बड़े प्रेम से खा लेते। वहीं से मुझे इस बात की प्रेरणा मिली कि जीभ के स्वाद के प्रति कैसी आसक्ति ! सबका परिणाम तो अन्ततः एक ही है।

शरीर को कितना ही साफ-सुथरा बना लिया जाए, उस पर कितनी ही सुगंधी लगा दी जाए, इत्र छिड़क दिया जाए, किन्तु थोड़ी देर बाद सब दुर्गन्ध में बदल जाएँगे। चमेली का तेल लगाते ही कितनी खुशबू होती है और अगले दिन माथे पर हाथ लगाकर देखो तो पसीने की बदबू के अतिरिक्त वहाँ कुछ हाथ नहीं आता। दुनिया में कोई ऐसी दुर्गन्ध नहीं है जो शरीर के स्पर्श से सुगन्ध में बदल जाए और ऐसी कोई सुगन्ध नहीं है जो शरीर के स्पर्श से दुर्गन्ध में न बदले। इस शरीर का तो धर्म ही सड़ना-गलना है। कितना भी प्रयत्न कर लिया जाए तो भी शरीर क्षण-प्रतिक्षण जर्जरता की ओर ही गतिशील रहेगा। जो व्यक्ति शरीर के इस स्वभाव को समझ लेता है, वह स्वतः ही शरीर की आसक्ति से मुक्त हो जाता है।

हाँ, मैंने अशुचिता का ध्यान किया है, मैंने मल के विरेचित स्वरूप को देखकर अपनी जिह्वा के स्वाद को भी नियंत्रित किया है। जब मैं खाने के लिए बैठता हूँ तो मौन अंगीकार करता हूँ। फिर जो भी खाने को मिल जाए, चाहे वह नींबू के बीज हों या धनिये की जगह नीम के पत्तों की चटनी; मैं उन्हें बड़े प्रेम से स्वीकार करता हूँ। जब कभी मन में यह भाव उठता है कि सब्जी बिल्कुल फीकी है तो मेरा बोध मुझे तत्काल यही प्रेरणा देता है कि दो मिनट का ही तो स्वाद है क्योंकि भोजन तो मात्र शरीर के लिए ईंधन-आपूर्ति है। क्या फीका और क्या खारा ! मन की स्थिति उसी क्षण संतुलित हो जाती है। जब कभी कड़क रोटी आ जाती है और ऐसा लगता है कि वह चबेगी नहीं और जबड़े भी इतनी सख्त रोटी को सहन नहीं कर पाएँगे तो तत्काल यह विचार उठता है कि रोज खाना खाने के बाद आधा गिलास पानी पी लूँ। क्यों न आज खाने के पहले ही रोटी को पानी में भिगोकर पानी और रोटी को साथ खा लिया जाए। आखिरकार पेट में जाने के बाद तो दोनों को मिलना ही है।

व्यक्ति को वस्त्रों का कितना राग है ! अभी-अभी जो महानुभाव आपके बीच आए थे, वे बता रहे थे कि उनके पास पिचयासी जोड़ी वस्त्र हैं। महिलाओं

के पास तो सौ-दो सौ साड़ियाँ होती हैं, पर किसी पुरुष के पास इतनी जोड़ी वस्त्र ! मुझे आश्चर्य हुआ। यह सब आसक्ति है, मूर्च्छा है, गृद्धता है। महिलाओं के पास नीली, पीली, हरी अलग-अलग रंगों की साड़ियाँ होती हैं। उनमें भी हर साड़ी पर अलग-अलग बेल-बूटे, उनके मैचिंग की ब्लाऊज और वैसी ही चप्पलें, यह सब राग के ही तो अनुबंध हैं। चप्पल पहनें, मगर इस भाव से कि वे पैर की सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। वस्त्र पहनें, अपनी नग्नता को, निर्वस्त्रता को ढाँकने के लिए, न कि प्रदर्शन के लिए। वरना इन आडम्बरों या डेकोरेशन का कोई अन्त नहीं है।

किसी व्यक्ति को आज कोई धार्मिक किताब दो तो वह स्पष्ट कह देगा कि अवहेलना होगी क्योंकि घर में जगह नहीं है। धार्मिक किताबों के लिए जगह नहीं है और कपड़े की पचास-सौ जोड़ियों के लिए जगह भी है और संभाल भी है। व्यक्ति के पास पहले से ही कई चप्पलें हों या कपड़े हों, फिर भी जब वह नए शहर जाएगा तो वहाँ से भी कुछ खरीद ही लाएगा। वस्त्रों का परिग्रह हो, पर उसकी एक सीमा हो। व्यक्ति अपनी इस मूर्च्छा के चलते उन्हीं कपड़ों में कोई तिलचट्टा या कॉकरोच बनता है। जमीन के प्रति मूर्च्छा, मकान के प्रति आसक्ति कि इस तस्वीर से मकान को सजाऊँ, नए फैशन का सोफासेट लगाऊँ, मार्बल की जमीन होनी चाहिए।

व्यक्ति की वीतराग, विराग या श्रावकत्व की साधना सब ऊपर-ऊपर और दिखावटी है। भीतर में तो व्यक्ति राग और द्वेष के बंधनों से जकड़ा हुआ है। जीवन की सुरक्षा के लिए मकान जरूरी है, पर व्यक्ति की चेतना का मकान कोई दूसरा ही है। कपड़ों, धन या अन्य बाह्य पदार्थों पर मूर्च्छित होना ही मिथ्यात्व है। इसीलिए भगवान ने कहा कि राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह के प्रभाव से उत्पन्न होता है। मोह जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण दुःख का कारण है। जो व्यक्ति कर्मों की खेती को बन्द करना चाहते हैं, जो निर्जरा के मार्ग पर अपने कदम बढ़ाना चाहते हैं और जो अपनी मुक्ति के लिए कृतसंकल्प हैं, उन्हें राग-द्वेष के निमित्तों से, राग-द्वेष के संस्कारों और शृंखलाओं से बचना चाहिए।

मोह और राग दोनों पढ़ने में एक जैसे लगते हैं, पर दोनों में गहरा फर्क है। मोह का अर्थ उस गहरी रागासक्ति से है जहाँ व्यक्ति को किंचित् मात्र भी बोध और विवेक नहीं रहता है। भगवान ने कहा कि कर्म जन्म मरण का मूल है...और

यदि जन्म-मरण होंगे तो दुःख के निमित्त तो पैदा होते ही रहेंगे और जब-तब वह हर जन्म में कर्म के इन बीजों को पल्लवित और पोषित ही करता रहेगा। भगवान ने इस सूत्र के द्वारा बंधन और मुक्ति दोनों ही मार्गों को स्पष्ट कर दिया है।

हम लें एक प्यारी-सी घटना। हजारों साल पहले एक साध्वी हुई जिसका नाम था किसान गौतमी। उसका 'किसा' नाम इसलिए पड़ा कि वह बहुत कमजोर थी, कृश थी। वह छोटी कही जाने वाली एक जाति में पैदा हुई, पर संयोग से उसका एक उच्चकुल के धनी युवक से प्रेम हो गया। घर वालों द्वारा अनुमति नहीं देने पर भी युवक ने किसान से विवाह कर लिया। योगानुयोग से शादी के कई वर्ष बीतने पर भी किसान के संतान नहीं हुई। घर वाले पहले से ही उसके नीचे कुल की होने के कारण नाराज थे और अब उसके संतान नहीं होने पर उसे तरह-तरह से प्रताड़ित करने लगे।

किसा गौतमी एकांत में बैठकर सोचती कि इससे अच्छा होता कि किसी गरीब और नीची जाति के व्यक्ति से ही वह विवाह कर लेती। तब उसे इतनी प्रताड़नाएँ तो सहन नहीं करनी पड़तीं। पर कहते हैं कि दुःख के द्वार भी हमेशा नहीं खुले रहते। भगवान ने सुनी और किसान गर्भवती हुई। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म ने किसान को घर में आदर-सम्मान दिलाया। इसलिए वह पुत्र पर बहुत ही अधिक मोहित थी। वह अपना हर क्षण अपने पुत्र की सार-संभाल और उसके लाड़-प्यार में बिताने लगी।

एक दिन किसान घर के अन्दर बैठी थी और पुत्र बाहर उद्यान में खेल रहा था। अचानक एक सर्प ने पुत्र को डस लिया। पुत्र का शरीर नीला पड़ गया। घर वालों ने बड़े-बड़े वैद्यों को भी बुलाया, पर मृत्यु को वे टाल नहीं सके। अन्त में लोगों ने सोचा कि अब बच्चे को दफना ही दिया जाए। किसान अभी भी अपने पुत्र को अपनी गोद में लिए इस आस में बैठी थी कि कोई वैद्य आएगा जो उसके पुत्र को फिर प्राणवान कर जाएगा। लोग किसान के पास पहुँचे और उससे पुत्र को लेने लगे ताकि उसे दफनाया जा सके। लेकिन वह पुत्रमोह में इतनी अन्धी हो गई थी कि वह मृत पुत्र को मृत मानकर छोड़ने के लिए तैयार ही नहीं थी।

लोगों ने उसे बहुत समझाया, लेकिन वह नहीं मानी। आखिरकार सब हार कर अपने-अपने मुकाम चले गए। इधर किसान इस आशा में अटकी रही कि कहीं अन्यत्र कोई ऐसा वैद्य मिल जाए जो उसके पुत्र को जीवनदान दे सके। वह नगर-

नगर डगर-डगर पुत्र को हाथों में लिए हुए डोलने लगी। वह लोगों से प्रार्थना करती कि कोई उसके पुत्र के विष का हरण कर किसी भी तरह उसे जीवित कर दे। लोग कहते कि यदि हमारे किसी त्याग या कार्य से तुम्हारा पुत्र जीवित हो सके तो हम वह सब कुछ सहर्ष करने को तैयार हैं, पर हकीकत यही है कि मृत को किसी भी उपाय से जीवित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार गौतमी को घूमते हुए काफी समय हो गया। तभी उसे पता लगा कि गाँव के बाहर एक बहुत बड़ा वैद्य आया हुआ है जिसे लोग भगवान बुद्ध कहते हैं। उसने सुना कि वह हर तरह के रोग दूर करने में समर्थ हैं। उसके पास हर दुःख, हर रोग की चिकित्सा है।

गौतमी खुशी से झूम उठी और वह अपने मृत पुत्र सहित भगवान के पास पहुँची। वह भगवान से बोली, 'हे महावैद्य ! मैं बड़ी उम्मीदें लेकर आपके पास आई हूँ। कृपया आप मेरे पुत्र को पुनः प्राणवान करें।' भगवान ने उस मृत बच्चे को देखा और कहा, 'यह तो मृत है।' गौतमी बोली, 'हे करुणावतार ! कृपया आप भी गाँव वालों की तरह मेरे पुत्र को मृत न कहें और मुझ पर दया कर इसे जीवनदान दें।' भगवान ने गौतमी को ध्यानपूर्वक देखा, और देखा उसके अतीत और भविष्य को। भगवान ने जाना कि अहो ! यह गौतमी ही तो अपने अतीत में भगवान काश्यप बुद्ध की बहिन रही थी पर अपनी कर्म-परम्परा के चलते इसने नीच गौत्र में जन्म लिया और यह जन्म-मरण की श्रृंखला इसके दुःख का कारण बनी।

भगवान ने उसके साधनामय भविष्य को जानकर उसे बोध देने की दृष्टि से कहा, 'हे गौतमी ! मैं तुम्हारे पुत्र को जीवित कर सकता हूँ, पर इसके लिए तुम्हें एक कार्य करना होगा।' गौतमी खुशी से चहक कर बोली, 'प्रभु ! आप मुझे जो भी कार्य सौंपेंगे, मैं अवश्य ही करूँगी। आप शीघ्र ही आदेश दें।' भगवान बोले, 'तुम ऐसे किसी घर से सरसों के दानों की एक चिमटी ले आओ, जहाँ कभी कोई मृत्यु नहीं हुई हो।' गौतमी ने कहा, 'अरे ! एक चिमटी भर सरसों के दाने तो मैं अभी ले आती हूँ।' यह कहकर वह अपने मृत पुत्र को वहीं छोड़कर गाँव की ओर चल दी। वह एक-एक घर में जाने लगी और सब जगह एक चिमटी सरसों के दानें माँगने लगी। लोग कहते कि एक चिमटी तो क्या, तुम एक बोरी सरसों के दाने ले जाओ, यदि हमारे देने से तुम्हारा पुत्र जीवित होता हो। तभी गौतमी कहती, 'लेकिन भगवान ने यह भी कहा है कि जहाँ कभी कोई मृत्यु न हुई हो, वहाँ से ही दाने लाने हैं। आपके घर में कोई मृत्यु तो नहीं हुई है?' लोग कहते, 'अरे ! भला यह भी कभी

संभव है कि कभी मृत्यु ही न हुई हो? यह तो प्रकृति का क्रम है।' कोई कहता मेरा दादा मर गया, कोई कहता पिता, कोई पति या पत्नी और कोई कहता कि मेरा जवान पुत्र मर गया।

इस प्रकार घूमते-घूमते गौतमी का पूरा दिन बीत गया, साँझ ढल गयी, लेकिन वह पूरे गाँव में कोई ऐसा घर न खोज पाई जहाँ मृत्यु न हुई हो। वह अन्त में थक-हारकर एक जगह बैठकर सोचने लगी कि मृत्यु तो संसार का सत्य है, सृष्टि का सनातन नियम है। इस मृत्यु के द्वार से तो हर कोई गुजरता है। भगवान ने मुझे बोध देने के लिए ही यह उपक्रम किया है। वह वापस भगवान के पास पहुँची। भगवान ने उसे देखकर कहा, 'बेटी! क्या तुम्हें सरसों के दाने मिल गए?'

गौतमी बोली, 'प्रभु! मुझे सरसों के दाने तो नहीं मिले, पर जीवन का आत्मबोध जरूर मिल गया। मैंने यह जान लिया है कि संसार में ऐसा कोई घर नहीं है, जहाँ पहले किसी की मौत न हुई हो। मैंने जान लिया है कि राग-द्वेष के बीज ही जन्म-मरण की फसल के कारण बनते हैं और जब तक जन्म-मरण है तब तक दुःख से निवृत्ति सम्भव ही नहीं है।'

किसा गौतमी ने भगवान की तीन प्रदक्षिणाएँ कीं और उनके भिक्षुणी संघ में उसने संन्यस्त जीवन स्वीकार किया। वैसे तो भगवान के संघ में बहुत-सी भिक्षुणियाँ रहीं, पर किसान गौतमी और पट्टाचारी नामक दो भिक्षुणियाँ उल्लेखनीय और अभिनन्दनीय हैं। इन दोनों ने न केवल स्वयं के जीवन को निर्वाण के मार्ग की ओर अग्रसर किया, अपितु भगवान के पास जो कोई भी संन्यस्त और दुःख से पीड़ित आया, उसको भी समाधिमय किया। इसी सन्दर्भ में भगवान अपना अगला सूत्र दे रहे हैं—

तं जइ इच्छसि गंतुं, तीरं भवसायरस्स घोरस्स ।

तो तवसंजम भंडं, सुविहिय ! गिण्हाहि तूरंतो ॥

भगवान कहते हैं— 'हे किसान गौतमी, हे पट्टाचारी, हे मेरे श्रावक-श्राविकाओ, हे मेरे सन्तों, यदि तुम घोर भवसागर के पार जाना चाहते हो तो हे सुविहित! शीघ्र ही तप-संयम रूपी नौका को ग्रहण करो।'

भगवान की वाणी सबके लिए नहीं है। उनकी वाणी मात्र उनके लिए है जो दुखों से संन्यस्त हैं, जिन्होंने जीवनचक्र में सुख-दुःख का अनुभव कर लिया है और जिनकी उन दुःखों से मुक्त होने की प्रबल उत्कण्ठा है। भगवान उन्हें कहते

हैं, 'हे मेरे वत्स ! यदि तुम इस भयानक और घोर भवसागर से पार होना चाहते हो तो तप और संयम रूपी नौका को तुरन्त ग्रहण करो।' दुनिया में कितने लोग भव-सागर से पार होना चाहते हैं ? आप लोगों में से कितने व्यक्ति मंदिर जाकर अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना करते हैं? मंदिर में जाकर यह कह देना आसान है कि भगवान मुझे मुक्ति दो, पर ये प्रार्थनाएँ मात्र सतही हैं, सब ऊपर-ऊपर की बातें हैं। हकीकत में आदमी भव-सागर से पार ही नहीं होना चाहता। यदि चाहता है तो भगवान उनके लिए ही कहते हैं कि तप और संयम रूपी नौका को ग्रहण करो।

भगवान सचेत करते हैं कि व्यक्ति क्षण भर का भी प्रमाद न करे। समय बहुत निर्दयी होता है जो यह नहीं देखता कि कब किस व्यक्ति को जीवन दिया जाए या कब किसको मृत्यु। हो सकता है कि अपना अगला ही क्षण मृत्यु का हो। मुहूर्त बड़े क्रूर होते हैं और शरीर बड़ा निर्बल। इसलिए जो व्यक्ति 'मन-मन' करते रहते हैं, वे कुछ नहीं कर पाते। कहते हैं न कि मारवाड़ मनसूबे में डूबी। व्यक्ति मुक्ति नहीं चाहता। उसकी मुक्ति की प्रार्थनाएँ तो मात्र अपनी कथित प्रार्थना को वज़नदार और स्वयं को झूठी तसल्ली देने के लिए होती हैं। विद्यार्थी प्रार्थना करता है कि भगवान ! मुझे अच्छे अंकों से पास कर देना। कुंआरे प्रार्थना करते हैं कि भगवान, हमारा ब्याह अच्छे घर में हो जाए। व्यवसायी प्रार्थना करता है कि भगवान ! व्यवसाय मन्दा चल रहा है, कमाई अच्छी हो जाए। बूढ़ा व्यक्ति कहता है कि हे भगवान ! मरने के पहले मुझे पोते का मुँह दिखा दे। मुक्ति कोई नहीं मांगता।

कहते हैं : भगवान के पास एक बार कोई ब्राह्मण पहुँचा और बोला, भगवन् ! आप सबको मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं, सबको धर्म और आत्म-कल्याण का पथ दिखलाते हैं। आपके अनुयायी भी बहुत से लोग हैं। मेरे मन में एक शंका है कि आपके मार्ग का अनुसरण कर जब सभी मुक्ति पा लेंगे तो सिद्ध-शिला में क्या जगह की कमी नहीं हो जाएगी? आखिर सिद्धशिला का क्षेत्र तो सीमित ही है। उसमें सारा संसार कैसे समायेगा? भगवान ने सुना और मुस्कुराए। वे बोले, 'वत्स ! मैं तुम्हारी शंका का समाधान करूँ, उससे पहले मैं तुम्हें एक सेवा सुपुर्द करना चाहता हूँ।' ब्राह्मण बोला, 'प्रभु, यह तो मेरा सौभाग्य है कि आपने मुझे सेवा का अवसर दिया, अन्यथा आप तो किसी से कुछ कहते ही नहीं।' भगवान बोले, 'तुम आज गाँव में जाकर यह कह दो कि भगवान कल सब की इच्छा पूरी करेंगे। इसलिए जिस व्यक्ति की जो इच्छा हो, वह तुम्हें लिखवा दे। लेकिन एक व्यक्ति

की मात्र एक ही इच्छा पूरी होगी, इसलिए सब लोग उस एक इच्छा को ही लिखवाएँ जो कि सर्वोपरि हो।' ब्राह्मण गाँव में गया। उसने घर-घर जाकर भगवान की कही हुई वह बात कह दी तथा प्रत्येक व्यक्ति से उसकी सर्वोपरि एक इच्छा जान ली।

अपना कार्य समाप्त होने पर वह एक लम्बी-चौड़ी सूची लेकर भगवान के पास पहुँचा। भगवान ने कहा, 'तुम जो सूची लाए हो, उसे पढ़ डालो।' उसने पूरी सूची पढ़ दी। किसी ने पुत्र मांगा था, किसी ने पति, तो किसी ने पत्नी। किसी ने धन-सम्पत्ति मांगी तो किसी ने रोगों का निवारण मांगा था। भगवान बोले, 'अब तो तुम्हें अपने प्रश्न का समाधान मिल गया होगा।' ब्राह्मण समझ नहीं पाया। वह बोला, 'प्रभु! मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आया।' भगवान बोले, 'तुम इतनी बड़ी सूची लेकर आए लेकिन उसमें मुक्ति किसी ने भी नहीं मांगी। मुक्ति कोई चाहता ही नहीं, वह सिर्फ व्यक्ति की बातों में ही है।'

आप में से कितने लोग मुक्ति चाहते हैं? कोई नहीं चाहता। यहाँ से जब खड़े होंगे तो बोल दोगे - 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।' अभी तो भगवान ही सब कुछ है, लेकिन जब बेटे के सामने खड़े होंगे तो कहोगे कि 'मैं ही माता, मैं ही पिता और मैं ही सब कुछ हूँ।' मंदिर में जाकर कहोगे, 'शिवमस्तु सर्वजगतः' अर्थात् सारे संसार का कल्याण हो और फिर मन ही मन बोलोगे कि भगवान मेरा कल्याण हो, मेरा भला हो जाए। संस्कृत और प्राकृत में जो प्रार्थनाएँ होती हैं, वे ऊँचे स्वरों में गाई जाती हैं ताकि सब सुन सकें। कितनी ऊँची-ऊँची भावनाएँ हैं स्वरों में, किन्तु मन में धीरे-धीरे बुदबुदाते हो अपनी तुच्छ प्रार्थनाएँ कि भगवान मेरा यह काम हो जाए, मेरी यह इच्छा पूरी हो जाए।

भगवान ने इसीलिए कहा है कि मुक्ति का मार्ग सबके लिए नहीं है। यह मार्ग मात्र उसी के लिए है जो वास्तविक रूप से इस पार से उस पार जाना चाहता है। भगवान कहते हैं - 'यदि तू इस भयंकर और घोर भवसागर से पार होना चाहता है तो हे बुद्धिमान पुरुष ! शीघ्र ही तप और संयम रूपी नौका को ग्रहण कर।' पार वे ही तो लगते हैं जो नौका में सवार होते हैं और जिनकी बाजुओं में तैरने की प्रबल शक्ति है। जो व्यक्ति इस डर से पानी में नहीं उतरते कि कहीं हम डूब न जाएँ, वे उस पार के आनन्द से सदैव वंचित ही रहते हैं। उनकी स्थिति कीचड़ में पड़े हुए उस कीड़े की तरह होती है जिसे कीचड़ से बाहर निकलने का आमंत्रण भी मिलता है और वहाँ की स्वतंत्रता के बारे में, उसके आनन्द के बारे में भी उसे बताया जाता

है, लेकिन वह मात्र इस डर से बाहर नहीं निकलता कि यदि बाहर निकलूँ और वहाँ कीचड़ ही मिला तो मेरा क्या हाल होगा? इस भय से वह कीचड़ का कीड़ा कीचड़ में ही धँसता जाता है।

कमल और कीड़ा, दोनों ही कीचड़ में पैदा होते हैं। कीड़ा कीचड़ में ही धँसता जाता है, जबकि कमल उस कीचड़ से ऊपर उठ जाता है। हम सब भी तो कीचड़ से ही पैदा हुए हैं। हमारा यह शरीर हमें माता-पिता के रक्त, वीर्य, अस्थि, मज्जा से ही तो मिला है। पर एक व्यक्ति कीचड़ में पैदा होकर कीचड़ में ही प्रवृत्त होता जाता है और दूसरा वह है जो भले ही किसी कीचड़ में पैदा हुआ है, पर वह कीचड़ को कीचड़ समझकर उसका त्याग कर देता है। धन्य हैं वे महापुरुष जो स्वयं को संसार के कीचड़ से कमल की तरह निर्लिप्त रखते हैं। निर्लिप्त-निर्मल आत्माओं के लिए ही भगवान का अगला सूत्र है :

भावे विरक्तो मणुओ, विसोगो, एएण दुक्खोह परंपरेण।  
न लिप्पई भवमज्जे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी पलासं ॥

यह बहुत ही कीमिया सूत्र है। भगवान कहते हैं कि भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही भाव-विरक्त पुरुष संसार में रहकर भी अनेक दुःखों से लिप्त नहीं होता।

जो भाव से विरक्त है, वह वीतशोक है। उसे किसी भी प्रकार का दुःख नहीं है। जो भाव में अनुरक्त है, उसके लिए सब तरह के दुःख हैं। पति के बीमार हो जाने पर पत्नी दुःखी होती है, क्योंकि उसके भावों में अनुराग है। बेटे की गलती पर पिता चाँटा जड़ देता है क्योंकि भावों में अनुरक्ति है। जन्म पर खुशी और मृत्यु पर पीड़ा इसीलिए होती है कि उनमें अनुरक्ति है। पड़ौस में मृत्यु हो जाए तो व्यक्ति सोचता है कि जल्दी से चाय-नाश्ता कर लूँ क्योंकि श्मशानयात्रा में जाना है। यदि घर में मृत्यु हो जाए तो चाय नहीं भाती, अन्तर में पीड़ा होती है, दुःख होता है। मृत्यु तो दोनों ही जगह समान है, जगह में मात्र पाँच-दस गज का अन्तर है, पर पड़ौस के साथ व्यक्ति के रागात्मक सम्बन्ध नहीं जुड़े हुए हैं, इसलिए वह मृत्यु उसे दुःख नहीं देती, जबकि परिवार में अनुरक्ति होने पर किसी की भी मृत्यु हमारे शोक का कारण बन जाती है।

नानक कहते हैं : 'नानक दुखिया सब संसार।' सारा संसार दुःखमय है। दुःखी होना जीवन का अनिवार्य पहलू है, पर दुःख व शोक से मुक्त होने का मार्ग

है- भाव-विरक्ति। जो भाव से विरक्त है, वह वीतशोक है। भावों में ही संसार है और भावों में ही संन्यास। भावनात्मक समभाव ही राग है; भावनात्मक वैमनस्य ही द्वेष है। जो हर भाव से उपरत है, वह साक्षी है। मुक्ति का यही एक मात्र सनातन मार्ग है – साक्षीभाव साधक की साधना का मूल है। यह साक्षीभाव मोक्ष का मेरुदंड है। साक्षीभाव अध्यात्म का आधार-स्तंभ है। वह उसका प्रथम और अंतिम साधन है। साक्षी शोक नहीं करता। साक्षी निर्लिप्त होता है, निरपेक्ष होता है। अपेक्षा और लिप्तता ही हमें औरों से बाँधती हैं। यदि अपेक्षा उपेक्षित हो जाए तो उत्तेजना और आक्रोश हम पर हावी हो जाते हैं। महान् लोग दूसरों से अपेक्षा नहीं रखते। वे अपनी अपेक्षा अपने आपसे ही रखते हैं।

साक्षी सहज रहता है, हर हाल में मस्त। मेरा एक अकेला संदेश है 'मस्त रहो, हर हाल में मस्त।' कोई मरे तो भी मस्त रहो; कोई जन्मे तब भी मस्त रहो। लाभ में भी मस्त रहो और हानि में भी मस्त रहो। अभिनन्दन हो तो भी मस्त रहो; आलोचना हो तब भी मस्ती को खंडित मत होने दो। हर हाल में मस्ती – साक्षित्व को साधने का पहला गुरुमंत्र है।

तुम परिवार में रहो, पर साक्षी बनकर। व्यवसाय में प्रवृत्ति हो, पर साक्षित्व का बोध बरकरार रहे। ट्रेन-बस में सफर हो, तब भी साक्षित्व को साथ लेकर। सब्जी सुधारो, फल सुधारो, पर साक्षित्व की दशा हर पल, हर जगह, हर कार्य में साथ रहे। भाव-विरक्ति का मतलब साक्षित्व है। साक्षित्व का अर्थ भाव-विरक्ति है। साक्षी हर परिस्थिति को नियति का एक संयोग भर मानता है। उसे हर स्थिति होनी और होनहार नजर आती है। वह घमंड भी नहीं करता और खेद भी नहीं। वह हर हाल में सहज रहता है, शान्त रहता है, सौम्य रहता है।

आसक्त व्यक्ति साक्षी के बिलकुल विपरीत है। उसे लगता है कि हर परिस्थिति मेरे कारण है। सब कुछ मेरे किये ही हो रहा है। मैं और मेरे का भाव आसक्ति का परिणाम है। ऐसा व्यक्ति बीबी-बच्चे, जमीन-जायदाद के प्रति ही मेरे-मेरे का भाव नहीं रखेगा अपितु उसके घर के बाहर हवा से उड़कर आई धूल को भी कहेगा- 'मेरी धूल।'

ऐसा हुआ। एक व्यक्ति बस अड्डे पहुँचा। उसे कहीं जाना था। बस रवाना होने में देर थी अतः उसने आगे की सीट पर रूमाल बिछाया और खुद नीचे उतर गया। पन्द्रह मिनट बाद बस रवाना होने लगी। व्यक्ति दौड़ आया और बस में

सवार हो गया। आश्चर्य उसे तब हुआ जब उसने उस कुर्सी पर दूसरे आदमी को बैठे देखा, जिस पर उसने रूमाल बिछाया था। उसने पूछा, 'भाई साहब! यहाँ तो मैं रूमाल बिछाकर गया था। फिर आप कैसे बैठे?' कुर्सी पर बैठे व्यक्ति ने उसे उसका रूमाल देते हुए कहा कि रूमाल बिछाने से जगह किसी की थोड़ी हो जाती है। कल को आप ताजमहल पर रूमाल बिछाकर कहेंगे, ताजमहल मेरा हो गया।

ममत्व का आरोपण... ! ताश खेलो तो ताश के पत्ते के चिड़िया-बादशाह भी तुम्हें अपने लगे लेंगे। शतरंज या चैश खेलो तो तुम्हें उसकी गोटियों में हाथी-घोड़े लड़ते-लड़ाते, मरते-मारते नजर आएँगे। मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि संसार के सारे खेल ताश के पत्तों की तरह ही हैं। घड़ी में हम ताश के पत्ते फैलाते हैं और घड़ी में ही उन्हें समेट लेते हैं।

कोहीनूर हीरे के लिए न जाने अब तक कितनी लड़ाइयाँ हुई हैं! कितनी सेनाएँ मरी-मिटी हैं। इसने उससे छीना, उसने इससे छीना। इस छीनाझपटी में अनगिनत लोगों की जानें गई हैं। नासमझ लोग नाशवान् चीजों के लिए भी लड़ते हैं। समझदार नश्वर को नश्वर समझकर उससे निरपेक्ष रहता है।

जीवन में व्यर्थ के तनावों से, चिन्ताओं से, वैर-विरोध और वैमनस्य से बचने के लिए एक अकेला सर्वकल्याणकारी दृष्टिकोण है— 'भावे विसोगो, मणुओ विसोगो।' जो भाव से विरक्त है, निरपेक्ष है, वह शोकमुक्त हो जाता है। ठीक वैसे ही जैसे कमलिन के पत्ते जल से, दलदल से मुक्त हो जाते हैं।

यही है मार्ग मुक्ति का, आध्यात्मिक शांति और संबोधि का। हमारे कदम, हमारी नजर राग से विराग की ओर ही नहीं बल्कि वीतराग, वीतशोक होने की ओर हो। ऐसा नहीं कि प्रार्थना हो योग की और भावना हो भोग की ! भावना और प्रार्थना, कार्य और कामना – दोनों में सन्तुलन हो, दोनों अध्यात्म की लय लिये हों। मन और मन की अभिव्यक्ति दोनो में एकरूपता, दोनों में मुक्ति की तरंग हो।

□□□

# हम ही हों हमारे मित्र

मेरे प्रिय आत्मन् !

मनुष्य का सत्य सर्वोपरि है। मनुष्य को दरकिनार करके सत्य के स्वरूप को स्थापित और प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। मनुष्य की इतनी श्रेष्ठता और गरिमा है कि वह स्वयं ही एक मंदिर है। मंदिर माटी का हो सकता है, पर उसमें निवास करने वाला देवता माटी का नहीं हो सकता। काया माटी की हो सकती है, पर उसमें निवास करने वाली चेतना माटी की नहीं हो सकती। हमारी जिंदगी भी रोशन चिराग की तरह है। जिस तरह दीप की ज्योति माटी के दीये में प्रज्वलित होती है, उसी तरह इस माटी की काया में चेतना की ज्योति प्रकाशित होती है।

जिसकी दृष्टि माटी के दीपक पर केन्द्रित है, वह माटी है और जिसकी दृष्टि ज्योति पर केन्द्रित है, उसने न केवल ज्योतिर्मयता हासिल कर ली, वरन् वह स्वयं ज्योतिर्मय हो गया। जिसने अपनी दृष्टि मृण्मय पर केन्द्रित की, वह स्वयं मृण्मय हो गया और जिसने अपनी दृष्टि चेतना के प्रकाश पर केन्द्रित की, वह स्वयं चिन्मय हो गया।

भगवान महावीर उस देवता को मूल्य देना चाहते हैं जो किसी वैकुण्ठ में नहीं, बल्कि हमारे अंतरघट में निवास करता है। किसी स्वर्ग या वैकुण्ठ में रहने वाले देवता की तुम हजारों वर्ष प्रार्थनाएँ या इबादत कर लो तब भी शायद ही उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर पाओ, पर जब भी व्यक्ति अपने भीतर में उतरकर, अन्तर-हृदय

में विराजित देवता से मुखातिब होगा , वह अवश्य ही उस प्रभु के साथ प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर पाएगा। मंदिर के देवता को तो शायद तुम प्रकाश में भी न पहचान पाओ, पर उस देवता को जो तुम्हारे अन्तरघट में विराजित है, तुम अंधेरे में भी पहचान सकते हो।

आदमी अपने भीतर के देवता को मूल्य नहीं दे पाता, वह अन्य किसी देवता को मूल्य देता है। भीतर के देवता द्वारा बाह्य जगत के साथ संबंध एवं तादात्म्य स्थापित करने को ही भगवान ने बहिरात्मा की स्थिति कहा है। जब भीतर का देवता या चेतना, बाह्य जगत से अपने संबंध-विच्छेद कर स्वयं में ही स्थित और प्रतिष्ठित हो जाती है तो यह व्यक्ति की अंतर्यात्रा या अंतरात्मा की स्थिति है। जब अंतरात्मा एवं बहिरात्मा का द्वैत्व समाप्त हो जाता है, बाहर, बाहर नहीं रहता, भीतर, भीतर नहीं रहता, तब सब द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। उस स्थिति में जो फूल खिलता है, उसका नाम ही परमात्मा है।

मनुष्य के अंतरघट में विराजित उस देवता के ही तीन नाम हैं। बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। 'अंतरात्मा' हो चाहे 'बहिरात्मा' या 'परमात्मा' तीनों ही अवस्था में आत्म-तत्त्व तो विद्यमान ही है।

महावीर के लिए जितना मूल्य मनुष्य का है, उतना ही महत्त्व उसके अंतरघट में विराजित देवता का है। महावीर के दर्शन से यदि आत्म-तत्त्व को अलग कर दिया जाए तो वह अपना अर्थ ही खो देगा। इसी तरह यदि व्यक्ति के जीवन से आत्म-तत्त्व को विलग कर दिया जाए तो शिव रूप वह व्यक्ति मात्र शव भर रह जाएगा। वही तत्त्व तो आत्म-तत्त्व है जिसके संयोग से व्यक्ति चलता है, बोलता है, सुनता है, पढ़ता है, लिखता है। व्यक्ति कहीं भी चला जाए, कुछ भी कर ले, पर वह उस आत्म-तत्त्व से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं हो सकता।

अगर कोई व्यक्ति आत्मा को इस दुनिया में प्रत्यक्ष साबित करना चाहे तो मैं उसे एक सुझाव दूँगा कि वह दो गुलदस्ते ले, जहाँ एक गुलदस्ते में रखे गये फूल कृत्रिम भले ही हों किन्तु अपने रंग-रूप, खुशबू, आकार और सुंदरता में बिल्कुल असली फूलों की तरह हों। वहीं दूसरे गुलदस्ते में प्राकृतिक फूल हों। दोनों ही गुलदस्तों के फूल देखने में हमें समान लग सकते हैं, पर पहले गुलदस्ते में फूलों का हास या विकास नहीं होगा, जबकि दूसरे गुलदस्ते में फूल सजीव हैं, उनमें प्राण हैं, इसलिए वे खिलेंगे तो मुरझाएँगे भी।

किसी शव में और तुम्हारे में जो अन्तर है, उसका एकमात्र कारण आत्म-तत्त्व है। जो मर गया है, उसका शरीर भी वैसा ही है जैसा पहले था। हाथ-पाँव, आँख-नाक, हृदय-फेफड़े सब दिखने में ठीक हैं, पर क्या कारण है जो शरीर के इन सभी अवयवों ने अपनी गतिविधियाँ बंद कर दी हैं? इसका कारण यह है कि उसके शरीर में वह तत्त्व नहीं रहा जो शरीर को या उसके सभी अवयवों को ऊर्जा देता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने 'आत्मसिद्धि' में गुणगुनाया है -- 'आत्मानि शंका करे आत्मा पोते आप' अर्थात् आत्मा स्वयं ही अपने अस्तित्व की शंका करती है। वह खुद को खोजना चाहती है, कल्याण करना चाहती है। कितना बड़ा आश्चर्य !

व्यक्ति बंधन में है क्योंकि उसे अभी तक समझ नहीं मिली है। वह मुक्त नहीं हो पाया क्योंकि वह अपनी ही भ्रांतियों की जंजीरों में जकड़ा है। व्यक्ति अब तक अपनी मंजिल नहीं पा सका क्योंकि उसने मूर्च्छा के लंगर नहीं खोले। व्यक्ति दो पल के लिए भी एकांत में बैठकर, अपनी पलकों को झुकाकर भीतर निहारे तो वह पाएगा कि उसके भीतर विचारों की उथल-पुथल मची है। आखिर इन विचारों का जन्मदाता कौन है ? तब उसे लगेगा कि मन या मस्तिष्क ही इन विचारों को पैदा कर रहा है; पर मन या मस्तिष्क को कौन संचालित कर रहा है, कौन उसे ऊर्जा दे रहा है ? वह आत्मा ही तो है। हमारी हर वेदना या संवेदना का हमें आभास देने वाला, हमारी हर क्रिया को संचालित करने वाला, वह हमारे भीतर बैठा देवता ही तो है।

धरती पर दो तरह के देवता माने जाते हैं। एक तो वह जो यहाँ से दूर किसी आसमान में बैठा सृष्टि को संचालित करता है। दूसरा वह जो हम सब के भीतर विराजमान है और हम सबका स्वतंत्र संचालन करता है। हर अस्तित्व के साथ राम जुड़ा है, हर अस्मिता के पीछे कृष्ण हैं और हर चेतना का प्रतिनिधित्व महावीर करते हैं। व्यक्ति स्वयं ही अपना राम है, स्वयं ही स्वयं का कृष्ण और महावीर है। राम, कृष्ण और महावीर कहीं दूर या कोई दूसरे नहीं हैं।

जब भी व्यक्ति के समक्ष ऐसे निमित्त आते हैं जो उसके भीतर सोए हुए महावीर से उसे मुखातिब करा दें तो वह महावीर को किसी मंदिर में नहीं खोजेगा। जब तक व्यक्ति की चेतना दुबकी हुई है, तभी तक व्यक्ति महावीर, कृष्ण, राम, जीसस और नानक को किसी मंदिर, चर्च और गुरुद्वारे में ढूँढता रहेगा। जरा ईमानदारी से तुम दो पल के लिए पलकें झुकाकर अंदर देखो कि मैं कौन हूँ ? मेरा

मूल स्रोत क्या है ? मैं, माँ की कोख में आने से पूर्व क्या था ? मरने के बाद जब यह पंचभूत की काया जल जाएगी, तब मैं कहाँ रहूँगा ? क्या मेरी हथेली में भाग्यरेखा ही है या अन्य कोई सत्य भी है ? जब व्यक्ति ईमानदारी से इन तथ्यों का चिन्तन करेगा तो वह अवश्य ही अपने भीतर रहने वाले आत्म-देवता को पहचान लेगा। आत्म-चिंतन ही आत्मा के अस्तित्व तक पहुँचने का पहला सोपान है।

व्यक्ति अब तक यह नहीं समझ पा रहा है कि उसका देवता वह स्वयं है। वह जो-जो भी पाप-पुण्य करता है, वह उसके भीतर बैठे देवता से छिप नहीं सकता। वह अन्य किसी को धोखा दे सकता है, पर स्वयं को धोखा नहीं दिया जा सकता। आज तक व्यक्ति की यह धारणा बनी हुई है कि उसके पाप-पुण्य का हिसाब आसमान में बैठे हुए किसी भगवान द्वारा रखा जाता है। इसीलिए जब वह पाप करता है तो सोचता है कि जब ऊपर जाएँगे तब निपट लेंगे क्योंकि यहाँ तो कोई देखने वाला नहीं है। पर भगवान कहते हैं कि तुम्हारे स्वयं में विराजित देवता से तो तुम्हारा कोई भी कृत्य छिपा नहीं है।

एक बार महर्षि नारद आकाश में विचर रहे थे। वे एक आश्रम के पास रुक गये। उनके पीछे जो अन्य देवगण चल रहे थे, वे भी रुक गए। उन्होंने नारद जी से पूछा, 'महर्षि ! किस कारण से आप यहाँ रुक गए ?' नारद बोले, 'देखो, इस आश्रम में जो दो व्यक्ति सो रहे हैं, उनमें से एक व्यक्ति भविष्य में बहुत बड़ा तत्त्ववेत्ता, ब्रह्मज्ञानी व आत्मद्रष्टा होगा।' नारद के साथ देवगणों ने उनको अपने प्रणाम समर्पित किए और आगे बढ़ गए।

उस आश्रम में बैठे गुरु ने नारद की सारी बातें सुन ली थीं, पर वे यह नहीं समझ पाए कि नारद ने उनके किस शिष्य के संबंध में यह संकेत दिया है। गुरु ने सोचा कि इस बात की कसौटी कसनी चाहिए कि कौन-सा शिष्य योग्य है ? गुरु ने दोनों ही शिष्यों को बुलाकर उन्हें एक-एक कबूतर दिया और आदेश दिया कि वे कबूतर की गर्दन ऐसी जगह जाकर मरोड़ दें, जहाँ उन्हें ऐसा करते हुए कोई देख न सके।

दूसरा शिष्य भी आश्रम से बहुत दूर जंगल में चला गया और एक पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। उसने देखा कि दूर-दूर तक कोई व्यक्ति नजर नहीं आ रहा है। जैसे ही उसने कबूतर की गर्दन पकड़ी, तभी उसे ऐसा लगा कि अरे ! यहाँ तो यह पेड़, इसके पत्ते और इस पर बैठे पक्षी मुझे कबूतर की गर्दन को मरोड़ते हुए देख रहे

हैं। गुरुदेव ने तो मुझे आदेश दिया था कि ऐसी जगह कबूतर की गर्दन मरोड़ी जाए, जहाँ कोई देख न सके। यह उपयुक्त स्थान नहीं है। ऐसा सोचकर वह किसी दूसरे स्थान की तलाश में आगे बढ़ा। वह एक खेल के मैदान में पहुँच गया जहाँ कोई पेड़ भी नहीं था। जैसे ही उसने कबूतर की गर्दन पकड़ी, उसे लगा कि यहाँ तो आसमान में उगा सूरज मुझे देख रहा है। तब वह सूर्यास्त का इंतजार करने लगा।

रात हुई तो चाँद और तारे, आसमान में खिल गए। वह परेशान होकर ऐसी जगह की तलाश करने लगा जहाँ आकाश ही नहीं दीखे।

अन्ततः वह एक ऐसी काली, भयानक गुफा में प्रवेश कर गया जहाँ प्रकाश की किसी किरण का नाम तक नहीं था। उसने गुफा में चारों तरफ देखा। वहाँ कोई भी नहीं था। जैसे ही उसने कबूतर की गर्दन पकड़ी, तभी उसे लगा कि अरे! यहाँ भी तो दो प्राणी देखने वाले हैं। एक तो स्वयं कबूतर अपनी गर्दन मरोड़ते हुए मुझे देखेगा और दूसरा मैं, स्वयं कबूतर की गर्दन मरोड़ते हुए देखूँगा। उसे लगा कि इस जगत में ऐसा कोई स्थान है ही नहीं, जहाँ कोई देखने वाला न हो। अतः वह कबूतर को साथ लेकर आश्रम की तरफ चल पड़ा।

दोनों ही शिष्य आश्रम में पहुँचे। पहले शिष्य ने खुशी से कहा, 'गुरुवर ! मैंने आपके आदेश का पालन कर दिया है।' दूसरा शिष्य सिर झुकाकर बोला, 'गुरुदेव ! मैं क्षमा चाहता हूँ। मैं आपके आदेश को क्रियान्वित नहीं कर सका ! मुझे सृष्टि में ऐसा कोई स्थान नहीं मिला जहाँ स्वयं से छिपाकर कोई कार्य किया जा सके।'

गुरुदेव अपने दूसरे शिष्य की बात सुनकर हर्षविभोर हो उठे। उन्होंने उसे प्रणाम समर्पित कर गले से लगा लिया। वे समझ गए थे कि यही वह बीज है जो आगे चलकर एक वटवृक्ष बनकर संसार के दुःखों से पीड़ित पथिकों को आश्रय और छाया देगा।

जिस दिन व्यक्ति को यह समझ आ जाय कि हर अंधेरे में स्वयं के कृत्य को वह स्वयं देखने वाला है, उसकी चेतना या उसके भीतर बैठा देवता सब कुछ देख रहा है तो वह पुण्य की पारमिताओं को छू जाएगा। उसका चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, हँसना-रोना सब कुछ पुण्यपथ का ही अनुगमन होगा। उसके पाप स्वयं ही दूर हो जाएँगे। भगवान महावीर आज के अपने सूत्रों में कह रहे हैं—

*अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।*

*अप्या मित्तममित्तं च, दुप्पट्टिय सुप्पट्टिओ ॥*

‘आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता है। सद्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।’

भगवान इस मार्मिक सत्य को उद्घाटित कर रहे हैं कि व्यक्ति स्वयं ही अपनी स्थिति के लिए जवाबदेह है। व्यक्ति के जीवन का समस्त दायित्व यहाँ उसके साथ जोड़ा जा रहा है। भगवान कहते हैं कि यदि दुःख की वैतरणी में तुम डूब रहे हो तो उसका कारण भी तुम स्वयं हो और यदि तुम स्वर्ग सरीखे सुखों के साम्राज्य को भोग रहे हो तो उसके प्रबंधक भी तुम स्वयं हो, कोई और नहीं।

भगवान कहते हैं कि आत्मा ही वैतरणी है, आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है, आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नंदन वन है। आत्मा अर्थात् हम स्वयं। हम आत्मा को कोई बहुत बड़ा हौआ या बहुत दूर की चीज समझ लेते हैं। आत्मा का अर्थ है – मैं; आत्मा का अर्थ है – तुम। आत्मा यानी ‘अस्तित्व’; आत्मा यानी ‘मनुष्य’। भगवान जीवन के इस विज्ञान को प्रकट कर रहे हैं कि आत्मा यानी मनुष्य स्वयं ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है।

व्यक्ति यदि आज दुःख के काँटों की चुभन महसूस कर रहा है तो उसका कारण यह है कि उसने अतीत में केकूटस लगाया था और यदि उसे सुख की सुन्दर फुलवारी मिल रही है तो उसके बीज भी उसने स्वयं ही बोए हैं।

जीवन के इस सत्य को न समझने के कारण व्यक्ति दूसरे पर आरोप लगाता है कि उसने मुझे दुःख दिया या यह मेरे सुख का कारण है। वे सब तो संयोग या निमित्त मात्र हैं। हम जिस सुख या दुःख का अनुभव कर रहे हैं, उसका कारण हमारी स्वयं की अतीत या वर्तमान में रही वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ हैं। पति सोचता है कि मुझे पत्नी से सुख मिल रहा है, माँ-बाप समझते हैं कि बेटा उनके सुख का कारण है। पर नहीं, ये निमित्त अवश्य बन सकते हैं, पर मुख्य कारण तो तुम्हारा पुण्य है।

यदि पुण्य होगा तो बिना पत्नी या पुत्र के भी तुम सुखमय जीवन जी लोगे और यदि पुण्य नहीं है तो दस-दस बेटे भी तुम्हारे जी का जंजाल बनेंगे। वे तुम्हारी सेवा नहीं करेंगे। व्यक्ति सोचता है कि बुढ़ापे में मेरी सेवा कौन करेगा, इसलिए बेटा होना चाहिए। अरे! तुम अभी से बुढ़ापे को क्यों आमंत्रण दे रहे हो, जब कि वह आया ही नहीं है। जो व्यक्ति जवान है, और कल भी स्वयं को जवान देख रहा है तो वह परसों भले ही शरीर से बूढ़ा हो जाए, पर वह स्वयं में उसी प्रकार

आनंदित रहेगा जैसे वह अपने बीते हुए कल में था। तुम जैसा आज इंतजाम करोगे, कल वैसा ही मिलेगा। तुम आज घर में मेहंदी या खिजाब रखते हो, क्योंकि तुम्हें डर है कि कल तुम्हारे बाल सफेद हो जाएँगे तो निश्चित रूप से तुम्हारे काले बाल सफेद हो कर ही रहेंगे।

व्यक्ति के जैसे विचार होते हैं, वैसे ही उसका जीवन रूपांतरित होने लगता है। लोग मेरे पास हाथ दिखाने आते हैं और पूछते हैं कि हमारे हाथ में क्या लिखा है ? मैं कहता हूँ कि तुम हाथ को बाद में देखना-दिखाना, पहले यह देखो कि तुम्हारे दिमाग में क्या है ? व्यक्ति के विचारों में जैसा होता है, वैसा ही उसकी रेखाओं में परिवर्तन होता है। यदि तुम निराश हो, तुम्हारे विचारों में अनुत्साह है, घुटन है और तनाव है तो निश्चित रूप से तुम्हारे हाथ की रेखाएँ भी तुम्हारे साथ नहीं चलेंगी और यदि तुम्हारे हाथ की रेखाएँ भले ही दस जगह से कटी हों पर तुम्हारे विचारों में यदि आशा व उत्साह है और तुम जीवन के प्रति उदात्त और हृदयवान हो तो तुम्हारे विचार रचनात्मक और गुणात्मक ही होंगे। उस स्थिति में तुम्हारी कटी-फटी रेखाएँ भी सुगढ़ रेखाओं में बदल जाएँगी।

व्यक्ति यह सोचता है कि हाथ की रेखाएँ नहीं बदल सकतीं, पर मैं कहता हूँ कि निश्चित रूप से वे व्यक्ति के विचारों के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। तुम अपने विचार बदल लो, तुम्हारी हस्तरेखाएँ, स्वयं ही बदल जाएँगी। हमारे अपने विचार ही हमें सुख-दुःख देते हैं।

तुम्हें लगता है कि पत्नी से तुम्हें सुख मिल रहा है और दाम्पत्य-जीवन ही तुम्हारे सुख का आधार है। पर नहीं, सुख वहाँ नहीं बल्कि तुम्हारे विचारों में छिपा है। सुख के बीज व्यक्ति की मानसिकता में होते हैं। तुम्हें सुख इस लिए लगता है, क्योंकि तुम्हारे विचारों में पल रही उत्तेजनाएँ, संवेदनाएँ उस निमित्त से शांत होती हैं अतः तुमने ऐसा मान लिया है।

यदि तुम्हारे भीतर सुखानुभूति है तो बाहर के हजार-हजार निमित्त भी तुमसे तुम्हारे मन की सुख-शांति को नहीं छीन सकते और यदि तुम्हारे विचारों में ही दुःखों का लावा धधक रहा है तो बाहर के हजारों सुख पहुँचाने वाले निमित्त भी तुम्हें सुख नहीं दे सकते। एक व्यक्ति जो निराशा, अवसाद, भय, धिंता और घुटन में जीता है, उसने भले ही हाथ में हीरे की अँगूठी पहन रखी हो, बैंक में करोड़ों का बलेन्स हो, सब तरह की बाह्य सुविधाएँ हों, तो भी वह सुखानुभूति

नहीं कर पाएगा। दूसरी तरफ वह व्यक्ति जो साधारण है और मात्र चार हजार रुपये माहवार कमाता है, जब खाना खाने बैठता है तो भगवान का शुक्रिया अदा करता है कि प्रभु! तेरा धन्यवाद कि तुमने मुझे आज का दिन दिखाया और आज का भोजन प्रदान किया। वह व्यक्ति जिस सुख का अनुभव करेगा, उसके आगे लाखों का धन भी अर्थहीन है। व्यक्ति को सुख या दुःख उसके विचार और विचारों में समाई हुई आसक्तियाँ ही देती हैं।

भगवान महावीर ने अपने सूत्र में बहुत गहरी बात कही है। हम बाह्य निमित्तों को अपने शत्रु या मित्र मान लेते हैं जब कि ये सब तो संयोग मात्र हैं। जो आज हमें शत्रु लगता है, वह हो सकता है कि किसी अन्य भव में हमारा सबसे प्रिय मित्र रहा हो। जो आज मित्र लगता है, वह किसी जन्म का हमारा कष्ट शत्रु हो, यह भी संभव है। यह सब तो नदी-नाव का संयोग भर है। कोई व्यक्ति मित्र तब तक ही रहता है, जब तक उसकी तुमसे स्वार्थ-सिद्धि होती है। तुम चाय पिलाओगे तो बदले में तुम्हें भी समोसे खाने को मिल जाएँगे और यदि तुमने चाय बंद कर दी तो समोसे मिलने भी बंद हो जाएँगे।

भगवान कहते हैं कि 'तुम स्वयं ही अपने मित्र और शत्रु हो।' हम जब क्रोध करते हैं तो हम कितने दुःखी हो जाते हैं, खुद को हानि पहुँचाते हैं, सामने वाले का कलेजा जलाते हैं और ऊर्जा का अपव्यय करते हैं। ऐसी स्थिति में हम हमारे शत्रु ही तो होते हैं। शत्रु का कार्य होता है सामने वाले को नुकसान पहुँचाना। क्रोध करके हम स्वयं को दुखी करते हैं, स्वयं को हानि पहुँचाते हैं और स्वयं के स्वयं ही शत्रु बन जाते हैं। जो आदमी नेक रास्ते पर चलते हैं, दया, प्रेम, क्षमा, समता, नम्रता, अवैर और मैत्री की राहों का दामन धामते हैं, वे स्वयं के मित्र होते हैं।

क्या आप चाहते हैं कि आपके सौ-सौ शत्रु हों? स्वाभाविक है कि हर व्यक्ति चाहेगा कि उसके शत्रु कम हों, मित्र अधिक हों। पर बाहरी मित्रों से बात न बन पाएगी क्योंकि ये सब तो तब तक ही अपने हैं जब तक उनका स्वार्थ सधता चले। इसीलिए भगवान कहते हैं कि तुम गुणों के विकास के द्वारा अपने मित्र बनाओ। अभी तुम आधे घंटे के लिए क्रोध करके देखो, तुम्हें लगेगा कि तुम्हारे भीतर अग्नि जल रही है। वह आग तुम्हें भी जलाने लगेगी। तुम्हारी ऊर्जा का अपव्यय होने लगेगा और तुम स्वयं अपने शत्रु ही बन बैठोगे। यदि तुम पन्द्रह मिनट के लिए जरा प्यार से मुस्कराओ, अपनी आँखों में प्यार के सागर को

उमड़ने दो, हर किसी के प्रति दया, करुणा और सौहार्द से भर जाओ तो वे चंद पल तुम्हें और तुम्हारे संसर्ग में आने वाले हर व्यक्ति को इस कदर पुलकित कर देंगे जैसे एक नन्हा बालक, माँ के आँचल में दुबककर आह्लादित होता है।

जब-जब व्यक्ति काम, क्रोध, वैर, विषय-वासना, विरोध, घृणा, हिंसा, वैमनस्य से स्वयं को भरता रहता है तब तक वह उन क्षणों में स्वयं का स्वयं ही शत्रु बन जाता है।

एक पुरानी कहानी है कि एक बार एक राजा शिकार करने गया। शिकार करते-करते वह थक गया और एक पेड़ की छाँव में आकर सुस्ताने लगा। वह जैसे ही आँख बंदकर सोने का प्रयास करने लगा, तभी एक मक्खी उस पर भिनभिनाने लगी। मक्खी की भिनभिनाहट से राजा बहुत परेशान हो उठा। वह उसे आँखों पर से भगाता तो वह कान पर जाकर बैठ जाती, कान से भगाता तो अन्यत्र कहीं बैठ जाती। हो सकता है मक्खी राजा को दुलार से लोरी सुना रही हो, पर राजा के लिए तो वह दुश्मन से कम न थी। इसलिए सावधान ! किसी व्यक्ति के पीछे यह सोचकर मत पड़ जाना कि तुम उसे खुशी दे रहे हो, जबकि वह सोचता हो कि इससे मेरा जल्दी पीछा छूटे।

राजा ने बहुत हैरान-परेशान होकर अपनी तलवार निकाल ही ली और सोचने लगा कि अब की बार मक्खी जैसे ही बैठेगी, उसे काट ही डालूँगा। मक्खी फिर उड़ी और जाकर राजा की नाक पर बैठ गई। अब तो राजा का क्रोध सातवें आसमान पर जा पहुँचा। व्यक्ति नाक को तो अपनी इज्जत मानता है। उसने क्रोध में आकर अपनी तलवार, नाक पर बैठी हुई मक्खी पर चला ही दी। मक्खी तो उड़ गई और राजा की नाक कट गई।

हम भी तो काम-क्रोध, कषाय और विकारों में न जाने कितनी ही बार अपनी नाक काट चुके हैं, स्वयं को हानि पहुँचा चुके हैं। तुम अपने शत्रु तो मत बनो। किसी और के शत्रु बनोगे तो शायद कालक्रम में मित्र भी बन जाओगे। यह शत्रुता शायद क्षम्य भी हो। आओ, हम एक ऐसा वातावरण तैयार करें जहाँ हम स्वयं के मित्र हों, हम अपनी आत्मा को सद्प्रवृत्तियों में स्थित करें और दुष्प्रवृत्तियों की ओर गतिमान होकर स्वयं के शत्रु न बनें। यह फैसला हमारे ही हाथ में है कि हम स्वयं के शत्रु बनें या मित्र।

क्या तुम यह सोचना पसंद करोगे कि तुम अपने मित्र बनना चाहोगे या शत्रु ! भला जब तुम किसी को भी अपना शत्रु बनाना पसंद नहीं करते तो फिर अपने आप से शत्रुता क्यों कर रहे हो? स्वयं के साथ मैत्री हो। तुम आत्ममित्र बनो। अपनी आत्मा को अच्छी और नेक प्रवृत्तियों की ओर लगाओ। यह आत्ममैत्री का पथ है। आप विरोधाभास वाली जिंदगी न जिएँ। मैं कोरे आदर्शवाद की बात न करूँगा। मैं आदर्श में विश्वास रखता हूँ, पर यथार्थ से न अपने को अलग करना चाहता हूँ, न आपको। मैं मैत्री में विश्वास रखता हूँ। सबके साथ मैत्री और अपने साथ भी मैत्री – यही मैत्री को पूर्णता से जीना हुआ।

औरों से मैत्री रखो और स्वयं के शत्रु बन बैठो, यह कौन-सा उसूल हुआ? स्वयं से मैत्री का अर्थ है तनाव-मुक्त जिओ, प्रेम से जिओ, प्रसन्नता से जिओ। हम व्यर्थ का झूठ-सांच करने से बचें। औरों के काम आएँ, स्वार्थ से बचें।

इसी सन्दर्भ में अगला सूत्र है –

*एगप्या अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।*

*ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी॥*

‘अविजित एक अपना आत्मा ही शत्रु है। अविजित कषाय और इंद्रियाँ ही शत्रु हैं। हे मुने ! मैं उन्हें जीतकर यथान्याय विचरण करता हूँ।’

भगवान अपनी ओर से यह उद्घोषणा कर रहे हैं कि ‘मैं’ यथान्याय विचरण करता हूँ यानी जहाँ जैसा उचित है, वहाँ वैसा आचरण करता हूँ। मैं विचरण करता हूँ, उनको जीतकर जिनसे तुम हारे हुए हो। कौन है मनुष्य के शत्रु ? काम, क्रोध, विकार और देह के धर्म ही मनुष्य के प्रबलतम शत्रु हैं। बाहर के शत्रु जितना नुकसान नहीं पहुँचाते, उससे अधिक व्यक्ति को नुकसान अविजित कषाय और इंद्रियों के विकार पहुँचा रहे हैं।

आदमी अपने शत्रुओं से जकड़ा हुआ है। वह अपने मित्रों से नहीं बंधा रहता, किन्तु वह अपने शत्रुओं से जकड़ा रहता है। शायद ही कोई व्यक्ति मित्रविहीन हो, शत्रुविहीन मिलना तो मुश्किल है। तुम जितना अपने मित्र के बारे में सोचते होंगे, उतना अपने शत्रु के बारे में भी सोचते होंगे। सपनों में भी शत्रु को ही देखते हो। सावधान ! गुलाबचन्द का शत्रु मिलापचन्द नहीं या मिलापचन्द का शत्रु कोई गुलाबचन्द नहीं। तुम ही तुम्हारे शत्रु हो, तुम्हारे विकार ही तुम्हारे शत्रु हैं।

व्यक्ति फँसा हुआ है, जैसे कोई मच्छर मकड़ी के जाले में फँस जाए। वह बहुत चाहता है कि निकल जाए, पर निकल नहीं पाता। जैसे कोई मछली आटा देखकर काँटे में फँस जाती है, मुँह बिंध जाता है, आटा छिटक जाता है। बहुत छटपटाती है कि काँटे से निकल जाए, पर निकल नहीं पाती। कषाय और इन्द्रियों के विषय ऐसे ही किसी मगरमच्छ की तरह, किसी मकड़ी के जाले या आटा लगे काँटे की तरह हमें अपनी आगोश में ले लेते हैं। तब हम उस मच्छर, मछली की तरह बहुत छटपटाते हैं कि निकल जाएँ, पर निकल नहीं पाते।

आप में से बहुत से लोग भी अफसोस करते हैं कि कहाँ संसार के कीचड़ में फँस गए और सौ-सौ बार सोचते हैं कि निकल जाऊँ इस संसार को छोड़कर, पर घर छोड़कर जाते हैं तो घर की याद सताती है और घर जाते हैं तो फिर लगता है कि जंजाल में फँस गए। इसी अन्तरद्वन्द्व में व्यक्ति की जिन्दगी चुक जाती है। आदमी कषायों में फँस चुका है, उलझ चुका है। ऐसे ही जैसे कोई कीड़ा कीचड़ या दलदल में फँस जाए, वह निकलता है तो फिर धँस जाता है। ऐसे ही जैसे किसी व्यक्ति को तरल ऑक्सीजन में फँक दिया जाए, ऑक्सीजन उसे मरने नहीं देती और लिक्विड उसे जीने नहीं देती।

ऐसे ही व्यक्ति की स्थिति है, वह बँधा है, जकड़ा है। उसके हाथ में हथकड़ियाँ लगी हैं और पाँवों में बेड़ियाँ हैं। ये हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ व्यक्ति को अपनी मूर्च्छा, अज्ञान के चलते दिखती नहीं हैं, पर यदि व्यक्ति एकान्त में बैठकर चिन्तन करेगा, तो उसे लगेगा कि क्रोध, काम, राग, द्वेष आदि कषायों ने उसे जकड़ तो रखा है। व्यक्ति बहुत प्रयत्न करता है निकल जाने का, पर मुक्त नहीं हो पाता। वह जब क्रोध करता है, काम जगाता है, राग-द्वेष या अन्य किसी विकार से ग्रसित होता है, तो सोचता है कि ठीक है आज मुझसे यह गलती हो गयी, पर आगे नहीं करूँगा, लेकिन समय आने पर वे ही भूलें फिर-फिर हो जाती हैं।

हर गलती या भूल का अन्तिम परिणाम प्रायश्चित ही होता है। व्यक्ति सिगरेट पीता है और संकल्प करता है कि यह हानिकारक है, अब आगे से नहीं पीऊँगा; लेकिन फिर तलब जगती है और संकल्प धरे रह जाते हैं। खुजली का रोगी बहुत सोचता है कि अब नहीं खुजलाऊँगा, लेकिन जब खुजली बढ़ जाती है तो वह अपने पर नियंत्रण नहीं रख पाता और खूब खुजलाता है। उसे लगता है कि बड़ा मजा आ रहा है, लेकिन खुजलाने के बाद जब पानी, मवाद और खून निकलता है

तो फिर संकल्प करता है कि अब भविष्य में कभी नहीं खुजलाऊँगा। इस तरह व्यक्ति की जिन्दगी इन कच्चे और कमजोर संकल्पों में खत्म हो जाती है।

मनुष्य जो स्वयं एक मंदिर है, वह मंदिर नहीं रह पाता। वह मात्र माटी का पुतला बन जाता है। माटी का दीया माटी में मिल जाता है। माटी का दीया माटी के दीयों से ही चिपके रहने के कारण स्वयं में प्रकाश की लौ का संचार नहीं कर पाता। इसीलिए भगवान ने कहा कि व्यक्ति अपने अविजित कषायों एवं इन्द्रिय-विषयों को जीते। अविजित आत्मा ही मनुष्य का प्रबलतम शत्रु है।

आपके बाह्य शत्रुओं को मित्र बनाने का राज तो मैं बता दूँगा, मगर आपके आंतरिक शत्रुओं काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आदि कषायों को जीतने के लिए तो आपको स्वयं ही पुरुषार्थ करना पड़ेगा।

इसे यों समझें। एक सज्जन थे मोतीभाई पटेल। दुनिया में समझदारी के लिए यदि किसी का नाम लिया जाता है तो वे हैं वल्लभभाई पटेल, पर दूसरी तरह के 'समझदारों' के लिए जिस व्यक्ति का नाम लेते हैं, वे हैं मोतीभाई पटेल। मोतीभाई पटेल का रोज का नियम था – नीम की दाँतुन लेकर घर के बाहर बैठकर दाँतों को साफ करना। मोतीभाई जब दाँतुन करने बाहर बैठता तो रोज एक गाय भी उसके पास आकर खड़ी हो जाती। मोतीभाई रोज उस गाय को देखता और सोचता कि कितनी सुन्दर और सुडौल गाय है। इसके सींग भी कितने सुनहरे और सुन्दर हैं। गाय के सींगों को देखकर मोती भाई के मन में आता कि कभी इन सींगों को मैं अपने माथे पर लगाकर देखूँ कि कैसा सौन्दर्य खिलता है, कैसा 'गेटअप' आता है? वह सोचता पर फिर डर जाता कि कहीं सींग उतारने और माथे में लगाने के चक्कर में कुछ गड़बड़ न हो जाए। फिर सोचता कि माथा ही सींगों में डाल लिया जाए।

इस प्रकार रोज वह गाय को देखता और फिर-फिर वही सोचता। उसे सोचते-सोचते कई महीने गुजर गए। एक दिन उसके मन में प्रबल इच्छा उठी। उसने सोचा कि आज तो कुछ भी हो जाए, वह अपना माथा उन सींगों में फँसाकर ही देखेगा कि कैसी सुन्दरता खिलती है? मोतीभाई ने अपना माथा गाय के दोनों सींगों के बीच डाल दिया।

माथा डालते ही गाय बिदक पड़ी और इधर-उधर भागने लगी। मोतीभाई सींगों में फँस चुका था, वैसे ही जैसे मनुष्य कषाय और इन्द्रिय-विषयों में फँस

जाता है। वह बहुत कोशिश करने लगा निकल जाने की, पर निकल नहीं पा रहा था। गाय डर के मारे भाग रही थी और मोतीभाई बार-बार घसीटा जा रहा था। आखिर गाँव के कुछ समझदार-सज्जन लोगों ने गाय को नियंत्रण में लिया और सींगों में फँसे मोतीभाई पटेल को बाहर निकालकर कहा, 'अरे बुद्धू ! किसी काम को करने से पहले थोड़ा सोच भी लिया कर ।

मोतीभाई बोला, 'और कितना सोचता ! छह-छह महीने सोचकर ही तो माथा भिड़ाया था।'

सावधान ! तुम भी कहीं अपना माथा, किसी से ऐसे मत भिड़ा बैठना जैसे पटेल का माथा सींगों के बीच में था; वरना तुम्हारा सिर सलामत नहीं रहेगा। भगवान कहते हैं कि 'अविजित कषाय और इन्द्रियाँ ही आत्मा के शत्रु हैं। उन्हें जीतकर मैं यथान्याय विचरण करता हूँ, इसलिए व्यक्ति अपने कषायों को, अपने इंद्रिय-विषयों को जीतकर अपना मंगल मित्र बने।

इसी संदर्भ में एक और सूत्र है -

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

जो संग्राम में हजारों-हजार योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो एक अपने को ही जीत लेता है, उसकी विजय ही परम विजय है।

भगवान के रक्त में क्षत्रियता का संचार था, इसलिए वे लड़ने और जूझने की बात करते हैं। वे बाहरी शत्रुओं से लड़ने के लिए नहीं कहते, क्योंकि लड़ाई तो अहंकार के लिए लड़ी जाती है, जो अन्ततः जीतने पर भी हार में बदल जाती है। महावीर कहते हैं : 'लड़ो, अपने आप से; अपने विकारों से, अपने कषायों से।' उन्होंने पृथ्वी-विजेता या लोक-विजेता बनने के लिए ऐसा नहीं कहा। वे तो कहते हैं : 'आत्म विजेता बनो, क्योंकि आत्मविजय ही परम है, श्रेष्ठ है। इस विजय के पश्चात् व्यक्ति के लिए कोई विजय शेष नहीं रहती।

महावीर जिस लड़ाई की बात करते हैं, उसके लिए कोई चाकू-तलवार नहीं चाहिए। उस लड़ाई के लिए जिस अस्त्र की जरूरत है वह है व्यक्ति का दृढ़ मनोबल, अन्तर-सजगता, आत्म-पुरुषार्थ । छोटी-मोटी लड़ाइयाँ तो बहुत हो गईं। किसी ने साइकिल से टक्कर मारी और तुमने उसे चाँटा रसीद कर दिया। बाहर लड़ाई करने वाला व्यक्ति तो महावीर की दृष्टि में बेवकूफी है। महावीर के

समस्त धर्म का, समस्त दर्शन का सार यही है कि व्यक्ति आत्म-विजेता बने। हजारों-हजार व्यक्तियों को जीतना आसान है, पर एक अपनी आत्मा को जीतना कठिन है।

सिकन्दर, नेपोलियन, स्टेलिन और हिटलर ने हजारों जीतें हासिल कीं। उन्होंने धरती के बहुत बड़े हिस्से को भी शायद जीत लिया होगा, लेकिन उनकी हर जीत फिर से एक नए युद्ध को आमंत्रण था, जबकि जो आत्म-विजेता है, उसके लिए कोई लड़ाई शेष नहीं रहती। सारी धरती के विजेता को भी मृत्यु के सामने तो हारना ही पड़ता है, जबकि आत्म-विजेता के सम्मुख मृत्यु भी हार जाती है।

आत्म-विजेता ही मृत्युंजय-पद को प्राप्त कर सकता है। महावीर के लिए सिकंदर को जीतना आसान था, पर सिकंदर के लिए महावीर बनना मुश्किल था। इसीलिए भगवान ने कहा कि संग्राम में हजारों-हजार शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा आत्म-विजय ही श्रेष्ठ है। आत्म-विजय ही कठिन है। किसी श्रेणिक के लिए महावीर बनना कठिन था, जबकि महावीर के लिए किसी प्रसन्नचन्द्र, बिम्बसार या श्रेणिक को अपना अनुयायी बनाकर, उन पर अपना नियंत्रण करना आसान था।

भगवान कहते हैं कि हम अपने आप से लड़ें। एक रात युद्ध के मैदान में विजय का महोत्सव मनाया जा रहा था। एक-एक तम्बू में विजय-ध्वज लहरा रहा था। नृत्य-गायन चल रहे थे और विजय की खुशी में ढोल-ताशे बज रहे थे। उसी समय कोई भिक्षु सम्राट् अशोक के तंबू के बाहर पहुँचता है और सम्राट् को संदेश भिजवाता है कि वह उनसे मिलना चाहता है। सम्राट् को संदेश मिलता है और सम्राट् जवाब भेजता है कि अभी तो आधी रात का वक्त है। अभी तो मैं अपनी जीत का जश्न बना रहा हूँ। भिक्षु जवाब देता है, 'यही वक्त ही मिलने का है क्योंकि मैं भी सम्राट् के साथ विजय का उत्सव मनाना चाहता हूँ।'

तब अशोक के द्वारा भिक्षु को आमंत्रित किया जाता है। सम्राट् अशोक और भिक्षु एक-दूसरे से मुखातिब होते हैं। भिक्षु कहता है, 'राजन्, तुम अपनी विजय का उत्सव मना रहे हो पर मैं तुम्हें ऐसे स्थान पर ले जाना चाहता हूँ जहाँ तुम्हारी विजय का वास्तविक उत्सव मनाया जा सके।' तब वे दोनों ही कलिंग के मैदान में आते हैं, जहाँ हजारों-लाखों लोग घायल और मृत पड़े हैं। भिक्षु अशोक को कहता है, 'तुम इतना नरसंहार करके भी विजय का उत्सव मना रहे हो ! तुमने

लाखों सन्नारियों के माथे के सिन्दूर से होली खेली है, तुमने लाखों बहिनों की राखियाँ छीन ली हैं और तुमने लाखों माताओं की गोद सूनी कर दी है। तुम अपना विजय-उत्सव मनाने से पहले इन घायलों की कराह तो सुन लो ।’ इससे बढ़कर जीवन का और दूसरा कोई कल्याण-पथ नहीं है।

तब सम्राट् अशोक एक-एक घायल के पास जाता है। घायल कहते हैं, ‘सम्राट् अशोक, तेरा विनाश हो, तेरा यश मिट्टी में मिल जाए। तूने हम निरपराध लोगों के साथ अत्याचार किये हैं।’ वहाँ का करुण दृश्य देखकर और घायलों की करुण चीत्कारों को सुनकर सम्राट् का हृदय परिवर्तित हो जाता है। तब कलिंग के उस मैदान में एक नया उद्घोष गुंजायमान होता है। वह उद्घोष युद्ध का नहीं, बल्कि अहिंसा और अयुद्ध का होता है। सम्राट् अशोक में ऐसा परिवर्तन होता है जिस पर स्वयं अहिंसा को भी नाज है। शायद सौ और युद्ध करके भी सम्राट् अशोक भारत के इतिहास के उस गौरवमय पद को नहीं पाते जितना उन्होंने युद्ध का त्याग कर, प्रेम और शांति के संदेश को संसार-भर में फैलाकर वे भारत के गौरव-मुकुट बने।

आखिर यह दुनिया कब तक लड़ती रहेगी? कब तक हम आपस में झगड़ते रहेंगे? आज कितना आतंक और उग्रवाद फैला हुआ है! आखिर इन सबका क्या अंत होगा? आदमी कहीं तो ठहरे! कहीं तो रुके! चौराहे की लाल बत्ती को देखकर ही सही, कभी तो सँभले! बहुत हो गए झगड़े, बहुत हो गईं सिर फुटव्वल। हमें जीतना है अपने ही कमजोर मन को, अपने ही उग्र मन को। अपने आपको जीतना ही जीवन की सच्ची विजय है। तुम अपने कषायों पर विजय प्राप्त करो। अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो। अपने निरंकुश मन पर शासन-अनुशासन स्थापित करो। जैसे ही लगे कि हमसे अतिक्रमण हो गया, तत्काल अपने आपको अपनी मर्यादा में ले आओ। यही प्रतिक्रमण है। अपनी मर्यादा में स्वयं का लौट आना ही प्रतिक्रमण है।

लड़ो किन्तु अपने आप से। यदि बाहरी शत्रुओं को भी नियंत्रण में लेना हो तो उन्हें भी प्रेम, आत्मीयता और मधुरता से वश में करो। लड़ाई से बचने के लिए हम नम्रता का विकास करें। सामने वाला ‘सॉरी’ कहे, उसके पहले ही हम स्वयं ही सॉरी कह दें। बात वहीं खत्म हो जाएगी।

जीसस तो कहते हैं कि कोई तुम्हारे एक गाल पर चाँटा लगा दे तो तुम अपना

दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। महावीर के कान में कील ठुके तो महावीर की प्रतिक्रिया यही थी कि कील ठोकने वाले ने मेरी समता और सहनशीलता को और बढ़ा दिया है। कृष्ण ने शिशुपाल की निन्यानवे गलतियों को माफ करने की उदारता ही तो दिखाई थी।

कटु वाणी मत बोलो। प्यार से बोलो। हमारी जबान लोगों के लिए प्रेम और सम्मान का माध्यम बने, न कि कटुता और विरोध की। हम वाणी में मधुरता लाएँ। मधुरता को अपने जीवन का अंग बनाएँ। यह बड़ा पौष्टिक तत्त्व है। तुम अपनी ओर से औरों को मधुरता दांगे तो तुम्हें भी मधुरता ही मिलेगी।

मन में सदा प्रसन्नता रखो। जीवन की हर उठापटक के बाबजूद अपने दिल को सदा मजबूत रखो, प्रसन्न रखो। निराशा हटाओ, विश्वास जगाओ। दूरियों को कम करो, सबको अपने गले लगाओ। प्रेम को जगत् के लिए स्वीकार कर लो। बाहर अनन्त तक प्रेम, अनन्त प्रेम! भीतर अनन्त का ध्यान, अनन्त ध्यान!

हम ही हमारे मित्र हों और हम ही हमारे मार्गदर्शक गुरु बनें। स्वयं के हाथों स्वयं को मूल्य दें और उस मूल्य को हासिल करें। आत्म-पथ पर चलने के लिए द्वार खुले हैं। अंधेरा मिटने वाला है; आज, अभी, निश्चय ही।





## सम्यक्त्व की सुवास

मेरे प्रिय आत्मन् !

पिछले कुछ दिनों से हम भगवान श्री महावीर के ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्रों पर परिचर्चा कर रहे हैं जो अंधेरे में खड़े राहगीर के लिए प्रकाश की किरण साबित हो सकते हैं। महावीर के सूत्रों की तरफ ज्यों-ज्यों हम अपनी दृष्टि आगे बढ़ाते हैं, त्यों-त्यों हमारी बुद्धि और बोध, जागृत एवं प्रखर हो रहे हैं। किसी भी व्यक्ति के लिए मुक्ति के मार्ग की समझ शायद सरल हो सकती है, पर उस मार्ग पर चलने वाला ही जान सकता है कि वह पथ कितना दुर्गम है। उस मार्ग पर कितने दरें और खाइयाँ हैं? उस मार्ग पर कितनी चट्टानें और अवरोधक हैं, यह उस पथ का पथिक ही जानता है।

लेकिन यदि किसी व्यक्ति का दृढ़ संकल्प है कि वह संसार की सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट तक पहुँच कर ही रहेगा तो उसकी यह दृढ़ इच्छा-शक्ति और दृढ़ संकल्प उसे किसी तेनजिंग और हिलेरी की तरह मुक्ति के एवरेस्ट तक एक दिन अवश्य पहुँचाते ही हैं। अगर किसी व्यक्ति के समक्ष यह प्रश्न रखा जाए कि उसके एक तरफ तो एक लाख रुपये हों और दूसरी तरफ एक सामायिक हो या फिर एक तरफ, ऐसी पाँच रुपये की लॉटरी हो, जिस पर एक लाख का इनाम खुल सकता हो और दूसरी तरफ एक ऐसी पाँच रुपये की रसीद हो जिससे सामायिक करने को

मिले तो दोनों विकल्पों में से वह किस विकल्प का चयन करेगा तो शायद वह स्पष्ट उत्तर न दे सके।

भगवान ने अपने ही शिष्य से कहा था, 'वत्स, तुम्हारी नरक कट सकती है यदि तुम पुणिया से उसकी एक सामायिक खरीद लाओ। नरक आपकी भी कट सकती है यदि आप उन पाँच रुपयों की रसीद से सामायिक खरीद लें, पर शर्त यह है कि उन पाँच रुपयों की रसीद को खरीदने के लिए आपने एक लाख रुपये को पीठ दिखाई हो। जो व्यक्ति संसार का आकांक्षी है, उसकी दृष्टि में तो एक लाख रुपये ही मूल्यवान होंगे लेकिन जो मुक्ति का अभिलाषी है, उसकी दृष्टि में सम्यक्त्व मूल्यवान होगा।

एक ओर त्रैलोक्य का लाभ हो और दूसरी तरफ सम्यक्त्व का लाभ हो तो त्रैलोक्य-लाभ की अपेक्षा सम्यक्त्व का लाभ श्रेष्ठ है। जीवन में दृष्टि है तो व्यक्ति की हथेली में यदि दस रुपये भी आ जाते हैं तो वह उनका मूल्य जान सकता है, लेकिन किसी अन्धे की हथेली में यदि करोड़ों-अरबों रुपयों के कागजात भी दे दिए जाएँ तो उसके लिए करोड़ों रुपयों के वे कागज भी मात्र एक सादे कागज से अधिक नहीं होंगे। उस अन्धे व्यक्ति के लिए तो धरती का सारा साम्राज्य भी अर्थहीन हो जाता है।

भगवान यही तो कहना चाहते हैं कि व्यक्ति के समक्ष त्रैलोक्य का लाभ और सम्यक्त्व का लाभ हो तो वह दोनों में से क्या चाहेगा, यह उसके लक्ष्य, प्रतिबद्धता और लक्ष्य के प्रति समर्पण पर निर्भर करेगा। वज्रस्वामी को उनकी माँ ने बचपन में एक हाथ में खिलौने दिये और दूसरे हाथ में संयम के उपकरण दिये तो बालक ने खिलौने फेंक दिये और संन्यस्त जीवन के उपकरण लेकर वह नाचने लगा। व्यक्ति की दृष्टि ही किसी भी पदार्थ को मूल्यवान या निर्मूल्य बनाती है।

भगवान कहते हैं कि अतीत में जितने सिद्ध हुए, वर्तमान में जो हो रहे हैं और भविष्य में जो भी होंगे, वे सब मात्र सम्यक्त्व के प्रभाव से ही होते हैं। मुक्ति का आधार है सम्यक्त्व। सम्यक्त्व का अर्थ है -- सम्यक् बोधि, जिसे पाने के बाद हंस-दृष्टि उपलब्ध हो जाती है। हंस-दृष्टि अर्थात् ऐसी दृष्टि जहाँ दूध और पानी को अलग-अलग देखा जा सके। दाने और मोती को अलग-अलग किया जा सके। ऐसी हंस-दृष्टि या सम्यक् बोधि जिस व्यक्ति को उपलब्ध हो जाती है, वह जड़-चेतन, पुण्य-पाप, संवर-आस्रव और मुक्ति-बंधन में अन्तर करने में समर्थ हो जाता है।

यदि किसी अंधे को आँख मिल जाए तो उसकी जीवन-यात्रा सफल हो जाया करती है। जब तक व्यक्ति के जीवन में बोधि की सुवास या सम्बोधि की आँख न हो तो उसके द्वारा की जाने वाली सभी धार्मिक क्रियाएँ राख पर किए गए लेपन के समान होगी अर्थात् राख पर की गई लीपा-पोती ही होगी।

वीतराग से क्या प्रार्थना की जा सकती है? उस वीतराग से उसकी वीतरागता के अतिरिक्त क्या माँगा जा सकता है? जब सुबह उठकर प्रार्थना की जाए तो यह माँगा जाए कि हे प्रभु ! जीवन में एक बार सम्यक्त्व का दीप जला दे जिसकी रोशनी मेरे जीवन को सदैव राह दिखाती रहे। भगवान कहते हैं कि सम्यक्त्व के बिना एक श्रावक, श्रावक नहीं होता और एक संत, संत नहीं होता। सम्यक्त्व के बिना व्यक्ति बहिरात्म-भाव में ही जीता है। अंतरात्मा तो वह तब होता है जब उसका जीवन सम्यक्त्व के फूल से सुवासित होता है।

महावीर ने साढ़े बारह वर्ष के मौन साधनाकाल में वाणी का उपयोग मात्र एक बार किया। जब कोई सर्पराज महावीर को एक डंक मारने के लिए उद्यत होता है और महावीर उसे स्वयं को काटते हुए देखते हैं तो उनके मुख से यह शब्द निकले थे — बुज्झ-बुज्झ-बुज्झ। भगवान महावीर अपनी तरफ से जो पहली प्रेरणा दे रहे हैं, वह मात्र किसी सर्प के लिए नहीं, वरन् उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए है जिसके भीतर क्रोध का सर्प जीवित है, पल रहा है।

बुज्झ शब्द का अर्थ है बोध को प्राप्त करो। जाने कब तक हम माया के दलदल में इस तरह फँसे रहेंगे, कब हमारे जीवन में ऐसा अपूर्व अवसर आएगा जब हमें भी बोधि की प्राप्ति होगी ? भगवान के सभामण्डप में जाकर भी लोग उनसे वंचित रह गए थे लेकिन यदि सुधरने की जुगत हो तो किसी तिर्यच योनि में रहा सर्प भी बोधि को प्राप्त हो जाया करता है। यदि सुधरने की जुगत न हो तो एक संत भी सर्प-योनि की तैयारी कर सकता है। महावीर का यह शब्द मुझे रह-रह कर याद आता है कि 'तुम बोधि को प्राप्त करो, सम्यक्त्व को, हंस-दृष्टि को प्राप्त करो।'

जब चण्डकौशिक, महावीर के शब्दों को सुनता है; वह अन्तर की गहराई में पहुँच कर, बोधि को उपलब्ध होता है। वह अपने अतीत को देखता है, 'अहो ! मैं संन्यस्त हुआ, पर क्रोध-कषायों में मरकर यहाँ सर्प के रूप में जन्मा। मेरे क्रोध-कषायों ने मेरी गति को दुर्गति में बदला, लेकिन अब मैं अपनी दुर्गति को सद्गति

में बदलूँगा। चण्डकौशिक ने संकल्प लिया कि वह किसी को डंक नहीं मारेगा, किसी पर विषैली फुफकार नहीं छोड़ेगा और वह किसी पर क्रोध भी नहीं करेगा।

अगर बोध की किरण जीवन में उतर जाए तो कोई चण्डकौशिक भी भद्रकौशिक बन जाता है और यदि बोध प्राप्त हो तो कोई भद्रकौशिक भी चण्डकौशिक बन जाता करता है।

एक बार कोई संत 'मेघ' रात को आने-जाने वाले सन्तों की ठोकरोँ से विचलित हो जाते हैं। जैसे आप यहाँ बैठे हैं, और बार-बार आपको आने-जाने वाले लोगों की ठोकर लगे तो आप भी विचलित हो जाएँगे। वैसे ही मेघ मुनि भी विचलित होकर सोचने लगे, 'कल तक मैं एक राजकुमार था। किसी भी व्यक्ति की क्या हिम्मत जो मेरा जरा भी अपमान करे। सभी मेरे सामने अपना सिर झुकाए रखते थे और आज मुझे सोने के लिए दरवाजे के पास जगह मिली है। निवृत्ति या अन्य किसी काम से आने-जाने वाले सन्तों के पाँव की धूल और ठोकर बार-बार मुझे लगती है जिसके कारण मैं निद्रा भी नहीं ले पा रहा हूँ।' वह मन ही मन निर्णय करते हैं कि कल सुबह होते ही मैं घर खाना हो जाऊँगा।

सुबह होते ही मेघ मुनि जैसे ही घर की तरफ लौटने के लिए मुड़ते हैं; भगवान महावीर वात्सल्यपूर्ण वाणी में कहते हैं, 'मेघ! कहाँ जा रहे हो? अपने अतीत में तुमने एक खरगोश की रक्षा करने के लिए तीन दिन और तीन रात की पीड़ा सहन कर ली और आज तुम एक एक ही रात की ठोकरोँ से विचलित हो गए!'

मेघ कुमार सोचते हैं कि भगवान यह क्या कह रहे हैं? वह सोचते-सोचते अपने अन्तर में उतर जाते हैं और स्पष्ट हो जाता है स्वयं का अतीत, स्वयं के सामने।

अतीत में वह एक गजराज रहा। अचानक एक दिन जंगल में आग लग जाती है। वह गजराज आग से रक्षा करने के लिए जंगल के एक भाग को साफ करता है। वह उस भाग से सभी पेड़-पत्तियाँ उखाड़ देता है ताकि आग वहाँ फैल न सके। जंगल के अन्य पशु-पक्षी भी अपनी सुरक्षा के लिए उस स्थान पर आकर खड़े हो जाते हैं। हाथी भी उन जानवरों की भीड़ में किसी तरह जगह बनाकर खड़ा हो जाता है।

थोड़ी ही देर में हाथी को खुजली उठती है। वह खुजलाने के लिए अपना एक पाँव उठाता है। वह खुजलाकर पाँव नीचे रखता, उसके पूर्व ही उस थोड़ी-सी

खाली जगह को देखकर एक खरगोश वहाँ बैठ जाता है। हाथी जब खरगोश को देखता है, तो उसके दिल में दया उठती है कि जब मैंने इतने जानवरों को यह सुरक्षित स्थान देकर प्राणदान दिए हैं तो इस खरगोश की प्राण-रक्षा के लिए मैं अपने एक पाँव को ऊपर ही रख लूँगा तो इसमें मेरा क्या जायेगा ? पर इस नन्हें प्राणी के प्राण अवश्य बच जाएँगे। इन दयाभावों में ही हाथी तीन दिन-तीन रात तक अपना एक पाँव ऊँचा कर खड़ा रहा और अन्त में उसी दयाभाव में मरकर वह राजकुमार मेघ के रूप में जन्मा।

तब मेघ मुनि को अपना अतीत देखकर बोधि प्राप्त हो जाती है और वह कहते हैं— 'भगवन् ! जिस मार्ग से मैं स्वलित हो रहा था, विचलित होकर फिसल रहा था, आपने मुझे संभाल लिया। आपने जो मुझे सम्यक् बोधि प्रदान की है, उसके परिणाम-स्वरूप मैं एक ठोकर तो क्या हजारों ठोकरों से भी विचलित नहीं होऊँगा। मैं जन्म-जन्म तक श्रमणत्व के इस मार्ग पर अडिग रहूँगा।' मूल्य है बोधि का, अगर एक बार भी बोध प्राप्त हो जाए, एक बार भी जाग मिल जाए तो आगे की यात्रा स्वतः ही सरल हो जाती है।

हम लें एक और प्रसंग, रक्तपिपासु अंगुलीमाल का। उसने यह नियम लिया था कि वह एक हजार व्यक्तियों की अंगुलियाँ काटकर, उनसे माला बनाकर किसी देवी को चढ़ाकर उसे प्रसन्न करेगा। अंगुलीमाल अब तक नौ सौ निन्यानवें व्यक्तियों को मार चुका था। उसे एक व्यक्ति की और प्रतीक्षा थी ताकि वह उसकी अंगुली काटकर देवी को हजार व्यक्तियों की अंगुलियों की माला अर्पित कर सके।

संयोग की बात कि हजारवें व्यक्ति के रूप में बुद्ध उस जगह से गुजरते हैं। अंगुलीमाल एक ऊँची चट्टान पर बैठा था। उसने एक भिक्षु या संत को आते हुए देखा। उसे अन्तिम एक व्यक्ति की प्रतीक्षा तो थी, पर वह नहीं चाहता था कि अन्तिम व्यक्ति कोई भिक्षु या संत हो। वह बुद्ध को देखकर बोला, 'तुम जहाँ पर भी हो, वहीं ठहर जाओ। एक कदम भी आगे मत बढ़ाना, अन्यथा तुम्हें मार दिया जाएगा।'

बुद्ध प्रेमपूर्वक बोले, 'अरे अंगुलीमाल ! मैं तो स्थिर ही हूँ। हो सके तो तू रुक जा।

अंगुलीमाल चौंका कि मैं जो स्थिर यहाँ खड़ा हूँ, उसे तो यह भिक्षु कहता है रुक जा और स्वयं जो चल रहा है, कहता है मैं स्थिर हूँ। वह बुद्ध के पास आया और बोला, 'तुम कैसी विपरीत बात करते हो ? मुझे तुम्हारी बात बिल्कुल समझ में नहीं आई। तब बुद्ध बोले, 'अंगुलीमाल ! मैं प्रेम, अहिंसा, करुणा और शान्ति-समता में स्थिर हूँ, अडिग और रुका हुआ हूँ और तू हिंसा और क्रूरता के पथ पर बढ़ता चला जा रहा है, इसलिए मैंने तुझे रुकने के लिए कहा।

अंगुलीमाल बोला, 'पर मुझे एक व्यक्ति की अंगुलियाँ चाहिए ही, ताकि मैं हजार व्यक्तियों की अंगुली-माला देवी को अर्पित कर सकूँ।' बुद्ध बोले, 'तब तू अन्य व्यक्ति की प्रतीक्षा क्यों करता है? मुझ पर ही तलवार से वार कर। लेकिन उसके पहले तू मुझे उस सामने लगे वृक्ष से चार पत्ते तोड़कर ला दे। अंगुलीमाल वृक्ष के पास गया और उसने तुरन्त चार पत्ते तो क्या तोड़े, एक टहनी ही तलवार से काटी और बुद्ध के पास ले आया। बुद्ध ने उन पत्तों की तरफ देखा और बोले, 'अंगुलीमाल, जाओ अब इस टहनी को पूर्ववत् पेड़ से जोड़ आओ।

अंगुलीमाल बोला, 'भिक्षु ! तुम भी विचित्र व्यक्ति हो, जिस टहनी को तोड़ दिया गया है, उसे क्या पुनः पेड़ से कभी पूर्ववत् जोड़ा जा सकता है? तब बुद्ध बोले, 'जिसमें जोड़ने की शक्ति नहीं है, उसके पास तोड़ने का अधिकार भी नहीं है। तुमने इतने व्यक्तियों का जीवन लिया, पर तुम किसी को नवजीवन नहीं दे सकते। तुम्हें उस जीवन को छीनने का कोई अधिकार नहीं जिसको लौटाने की तुम में सामर्थ्य नहीं हो।'

तब अंगुलीमाल को बुद्ध से सम्यक् बोधि प्राप्त होती है और वह नृशंस हत्यारा एक भिक्षु के रूप में परिवर्तित हो जाता है जो न केवल स्वयं के जीवन को बनाता है वरन् लोगों को भी जीवन का मार्ग प्रदान करता है।

वाल्मीकि तो एक डाकू थे। मार्ग में जो सन्त मिलते हैं, इन्हें वाल्मीकि लूटने का प्रयास करते हैं। वे सन्त कहते हैं कि तुम मुझे बाद में मारना या लूटना। पहले तुम यह तो अपने घरवालों से पूछ कर आओ कि तुम जो यह हिंसा, चोरी, पाप और अपराध उनके लिए कर रहे हो, उसका फल जब उदय में आएगा तो क्या वे भी उसका परिणाम तुम्हारे साथ भुगतेंगे? वाल्मीकि, भद्रिक और भव्य जीव रहा होगा। वह सन्त के आदेशानुसार अपने घर पर पहुँचता है और अपनी पत्नी से पूछता है, 'प्रिये ! मैं तुम्हारे आराम और सुख-सुविधा के लिए जो यह चोरी,

अपराध और पाप करता हूँ, उस पाप का परिणाम जब उदय में आएगा तो तुम भी मेरा साथ दोगी ना। पत्नी बोली, 'पतिदेव ! सुख में तो सभी सहभागी हो सकते हैं, पर आपके पापों का फल तो आपको ही भोगना पड़ेगा। मैं भला साथ कैसे दे सकती हूँ।' वाल्मीकि इस तरह से घर के प्रत्येक सदस्य के पास जाकर यही प्रश्न पूछता है।

माता, पिता, भाई, बहन और बच्चे सभी यही कहते हैं कि आपके पाप का फल तो आपको ही भोगना पड़ेगा, हम भला क्यों उन पापों के परिणाम में सहभागी बनेंगे? वाल्मीकि तब जो संत को लूटना चाहते थे, वह अपनी सारी लूट की दौलत छोड़कर संत के चरणों में आकर गिर जाते हैं और कहते हैं, 'हे महात्मन् ! मुझे बोध मिल गया है और अब मैं इस पाप और अपराधमयी जीवन को त्याग कर पुण्य-पथ का अनुगमन करना चाहता हूँ। मैंने जान लिया है कि व्यक्ति स्वयं ही स्वकृत कर्मों का भोक्ता होता है और उसका कोई सहभागी नहीं होता।'

जीवन का बोध जागृत हो जाने पर एक डाकू वाल्मीकि, महर्षि वाल्मीकि बन जाता है, जिसने इतिहास की कालजयी कृति वाल्मीकि रामायण की रचना की।

भगवान महावीर यही प्रेरणा देना चाहते हैं कि व्यक्ति बोधि और सम्यक्त्व को उपलब्ध हो। मनुष्य एक अन्धे प्रवाह में बहा जा रहा है। वह अन्धत्व या मिथ्यात्व के भँवरजाल में फँसा हुआ है। वह बहुत सोचता है कि इस जाल से निकल जाऊँ या इस प्रवाह में स्वयं को गतिमान न बनाऊँ या फिर इस प्रवाह को रोक दूँ, पर जब चिंत में क्रोध, ईर्ष्या या अन्य किसी विकार की तरंगें उठती हैं तो सभी संकल्प रेत के महल की तरह ढह जाते हैं। व्यक्ति चाहता है कि मैं क्रोध नहीं करूँ या अन्य कोई विकार मन में न लाऊँ पर जैसे खुजली का रोगी खुजली उठने पर खुजलाने को विवश हो जाता है, ऐसे ही जब यह अन्धा प्रवाह उठता है तो व्यक्ति स्वयं पर नियन्त्रण नहीं रख पाता और उसमें बह ही जाता है।

मैं जीवन्त धर्म पर विश्वास करता हूँ। मेरा विश्वास उस धर्म से जुड़ा है जो महज किताबों की धरोहर नहीं बल्कि व्यक्ति के जीवन की सम्पदा है और जो व्यक्ति से जुड़ा है। मेरे पास एक चौरानवें वर्ष के वृद्ध व्यक्ति आया करते थे जो अच्छे सम्बोधि-साधक भी थे। एक दिन मैं उनसे बातचीत कर रहा था और मैंने उनसे कहा, 'दादा जी, मैं आपसे आपके जीवन से जुड़ी हुई एक बात पूछना

चाहता हूँ, क्या आप मुझे उसका ईमानदारी से जवाब देंगे? मैं आपके द्वारा दिए गए जवाब से जीवन का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालना चाहता हूँ।' चूंकि वह साधक व्यक्ति थे अतः मुझे यह विश्वास था कि उनका जवाब अनुभवसिद्ध और ईमानदारी से परिपूर्ण होगा। उनके द्वारा स्वीकृति दिए जाने पर मैंने पूछा, 'आपकी पत्नी को गुजरे हुए कितने वर्ष हो गए?' वह बोले 'दो वर्ष।' मैंने पूछा, 'क्या आपको इस उम्र में भी पत्नी की याद सताती है और आपको कभी इस बूढ़ी काया में भी कभी विकृति की कोई तरंग उठती हुई दिखती है।' उन्होंने एक गहरी साँस लेते हुए जवाब दिया, 'हाँ साहब, पत्नी की याद भी सताती है और कभी-कभी मन में विकृति की तरंग भी उठ आती है।'

मैंने उन्हें साधुवाद दिया, जीवन के प्रति ईमानभरी दृष्टि और जवाब के लिए। तब मुझे लगा कि चौरानवें वर्ष की बूढ़ी काया में भी वह अन्धा प्रवाह जारी रहता है। अच्छा, अब मैं आप सबसे प्रश्न पूछता हूँ लेकिन जवाब ईमानदारी से दीजिएगा। आप सभी कभी-न-कभी क्रोध करते ही होंगे। एक वर्ष में कितनी बार आप क्रोध की आग से गुजर जाते हैं? मान लेते हैं एक वर्ष में व्यक्ति पचास बार क्रोध करता है और यदि आज पचास वर्ष की उम्र है तो आप पच्चीस सौ बार क्रोध कर चुके हैं। क्या पच्चीस-सौ-एक-वीं बार पर क्रोध का निमित्त मिलने पर आपके मन में यह चिन्तन उठता है कि मैं यह क्या कर रहा हूँ? हमारा सारा ज्ञान, सारा ध्यान उस अन्धे प्रवाह के आगे धरा रह जाता है।

आप गृहस्थ जीवन जी रहे हैं, दाम्पत्य-जीवन का भी उपभोग करते होंगे। एक वर्ष में कितनी बार आपने इस जीवन का उपभोग किया? मान लेते हैं कि एक वर्ष में पचास बार उपभोग किया गया और आपकी शादी यदि बीस वर्ष की उम्र में हुई हो तो आप आज पचास वर्ष की उम्र तक पन्द्रह सौ बार उपभोग कर चुके। क्या आप को पन्द्रह-सौ-एक-वीं बार यह विचार उठता है कि मैं यह लॉलीपॉप कब तक चूसता रहूँगा? इस दलदल में कब तक लिपटा रहूँगा?

शायद आप यह सोचते भी हों कि अब मैं दाम्पत्य जीवन नहीं जिऊँगा, पर वह अन्धा प्रवाह फिर-फिर उठता है और व्यक्ति विवश हो ही जाता है। हम अपने गुलाम स्वयं ही बन जाते हैं। जैसे कि बाढ़ का पानी आता है तो व्यक्ति चाहता है कि वह नहीं डूबे और नहीं मरे, पर बाढ़ के उस प्रवाह में स्वयं पर नियन्त्रण नहीं रहता और वह बह ही जाता है।

पीछे दो लोग हँस रहे हैं। वे अभी बच्चे हैं। उन्हें अपने इस अन्धे प्रवाह के आगे कभी मजबूर नहीं होना पड़ा है। लेकिन जब वे उम्र की दहलीज पर कदम आगे बढ़ाएँगे तो उन्हें इस बात का अहसास निश्चित रूप से होगा कि व्यक्ति कर्म-प्रकृति और जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के चलते अपने आगे ही कैसे विवश हो जाता है ? वह स्वयं के सामने ऐसे ही विवश हो जाता है जैसे कोई नौकर या गुलाम किसी सेठ के सामने हो जाता है।

यह जो मन का कोढ़ है, वह किसी पतलून और कमीज से नहीं छिप सकता। यह फिर उभर ही आता है। इसलिए भगवान कहते हैं कि बोधि या दर्शन (अन्तरदृष्टि) दुर्लभ है। दर्शन को सबसे अधिक महत्त्व देने का कारण यही है कि व्यक्ति अपने मन के कोढ़ को दूर करे, भीतर की शुद्धि हो और भीतर विजय प्राप्त हो। यदि व्यक्ति के भीतर निर्लिप्तता होगी तो बाहर स्वयमेव ही निर्लिप्तता आती चली जाएगी। आभ्यन्तर शुद्धि ही बाहरी शुद्धि का आधार बनती है।

यदि आन्तरिक निर्लिप्तता और शुद्धि नहीं है तो व्यक्ति चाहे बाहर से संत बन जाये या बारह व्रतधारी श्रावक, लेकिन वह अपने उस अन्धे प्रवाह के आगे फिर-फिर विवश हो जाया करता है। चाहे धन हो, दौलत, जमीन, कषाय या इन्द्रियों के विषय हों, व्यक्ति विवश होकर उनका गुलाम बन ही जाया करता है।

मुक्ति के महावृक्ष का यदि कोई बीज-तत्त्व है तो वह है सम्यक्त्व। मुक्ति के पथ का चिराग भी सम्यक्त्व है। इसी सन्दर्भ में भगवान अपना आज का सूत्र दे रहे हैं—

*सलिलेण ण लिप्पइ, कमलिणिपत्तं सहाव पयडिए।*

*तह भावेण ण लिप्पइ, कसाय विसएहिं सप्पुरिसो ॥*

भगवान कहते हैं 'जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयों से लिप्त नहीं होता।'

भगवान कहते हैं कि सम्यक्त्वशील जीव विषय-कषायों से लिप्त नहीं होता। यदि संसार का कोई आधार है तो वह है आसक्ति और लिप्तता और मुक्ति या मोक्ष का कोई साधन है तो वह है निर्लिप्तता। लेप वह है जो व्यक्ति को बांधे रखता है, उसे भारी बनाकर ऊपर उठने नहीं देता।

नन्दीसूत्र में एक सीधे-सरल उदाहरण के द्वारा समझाया गया है कि कर्म-निष्कर्म या लिप्तता-निर्लिप्तता में क्या अन्तर होता है ? एक तुम्बा या तुम्बड़ी जो पानी में नहीं डूबती, उस पर मिट्टी और घास का एक लेप लगा दिया जाय तो वह कुछ अधिक ही डूबेगी।

जितना-जितना लेप के द्वारा भार बढ़ेगा, उतना-उतना ही तुम्बा समुद्र या नदी के अन्दर उतरता जाएगा। महावीर मुक्ति का मार्ग बता रहे हैं। यदि कोई पूछे कि मुक्ति कैसे प्राप्त की जाए या आत्मा का ऊर्ध्वारोहण कैसे हो तो महावीर कहते हैं कि तुम्बे पर से जैसे-जैसे लेप उतरता जाएगा, वह वैसे-वैसे ऊपर उठता चला जाएगा और एक दिन जब लेप पूर्ण रूप से हट जाएगा तो तुम्बा समुद्र के ऊपर तैरने लग जाएगा।

वह लेप हटेगा एक मात्र सम्यक्त्व के प्रभाव से। भगवान कहते हैं कि जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयों से लिप्त नहीं होता।

व्यक्ति का स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वह कषाय और विषयों से लिप्त नहीं हो पाता।

*समकित्तधारी जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।*

*अन्तरगत न्यारो रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल ॥*

जैसे कोई धाय या नर्स जो बच्चे की देखभाल के लिए रखी जाती है, वह बच्चे के मल-मूत्र को साफ करती है, उसे नहलाती है, उसके साथ खेलती है और जरूरत पड़ने पर उसे अपना दूध भी पिलाती है। लेकिन उसे अन्दर में हमेशा इस बात का भान रहता है यह बच्चा उसका अपना नहीं है। ऐसे ही समकित्तधारी जीव, अपने परिवार के संग रहता है, उसका पालन-पोषण भी करता है, पर वह अन्तर से उसी प्रकार अलग रहता है जैसे धाय बच्चे के साथ बाहरी रूप से जुड़ी होने पर भी अन्तर से अलग रहती है।

मूल्य है निर्लिप्तता का। श्रावक और संत वही है जो निर्लिप्त हो। लोगों ने दो श्रेणियाँ बना ली हैं – एक श्रावक की और दूसरी संत की। केवल संत के बाने को पहन लेने से ही कोई संत और श्रावक कहलवाने से ही कोई श्रावक नहीं बन जाता। श्रावक वह है जो भगवान के मार्ग पर श्रद्धा रखे, उस पर चले और भगवान

के द्वारा प्ररूपित व्रतों को आचरित करे। व्यक्ति जैन, बौद्ध या ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर ही जैन, बौद्ध या ब्राह्मण नहीं कहलाता है अपितु अपने आचरणों से ही वह पहचाना जाता है।

व्यक्ति श्रावक तो तभी बन पाता है जब उसके जीवन में प्रामाणिकता आए। यदि एक संत कोई अनुचित व्यवहार करता है तो आप कह दोगे कि अब से तुम संत नहीं रहे ऐसे ही आप मिलावट करते हो, कालाबाजारी करते हो, टैक्स चोरी या अन्य कोई अप्रामाणिक कार्य करते हो तो आप श्रावक कैसे हो सकते हो।

श्रावक होना बहुत बड़ी साधना है। भगवान आपके कदम उसी साधना पथ की तरफ मोड़ना चाहते हैं। व्यक्ति अपने कर्तव्यों को पूरा करे पर उनमें ही फँस जाए या उन कर्तव्यों के पालन के लिए झूठ या बेईमानी का सहारा ले तो यह उचित नहीं है। जैसे सामने यह छोटी-सी बिटिया बैठी है। इसके पालन-पोषण की जिम्मेदारी माता-पिता पर है, पर इसके लिए झूठ-साँच करना या बेईमानी का सहारा लेना तो अनुचित ही है। व्यक्ति अपनी पूरी जिन्दगी उस गधे की तरह बिता देता है जो कभी तो घर और कभी घाट की ओर दौड़ लगाता है। उसे यदि पूछा जाए कि पैसे के पीछे तू इस कदर पागल क्यों बना जा रहा है, तो उसका जवाब होता है कि बेटी की शादी करनी है।

अरे! अभी से व्यर्थ की चिंता क्यों की जाए, उस समय जैसी सुविधा होगी, वैसे शादी हो जाएगी। अगर तुम अपने जीवन की अशान्ति या भागदौड़ का जिम्मेदार बच्चों की शादी या परवरिश को मानते हो तो तुमने संतान ही क्यों पैदा की? यदि संतान पैदा की है तो शान्तिपूर्वक अपने कर्तव्यों का निर्वाह करो और उसमें ही उलझ कर मत रह जाओ। मैल उतारने के लिए जैसे साबुन घिसता जाता है, ऐसे ही व्यक्ति की जिंदगी इस पैसे की भागदौड़ में घिसती चली जा रही है।

इसलिए भगवान कहते हैं कि व्यक्ति संसार में रहकर अपने कर्तव्यों का पालन करे, किन्तु उनमें लिप्त न हो। संसार में रहना तो हर किसी को ही पड़ता है। संतजन भी तो इसी संसार में रहते हैं। संत भी आपकी तरह खाते-पीते हैं, मकानों में ठहरते हैं, चलते-फिरते और बोलते-चालते हैं। पर यदि अन्तर है तो किस बात का? वह है – निर्लिप्तता का, विरक्ति का। कीड़ा और कमल दोनों ही कीचड़ से पैदा होते हैं, पर कीड़ा तो उस कीचड़ में ही धँसता जाता है जबकि कमल कीचड़ में पैदा होकर भी कीचड़ से ऊपर उठ जाता करता है।

पंकज तो कमल और कीड़ा दोनों ही हैं क्योंकि जो पंक से अर्थात् कीचड़ से उपजे, वह है पंकज। पर एक तो कीचड़ में पैदा हो कर भी ऊपर उठ जाता है और दूसरा कीचड़ में जन्म लेकर कीचड़ में ही मर जाता है। एक अन्धेरे से आया, गंदगी से आया, पर उजाले की तरफ – सुवास की तरफ अपने कदम बढ़ाता है। दूसरा अन्धेरे और गन्दगी से आया और उस अन्धेरे एवं गन्दगी में ही फँस कर रह जाता है। हम सब कीचड़ से ही तो पैदा हुए हैं। माँ के पेट में क्या है? रक्त है, मांस है, मज्जा है और माँ के द्वारा खाए हुए अन्न का मल है। हम सब इस कीचड़ से ही तो निकले हैं। साधना का सम्यक्त्व और मुक्ति का मार्ग उनके लिए ही है जो कीचड़ को कीचड़ समझकर उससे उपरत होने के लिए प्रयत्न करते हैं।

एक कमल वह है जो कीचड़ से पैदा होता है और उससे उपरत हो जाता है और एक कमल वह है जिसकी पाँखुरियों पर कीचड़ चढ़ आती है। कमल का कीचड़ में पैदा होना कभी भी आत्म-घातक नहीं है, पर कीचड़ का कमल की पाँखुरियों पर चढ़ आना आत्मघातक है। ऐसे ही किसी व्यक्ति का संसार में रहना, गृहस्थ-धर्म का पालन करना और अपने बच्चों की अच्छी देख-भाल करना आदि कभी गलत या बुरे कार्य नहीं हैं, पर उस संसार में और उस गृहस्थी में ही रच-बस जाना सदैव आत्मघातक होता है। संसार में तुम रहो, यह खतरनाक नहीं है, पर संसार तुम में रहे, यह खतरनाक हो जाया करता है।

इसलिए भगवान महावीर प्रत्येक व्यक्ति को श्रावक-जीवन या शुद्ध जीवन का स्वामी बनाने के लिए यह प्रेरणा दे रहे हैं कि व्यक्ति संसार से उसी तरह निर्लिप्त रहे जैसे कमल का फूल कीचड़ से रहता है। कोई आता है, मिलो और प्रेमपूर्वक बात भी करो; इसमें कोई समस्या या बुरी बात नहीं है, पर समस्या तो तब आती है जब व्यक्ति बिछुड़ जाने के बाद भी पूर्व स्मृतियों में खोया रहता है।

जैसे कोई व्यक्ति ट्रेन या बस से दो घण्टे के लिए ही सफर करता है। वहाँ पर किसी से उसकी दोस्ती हो जाती है। ऐसा लगता है कि बहुत पुराना मित्र हो। व्यक्ति को तो छोड़ो, सीट से ही दो घण्टे के लिए लगाव हो जाता है और आदमी कहता है कि 'यह मेरी सीट है।' जैसे कोई सामयिक करने वाली बहन जब प्रवचन सुनने आती है तो वह सबसे पहले अपना आसन बिछा देती है, अर्थात् यह जगह उसकी हो गयी.... और तो छोड़ो भिखारियों की जगह भी निश्चित होती है। वहाँ कोई दूसरा भिखारी नहीं बैठ सकता है जैसे ट्रेन या बस में किसी की रिजर्व सीट पर

यदि बैठा जाए तो समस्या हो जाती है, वैसे ही यहाँ पर भी किसी की जगह पर बैठ तो जाओ, तुरन्त कहा-सुनी हो जाएगी ।

एक बार ऐसा हुआ कि एक व्यक्ति बस से यात्रा करना चाहता था। वह बस में पहुँचा तो उसे पता लगा कि अभी बस चलने में आधा घण्टा समय है। उसने सोचा कि कोई बात नहीं, अपनी सीट पर रूमाल बिछा देता हूँ और जब तक बस का ईंजन स्टार्ट न हो तब तक नीचे ही घूम लेता हूँ। आधे घण्टे बाद जैसे ही बस स्टार्ट हुई, वह व्यक्ति ऊपर चढ़ा। उसने देखा कि उसकी सीट पर कोई दूसरा आदमी बैठा हुआ है।

वह उस व्यक्ति से बोला, 'अरे, उठो, यहाँ से। यह मेरी सीट है।' वह व्यक्ति बोला, 'तुम्हारी सीट कैसे ? यह तो लोहे की सीट है और इस पर जो बैठ जाए, यह तो उसी की हो जाती है।' जो आदमी नीचे उतरा था, वह बोला, 'अरे, बड़े विचित्र व्यक्ति हो, मैंने मेरा यहा रूमाल बिछा रखा था और यह मेरी सीट है। दूसरे आदमी ने जेब से रूमाल निकाल कर उसे देते हुए कहा, 'क्या सीट पर रूमाल बिछा देने से सीट तुम्हारी हो गई? कल तुम ताजमहल पर रूमाल बिछा दोगे तो क्या ताजमहल तुम्हारा हो जाएगा?

व्यर्थ की मूर्च्छा, आसक्ति और राग। जहाँ रूमाल बिछाकर व्यक्ति सीट को अपनी मान लेता है। आसक्ति तो बाधती ही है। व्यक्ति का स्वभाव आईने की तरह हो। जैसे यदि तुम आईने के सामने जाओगे तो वह तुम्हें तुम्हारा रूप दिखाएगा। तुम हँसोगे तो वह भी हँसेगा, तुम रोओगे तो वह भी रोएगा और यदि तुम दाँत निकालोगे तो वह भी दाँत निकालेगा। तुम आईने से दूर हटे तो आईना वैसे ही स्वच्छ और निर्मल हो जाएगा जैसे कि वह तुम्हारे आने से पहले था।

कोई आता है तो उससे मिलो-जुलो और प्रेमपूर्वक व्यवहार करो। उसका स्वागत और सम्मान करो। पर तुम्हारा व्यवहार बिल्कुल उस आईने की तरह हो जो सामने आने पर तो सब कुछ प्रतिबिम्बित कर देता है और दूर हटते ही वैसे हो जाता है जैसा वह पहले था। एक संत का, एक श्रावक और शांतचित्त व्यक्ति का स्वभाव बिल्कुल आईने की तरह हो जो निर्लिप्त होता है। कोई आ गया तो भी मौज, अकेले हैं तो भी मौज। साथ-साथ में भी मस्ती और आनन्द और अकेले में भी ही अपनी मस्ती और आनन्द। आज के जमाने में जितनी निर्लिप्तता रखी

जाए, आसक्ति को कम किया जाए, उतना ही अच्छा है। तुम अपने बेटे पर राग करते हो लेकिन वह तो शादी होते ही तुमसे अलग हो जाएगा।

भगवान अनुद्वेग की स्थिति को लाने के लिए यह सूत्र दे रहे हैं – वीतराग, वीतद्वेष और अन्तरद्वन्द्वता से मुक्त होने की स्थिति वही है, जहाँ व्यक्ति सब के बीच रहकर भी सबसे अलग रहता है।

एक बहुत ही प्यारी जापानी कहानी है। जापान में एक परम्परा चली – झेन-परम्परा। इस परम्परा में दो संत हुए। एक ईकिडो और दूसरा तानज़ेन। झेन कहानियाँ बहुत ही रहस्यमयी और गहरी होती हैं। यदि कोई व्यक्ति ऊपर-ऊपर से इन कहानियों को लेता है तो वह इनकी गहराइयों को नहीं समझ सकता। ईकिडो गुरु और तानेन चेला, ईकिडो वृद्ध और तानज़ेन युवा। दोनों ही एक मड्डी रास्ते से अर्थात् कीचड़ से लथपथ रास्ते से आगे बढ़ते जा रहे थे। संभवतः बरसात के कारण वह रास्ता कीचड़ से लथपथ हो गया था। कुछ दूर आगे चलने पर एक नदी आई जिसे ईकिडो और तानज़ेन को गंतव्य तक पहुँचने के लिए पार करना था। ईकिडो आगे थे। जैसे ही वह नदी को पार करने लगे तभी वहाँ खड़ी एक लड़की ईकिडो से बोली, 'संतप्रवर ! मुझे भी यह नदी पार करनी है, पर पानी की गहराई अधिक है और मेरा कद भी छोटा है। साँझ भी ढल रही है, अतः मैं उस पार पहुँच जाऊँ यह उपयुक्त रहेगा। आप कृपया मुझे हाथ पकड़कर अपने साथ ले चलें ताकि मैं उस पार सुरक्षित रूप से पहुँच सकूँ।'

ईकिडो ने उस बालिका की बात सुनी तो वह बोले, 'मैं अवश्य ही उस पार जा रहा हूँ, पर हम संत किसी स्त्री को नहीं छू सकते।' यह कहकर वह आगे बढ़ गए और नदी पार कर ली। तानज़ेन भी पीछे-पीछे आ रहे थे। जब उस लड़की ने तानज़ेन को देखा तो उसने उसको भी अपनी वही परिस्थिति सुना कर नदी पार करने के लिए निवेदन किया। तानज़ेन ने उस लड़की की परिस्थिति को समझा और उसने हाथ पकड़ कर लड़की को नदी पार करा दी। नदी पार करने के बाद लड़की अपनी राह पर और तानज़ेन अपनी राह पर चल दिए।

रास्ते में तानज़ेन ने अनुभव किया कि ईकिडो कुछ नाराज से लग रहे थे। उन्होंने तानज़ेन से एक शब्द भी नहीं बोला। रात्रि को जब दोनों संत सोने के लिए अपने बिस्तर पर लेटे तो ईकिडो तानज़ेन से बोले, 'बेटा ! तूने आज अच्छा नहीं किया। तेरे द्वारा आज संतजीवन की मर्यादा का अतिक्रमण हुआ है। तूने न केवल

उस लड़की को छूआ बल्कि उस लड़की का हाथ पकड़कर तूने उसे नदी के पार पहुँचा दिया।' तानजेन चौंका और बोला, 'ओह! तो आप उस लड़की के बारे में बात कर रहे हैं। मैं तो नदी पार करा कर उसे वहीं छोड़ आया और आप उसे यहाँ तक साथ लेकर आए हैं।' ईकिडो बोले, 'मतलब!' तानजेन ने कहा कि मैंने उस लड़की की परिस्थिति समझी और मैं तो स्वयं उस पार जा ही रहा था, अतः मुझे उसे उस पार ले जाने में कोई दिक्कत नहीं हुई। लेकिन मुझे तो लड़की को पार लगा देने के बाद उसका स्मरण भी नहीं रहा और आप उसे उठा कर यहाँ तक ले आए!'

मूल बात है भीतर की अनासक्ति। जब व्यक्ति के जीवन में ऐसी सम्यक् दृष्टि और सम्यक्त्व की सुवास प्रकट हो जाती है तो व्यक्ति का हर कृत्य उसे मुक्त कराने में सहायक बनता है। इसी सन्दर्भ में भगवान अगला सूत्र दे रहे हैं—

*सेवंता वि ण सेवइ, असेवमाणो वि सेवगो होई।*

*पगरणचेद्धा कस्स वि, ण य पावरणोत्ति सो होई॥*

भगवान ने बहुत गहरी बात कह दी इस सूत्र के माध्यम से। हम ध्यान से उसे समझने का प्रयास करें। भगवान कहते हैं, 'कोई तो विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और कोई सेवन न करते हुए भी विषयों का सेवन करता है। जैसे अतिथि रूप से आया हुआ कोई पुरुष विवाहादि कार्य में लगा रहने पर भी उस कार्य का स्वामी न होने से कर्ता नहीं होता।

भगवान बिल्कुल गीता जैसी भाषा में बोल रहे हैं। गीता का आधार ही अनासक्ति योग है। भगवान महावीर भी बिल्कुल श्रीकृष्ण जैसे बोल रहे हैं। भगवान कहते हैं कि कोई तो विषयों का सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता। जैसे कोई आदमी मुनीम या बैंक कैशियर है। वह दिन-रात नोटों के ढेर के बीच बैठा रहता है। उन्हें गिनकर अलमारी में जमा करता जाता है। लोग कहेंगे कि वह लाखों-करोड़ों के बीच बैठा है। लेकिन उस व्यक्ति का अन्तरमन जानता है कि वह रुपयों के बीच रहकर भी उनसे निर्लिप्त है। वह एक ट्रस्टी की तरह कार्य कर रहा है और उसे हर पल यह भान है कि रुपया उसका नहीं है। दूसरी तरफ एक व्यक्ति भिखारी है, सड़क पर सोया-सोया वह सपने देखता है कि मैं सम्राट बन गया हूँ। मेरे सात-सात राजमहल और सात-सात राजरानियाँ हैं। उनके साथ मैं मौज मना रहा हूँ। यह हुआ विषयों का सेवन न करते हुए भी विषयों का सेवन

करना। जहाँ पर व्यक्ति के साथ भोग-साधना तो नहीं है, पर मन-ही-मन विषयों का सेवन जारी है।

सजगता और जागरण चाहिए। 'जागे सो महावीर, सोए सो सिकन्दर' – सिकन्दर पैस का मालिक बन सकता है, पर स्वयं का मालिक नहीं बन सकता। महावीर तो वही है जो स्वयं को उपलब्ध कर चुका है और स्वयं पर नियन्त्रण स्थापित कर चुका है। जैसे कि किसी घर में विवाह है और कोई व्यक्ति वहाँ अतिथि रूप में आया है। वह पुरुष विवाहादि कार्य में लगा रहता है, बारातियों की व्यवस्था और स्वागत भी करता है पर वह ऐसा करने से उस विवाह में मालिक नहीं बन जाता। कर्ताभाव न होने से, स्वामित्व भाव न होने के कारण विवाह में जो अच्छा-बुरा हुआ उससे वह नहीं जुड़ता है। कर्ताभाव ही व्यक्ति को बाँधता है। जहाँ व्यक्ति के भीतर में यह भाव आ जाता है कि मैं कुछ नहीं करता और जो होनी है वह हो रही है तो वह मात्र द्रष्टा रह जाता है। किसी के जीवन में अच्छा लिखा है तो अच्छा हो रहा है और यदि किसी के जीवन में बुरा लिखा है तो बुरा हो रहा है। इसमें प्रशंसा या निन्दा कैसी ?

कोई आदमी अच्छा जीवन जी रहा है तो आप कहेंगे कि वाह ! कितना अच्छा व्यक्ति है। वहीं एक साधु यदि गृहस्थ में आ जाए तो आपका उसके प्रति क्या नजरिया होगा ? आप उसे बुरी नजर से देखेंगे। कुछ अच्छा या बुरा नहीं होता, यह योग अथवा नियति है जो अच्छा हो जाता है और यदि कुकर्म का उदय आता है तो बुरा हो जाता है। किसे बुरी नजर से देखा जाए? वह व्यक्ति कम-से-कम ईमानदार तो है कि उसने इस बात की सत्यता को स्वीकार कर लिया कि उससे अब साधु-जीवन नहीं सध रहा है। उसने साधु-जीवन का झूठा बाना तो नहीं पहने रखा है। आपने अपने जीवन के साठ वर्ष के गृहस्थ में बिताए। कम-से-कम उसने पाँच, दस या कुछ वर्षों तक तो चारित्र-जीवन जिया। फिर वह आपसे श्रेष्ठ ही हुआ। उसके प्रति घृणा या बुरा भाव क्यों रखा जाए ?

एक दिन मैं फूलों से बतिया रहा था। मैंने वृक्ष और फूलों से कहा कि लोग अभिनन्दन-पत्र छपाते हैं, पर वास्तविक अभिनन्दन-पत्र तो तुम्हारा छपना चाहिए। मैं एक किताब लिखना चाहता हूँ। सोचता हूँ तुम्हारे जीवन पर ही किताब लिख दी जाए। अतः तुमने अपने जीवन में जो-जो सेवाएँ मानवजाति को अर्पित की हैं, वह मुझे बताओ ताकि मैं पुस्तक लिख सकूँ। फूल हँसा और मुस्करा कर बोला,

‘मैंने अपने जीवन में कुछ भी ऐसा अच्छा नहीं किया जो मैं बता सकूँ।’ मैंने कहा, ‘अरे ! तुम तो लोगों को सुकून देते हो, खुशबू देते हो, रोजी-रोटी देते हो।’ पेड़ से भी यही प्रश्न मैंने किया। पेड़ ने जवाब दिया, ‘मेरे जीवन में कर्ताभाव नहीं है। जो होना है, वही हो रहा है। फूल और फल देना मेरा धर्म है। छाया और हवा देना भी मेरा स्वभाव है, इसमें अच्छा और बुरा क्या है ?’

पेड़ ने मुझसे कहा, ‘याद रखो बेटे ! जो किया जाता है, उसका इतिहास लिखा जाता है और जो हो जाता है, वह व्यक्ति का स्वभाव होता है।’

इतिहास मिट जाया करता है। इतिहास के पन्नों पर सदा किसका नाम अंकित रहा है? एक साधारण व्यक्ति को छोड़ भी दिया जाए, पर एक तीर्थंकर का नाम भी तीन चौबीसी तक ही चलता है। जरा बताइए कि वासुपूज्य स्वामी की माता का नाम क्या था ? अजितनाथ भगवान का विवाह हुआ या नहीं ? अथवा ऋषभदेव के सौ पुत्रों के क्या-क्या नाम थे ? शायद ही किसी को ध्यान में हों।

जहाँ व्यक्ति कर्ताभाव से जुड़ता है, वह वहाँ स्वयं को इतिहास की धरोहर बना देता है। पर इतिहास के पन्नों पर भी नाम मिटते रहते हैं। यह सामने जो मैं शिला पर नाम लिखा देख रहा हूँ, कितने साल तक यह नाम चलेगा ? पचास सौ वर्षों तक ! उसके बाद इसका भी पता नहीं रहेगा। यह बिल्डिंग जो दिख रही है, उसकी उम्र भी कितनी होगी ? चाहे तुम लोहे भी लगवा दो, सौ वर्ष से ज्यादा तो आर. सी. सी. की उम्र भी नहीं होती। हम होनी की तरफ आएँ, अपने स्वभाव से जुड़े। ज्यों-ज्यों व्यक्ति में कर्ताभाव कम होता जाएगा त्यों-त्यों वह अपने आत्म-स्वभाव में स्थिर होता चला जाएगा। जानें अपना स्वभाव कि हमारे भीतर क्या है ? भीतर कितना क्रोध है, कितनी शान्ति ? भीतर कितनी पवित्रता की स्थिति है और कितने विकार हैं ? व्यक्ति स्वयं का हर पल आत्मदर्पण में निरीक्षण करे, स्वयं के प्रति सम्यक्त्व का, विवेक और हंसदृष्टि का उपयोग करे।

मेरे भीतर अच्छा क्या है, बुरा क्या है ? अच्छे को मैं कैसे बढ़ाऊँ और बुरे से कैसे बचूँ ? व्यक्ति अपनी सम्यक् बोधि का उपयोग स्वयं को जानने और सुधारने के लिए करे।

मेरा निस्तार मैं करूँगा और आपका निस्तार आप करेंगे। हर व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों और पुरुषार्थ से पार लगेगा। मेरे साथ यदि दस व्यक्ति और तिरते हैं तो अच्छी बात है पर यदि सौ व्यक्ति तिरें और मैं डूबा रह जाऊँ तो इसका क्या

औचित्य ? मैं तिरूँ, आप तिरें और हर व्यक्ति इस संसारसागर से पार लगे। और पार लगने के लिए जो नौका या पतवार के रूप में आधार है, वह है सम्यक् दृष्टि और सम्यक् बोधि।

सुबह उठकर भगवान से यदि कोई प्रार्थना की जाए तो वह यह हो कि 'हे प्रभु ! मेरी बुद्धि सदा सदबुद्धि रहे। यदि तेरी तरफ से मुझे कुछ मिले तो वह मात्र सम्यक् बोधि हो। मुझे वह दृष्टि प्रदान करें जिससे मैं जीवन का सही मार्ग तय कर सकूँ और संसार-सागर के पार लग सकूँ।'

हाँ, मंजिलें उनकी होती हैं जो रास्तों को पार करना जानते हैं। और रास्ता पार करने की हिम्मत या औकात वही जुटा पाते हैं जो सम्यक्त्व के स्वामी होते हैं। आज के लिए अपनी ओर से बस इतना ही। प्रेमपूर्ण नमस्कार।





## साधना की अन्तर्दृष्टि

मेरे प्रिय आत्मन्!

जीवन उतना ही विशाल है जितना कि आसमान। जीवन उतना ही गहरा है जितना कि समुद्र। ज्यों-ज्यों जीवन की परतें खुलती जाती हैं, त्यों-त्यों उसकी पारदर्शिता निखरती जाती है। ज्यों-ज्यों जीवन पर जमी हुई धूल हटाते हैं, त्यों-त्यों जीवन का आईना स्पष्ट नजर आता है। जीवन को गहराई से देखने पर तत्त्वतः ज्ञात होता है कि जैसा जीवन बाहर है, वैसा ही भीतर भी है। जैसे बाहर अंधेरा है, वैसे ही भीतर अंधेरा है, जैसे बाहर रास्ते हैं, वैसे ही रास्ते भीतर भी हैं।

जीवन और जगत का बारीकी से निरीक्षण करने पर यह जाहिर होता है कि जीवन जगत का केन्द्र है और जगत जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। जैसा केन्द्र पर होता है, वैसा ही परिधि पर झलकता है। परिधि की मौलिक संभावनाएँ धुरी पर केन्द्र से ही जुड़ी रहती हैं। आदमी के समक्ष जीवन केवल जन्म से शुरू होने वाली यात्रा है और मृत्यु पर समाप्त हो जाने वाली स्थिति। किन्तु, जिसने जाना है जन्म से पहले और मृत्यु के बाद की स्थितियों को, वह भली-भाँति जानता है कि जीवन का वास्तविक अस्तित्व न जन्म से आरम्भ होता है और न ही मृत्यु पर पूर्ण। कोई प्राणी अनन्त शून्य की तरफ बढ़ जाया करता है। अनन्त शून्य से आने वाला जन्म हमारे लिए जीवन का आधार होता है और अनन्त शून्य में फिर समा जाना हमारे लिए मृत्यु का निमित्त बन जाया करता है।

जिन ज्ञानी पुरुषों ने जीवन को गहराई से जाना है, उनके लिए जन्म न तो जन्म है और मृत्यु न ही मृत्यु। ज्ञानीजनों के लिए तो जन्म और मृत्यु पथिक का दृष्टांत मात्र होता है। मैं जीवन को बहुत गहराई से देख रहा हूँ और मैं जानता हूँ कि जैसा जगत है, वैसा ही जीवन है और जैसा जीवन है, वैसा ही जगत। जैसा बीज होता है वैसा ही बरगद होता है और जैसा बरगद होता है, वैसा ही उसमें छिपा हुआ बीज रहता है।

व्यक्ति का अपनी आँखें बाहर की ओर खोलना तथा जगत के दृश्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना विज्ञान है जबकि उसका बहिर्दृष्टि को त्याग कर भीतर की ओर अपनी दृष्टि मोड़ना ही अध्यात्म है। जब व्यक्ति यह जान लेगा कि विज्ञान और अध्यात्म में कोई दूरी नहीं, कोई विरोधाभास नहीं है, उस दिन विज्ञान और अध्यात्म में प्रगाढ़ मैत्री स्थापित हो जाएगी।

विज्ञान पदार्थ की खोज करता है और अध्यात्म चेतना की, जिससे पदार्थ गतिशील होता है। विज्ञान पास से दूर हो जाता है और अध्यात्म दूर से पास लाता है। संसार भर के सारे सत्यों का आविष्कार करने के बाद व्यक्ति को इस आत्म-सत्य की शरण में तो आना ही पड़ेगा। इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिसके चलते मैं जीवित हूँ और जिसके निकल जाने के बाद मैं मृत समझा जाऊँगा, वह आत्म-तत्त्व ही अध्यात्म की बुनियाद है।

विश्व के महानतम वैज्ञानिकों में एक हुए हैं अल्बर्ट आइंस्टीन। आइंस्टीन ने विज्ञान से जुड़े हजारों सत्यों का उद्घाटन किया। कहते हैं कि जब वे मृत्युशैया पर थे तो उनसे यह प्रश्न किया गया कि वे अपने अगले जन्म में क्या बनना पसंद करेंगे? उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं अगला जन्म या पुनर्जन्म तो नहीं जानता, पर मैं चाहता हूँ कि यदि मेरा अगला जन्म होता हो तो मैं कोरा वैज्ञानिक न बनूँ।' उनके इस उत्तर से सम्पूर्ण विज्ञानजगत अचंभित रह गया कि जिस व्यक्ति ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही विज्ञान के लिए समर्पित कर दिया, वह वैज्ञानिक क्यों नहीं बनना चाहता ?

तब उनके पास मीडिया से जुड़े हुए लोग पहुँचे। उन्होंने उनसे पूछा कि आपके इस प्रकार के उत्तर का क्या कारण है? आइंस्टीन ने जवाब दिया, 'मैंने भले ही विज्ञान से जुड़े हुए अनेक सत्यों को उद्घाटित किया हो, पर मैं वह तत्त्व नहीं खोज पाया जिसके निकल जाने के बाद तुम मुझे मृत कहकर दफना दोगे। आइंस्टीन ने

मरते वक्त यह कामना की थी कि 'मैं इस जन्म में वैज्ञानिक अवश्य बना, पर अगले जन्म में मैं कोई आध्यात्मिक पुरुष बनूँ।

जिसे जाने बिना हजारों सत्य बेमानी रहते हैं, उसी जीवन का नाम अध्यात्म है। भगवान का आज का सूत्र व्यक्ति को उसी अध्यात्म से जोड़ रहा है। वह उसे पदार्थ से, भूत-महाभूत तत्त्व से ऊपर उठाते हुए आत्म-सत्य से रूबरू करवा रहा है। भगवान कहते हैं —

*आरूहवि अंतरप्पा, बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।*

*झाइज्जइ परमप्पा, उवइट्ठं जिणवरिदिहिं॥*

भगवान कहते हैं, 'तुम मन-वचन-काया से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा में आरोहण कर परमात्मा का ध्यान करो।'

भगवान ने हर किसी व्यक्ति के समक्ष इस सूत्र के माध्यम से ध्यान की स्थिति स्पष्ट कर दी है। ऐसा नहीं है कि हम हर स्थिति-परिस्थिति में परमात्मा का ध्यान लगा सकते हैं। हम ऐसा दुस्साहस करते हैं तो हम ध्यान धरेंगे परमात्मा का और ध्यान धरते-धरते परमात्मा तो कहीं दूर छिटक जाएगा और हम अपने किसी प्रिय-अप्रिय का ध्यान करने लगेंगे। हम ध्यान तो धरेंगे किसी धर्म का, मगर ध्यान केन्द्रित हो जाएगा धन्धे पर। इसीलिए भगवान ने अपने इस सूत्र द्वारा हमारे लिए साधना का पथ, ध्यान का मार्ग, कैवल्य और समाधि का रास्ता प्रशस्त किया है।

एक इटैलियन दम्पति मेरे पास बैठी थी। बता रही थी कि हम दोनों रोजाना ध्यान करते हैं। जब उनसे पूछा गया कि किसका ध्यान करते हैं, तो जवाब मिला, मैं इनका और वो मेरा।

यह सब बहिरात्म-भाव है। अंखियों के झरोखों से, मन-ही-मन देखी गई बातें हैं। जब आसक्ति ही देह के प्रति है, एक-दूसरे के प्रति है, तब परमात्मा का क्या खाक ध्यान करोगे?

अगर हम इस सूत्र को गहराई से समझेंगे तो हमारे समक्ष महावीर का ध्यान का मार्ग और उनकी साधना-दृष्टि सहज ही स्पष्ट होती चली जाएगी। इस सूत्र के माध्यम से महावीर ने साधना के तीन सोपान बताए हैं। पहला सोपान है — मन-वचन-काया से बहिरात्म-भाव का त्याग; दूसरा — अन्तरात्मा में आरोहण और तीसरा — परमात्मा का ध्यान।

हम प्रथम चरण लें।

प्रथम चरण में साधना के मार्ग में तीन बाधाएँ आती हैं, जिनके चलते व्यक्ति अन्तरात्मा में आरोहण नहीं कर पाता। ये तीनों बाधाएँ उसके सामने उस दीवार के समान खड़ी हो जाती हैं जो व्यक्ति को दीवार के उस ओर जल रहे अन्तरात्मा के दीप से साक्षात्कार नहीं करने देती।

पहली बाधा है शरीर। यह स्थूल है। इसके भीतर स्थित है विचार और उसके भीतर मन। महावीर ने जिसे काया कहा, उसे ही विज्ञान ने बॉडी कहा। महावीर ने जिसे विचार कहा, विज्ञान ने उसे ही कॉन्शियस माइन्ड या चेतन मस्तिष्क कहा। महावीर ने जिसे मन कहा, विज्ञान ने उसे ही अनकॉन्शियस माइन्ड कहा। मन के दो रूप हैं। एक चेतन और दूसरा अवचेतन। अवचेतन मन को ही सामान्य भाषा में हम चित्त और मन कहते हैं। लगता तो ऐसा ही है कि चित्त और मन एक दूसरे के पर्याय हैं, पर इन दोनों में गहरा फर्क है। मनुष्य का सोया हुआ मन ही उसका चित्त है और उसका जागा हुआ चित्त ही उसका मन है। मनुष्य का जागा हुआ चित्त ही उसका कॉन्शियस माइन्ड है और उसका सोया हुआ मन ही उसका अनकॉन्शियस माइन्ड है। दोनों में फर्क यह है कि एक सोया हुआ है और दूसरा जाग्रत, एक अन्तर व्याप्त है, दूसरा प्रकट।

हम सबसे पहले प्रारम्भ करें शरीर से। यह शरीर स्थूल है जो हमें प्रत्यक्ष दिखता है। इसको हमने नहीं बनाया। यह तो हमें अपने माता-पिता के द्वारा मिली भेंट है। कुदरत की एक सौगात। महावीर ने एक तरफ तो शरीर को साधना-भाव में कंटक बताकर कहा कि मन-वचन-काय के बहिरात्मभाव को छोड़कर अन्तरात्मा में आरोहण किया जा सकता है और दूसरी तरफ हम कहते हैं, 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं।' यानी शरीर ही साधना का प्रथम साधन है। इस बात को यदि हम गहराई से समझें तो इन शब्दों के मर्म को समझा जा सकता है।

शरीर व्यक्ति के लिए साधना में प्रथम सहायक है, पर वह कंटक या बाधा उस समय बन जाता है जब व्यक्ति उस शरीर के प्रति मूर्च्छित होकर उस शरीर को ही स्वयं (आत्म-तत्त्व) मानने लगता है। शरीर तो आत्मा के रहने के लिए मकान भर है। जिस प्रकार मकान और उसमें रहने वाला मालिक भिन्न होता है, वैसे ही आत्मा और शरीर का संबंध है। जब तक व्यक्ति मकान में रहता है, तब तक वह उसके लिए उपयोगी है, पर जब व्यक्ति में मकान रहने लग जाए तो वह उसके सहज सुख के लिए बाधक हो जाया करता है।

जिस प्रकार कार और उसका चालक अलग-अलग होते हैं, उसी प्रकार शरीर और आत्मा हैं। जैसे चालक कार को चलाता है, वैसे ही आत्मा शरीर को चलाती है। जब तक आत्मा शरीर का संचालन करे, तब तक तो ठीक है, पर जब आत्मा शरीर की गुलामी करने लगे तो व्यक्ति के लिए यह घातक हो जाया करता है। यह हम पर निर्भर है कि हम शरीर को अपना कर्मचारी बनाते हैं या अपना संचालक। शरीर ने जो-जो खाने की इच्छा की, उसकी पूर्ति यदि कर दी जाए तो यह शरीर की गुलामी ही हुई। यदि मन पर विजय प्राप्त कर शरीर को मन की इच्छित वस्तुएँ नहीं दी गई तो यह उस पर स्वयं का संचालन, स्वयं का नियन्त्रण है। शरीर के रोगग्रस्त होने पर हम दुखी हो जाते हैं तो यह शरीर के प्रति हमारी गुलामी और मूर्च्छा भाव है। यदि रोगों के आक्रमण पर भी हम अपनी समता नहीं खोते हैं तो यह व्यक्ति का शरीर पर अपना अधिकार है।

हम एक साध्वी का उदाहरण लें जिनका नाम था विचक्षणश्री। उनको जीवन की सांध्यवेला में कैंसर जैसी भयानक बीमारी ने घेर लिया किन्तु वे ऐसे असाध्य रोग के प्रति भी उसी प्रकार निर्लिप्त रहीं जैसे कि कीचड़ से कमल की पांखुरियाँ। इतनी भयानक वेदना ! जब भी कोई व्यक्ति उनके दर्शन के लिए जाता तो वे अपने जाप और ध्यान में तल्लीन रहतीं। उनके चेहरे पर इस प्रकार के सहज सौम्य भाव होते कि जैसे वे एकदम नीरोग और स्वस्थ हों। उनकी छाती पर कैंसर की गांठों से रिसता मवाद और खून भी उनको तनिक भी विचलित नहीं कर पाता। एक आम आदमी तो एक छोटी सी फुंसी होने पर ही घबरा जाता है, रोने लगता है, पर वह साध्वी तन में व्याधि और मन में समाधि की स्थिति को उपलब्ध हो गई थीं। मैं इसे विदेह स्थिति कहूँगा।

जब छाती के एक हिस्से में बहुत बड़ी गाँठ हो गई तो डॉक्टरों ने कहा कि हम आपको बेहोश कर इस गाँठ से मवाद निकालना चाहते हैं। उनका जवाब था, 'इतने जन्मों तक मैं इस शरीर की मूर्च्छा से मूर्च्छित ही तो थी। अब पुण्यों से जागृत हुई हूँ। अब मैं बेहोशी में जीवन खोना नहीं चाहती। तुम मुझे मेरी माला दे दो और तुम्हें जो कार्य करना है, उसे करो।' तब वह साध्वी अपने जाप और ध्यान में इतनी एकाग्र तथा इतनी तल्लीन हो गई कि कब उसका मवाद निकाला गया, उसे पता ही नहीं चला। यह है शरीर के प्रति अनासक्ति, शरीर के प्रति वीतराग और वीतमोह का भाव।

जब तक व्यक्ति शरीर के प्रति आसक्त और मूर्च्छित है, तब तक शरीर साधना के लिए बाधक है, पर जब व्यक्ति शरीर के प्रति अनासक्त हो जाता है तो वह साधना की प्रथम बाधा, जिसे महावीर ने शरीर कहा, उससे मुक्त हो जाता है।

हम शरीर-साधना का दूसरा उदाहरण लें। दूसरे प्रकार के वे लोग जो शरीर को साधना तो चाहते हैं पर उसके लिए वे एक बहुत ही प्रचलित योग – हठयोग अपनाते हैं। हठयोगी शरीर पर नियन्त्रण पाने के लिए कितने ही प्रकार की कठोर क्रियाएँ तथा कितने ही कठोर आसन करते हैं। यदि किसी हठयोगी से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं होता तो वह कड़ों का सहारा लेता है ताकि उसकी इन्द्रियाँ संयम में रहें।

एक बहुत ही प्रचलित परम्परा है – अवधू या अवधड़ परम्परा। उसमें गुरु दीक्षा देने से पहले शिष्य को मल-मूत्र तक का सेवन करवा देते हैं। ऐसे व्यक्ति भूख लगने पर किसी का मल भी उठाकर खा लिया करते हैं। वे लोग का मांस और खून भी पी जाया करते हैं। वाराणसी और इलाहाबाद जैसे क्षेत्रों में वे नंगे या गन्दे कपड़ों में श्मशान या मैली कुचैली जगह पर बैठकर तन्त्रसाधना किया करते हैं। कहते हैं कि यदि कोई मुर्दा गंगा में बह रहा हो और यदि ये आवाज दे देते हैं तो बहता हुआ मुर्दा भी इनके पास आ जाता है। उन्होंने मुर्दे का पेट फाड़ा, जितना मांस अच्छा लगा, उतना खाया और बाकी का बहा दिया। इनका पता ही नहीं चलता कि वे क्या करते हैं। शरीर-संयम या स्वाद-विजय ?

महावीर शरीर-संयम के ये तरीके कतई स्वीकार नहीं करते। वे तो हर व्यक्ति को साधना की वह अन्तरदृष्टि देना चाहते हैं कि जहाँ शरीर है, पर व्यक्ति शरीर के भावों से उपरत है। रोग है, पर व्यक्ति रोग का साक्षी भर है। तब भोजन की आकांक्षा शरीर से उठती है, पर हम भोजन करने वाले नहीं अपितु हम तो शरीर में मात्र भोजन डालते हुए देखने वाले हैं। जब व्यक्ति की शरीर के प्रति आसक्ति क्षीण होती है, तब व्यक्ति महावीर की साधनादृष्टि का प्रथम सोपान पार कर ही लेता है।

बहिरात्म-भाव का दूसरा चरण है 'विचार', जो कि शरीर से भी सूक्ष्म है। व्यक्ति जैसा-जैसा विचार करता है, शरीर वैसा-वैसा ही तो सम्पादित करता है। वह तो विचार की प्रेरणाओं से ही अपनी गतिविधियाँ सम्पादित करता है। शरीर तो बेचारा एक गुलाम है जिसे तुम मंदिर ले जाओ तो वह मंदिर चला जाएगा और यदि मदिरालय ले जाओगे तो मदिरालय चला जाएगा। तुम शरीर को व्यर्थ ही मत

सताओ। मूल दोषी तो व्यक्ति के विचार हैं। व्यक्ति ने विचारों के आधार पर ही इतने दुराग्रह पाल रखे हैं कि 'यह मेरा विचार, यह तेरा विचार; यह मेरा पंथ और यह तेरा पंथ' जबकि वास्तविकता तो यह है कि विचार के आधार पर पलने वाले सभी आग्रह ही साधना के पथ में बाधक हैं। महावीर किसी विचार की स्थापना नहीं करते। वे तो निर्विचार होने की प्रेरणा देते हैं।

महावीर के साधनामार्ग की शुरुआत ही निर्विकल्प और निर्विचार दिशा की ओर से होती है। विचार तो अस्थायी होते हैं, क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील होते हैं। जैसे व्यक्ति के शरीर की पर्यायें अर्थहीन होती हैं, वैसे ही विचार मन की निरर्थक पर्याय है। लोग अपनी किताबों में लिखते हैं कि ये मेरे विचार, मेरे दृष्टिकोण। मैं पूछना चाहूँगा कि आपके जो विचार आते हैं, क्या दो साल पहले भी वे ही विचार हुआ करते थे? जब विचार अनित्य व क्षणभंगुर हैं तो विचारों को लेकर कैसा आग्रह, कैसा झगड़ा? व्यक्ति को सत्याग्रही नहीं होकर सत्यग्राही होना चाहिए अर्थात् सत्य का आग्रह न हो, बल्कि सत्य को ग्रहण किया जाए।

भगवान महावीर ने एक बहुत ही प्यारी घटना कही। चार अंधे किसी रास्ते से कहीं जा रहे थे। लोगों ने उन्हें चेताया कि इस रास्ते पर सावधानी से जाना क्योंकि इस रास्ते पर हाथी रहता है। तुम उससे टकरा कर कहीं गिर न जाओ। अन्धों ने मन में सोचा कि चलो, आज हाथी को भी देख लिया जाए कि हाथी कैसा होता है? वे देख नहीं सकते थे, पर उनमें जानने की गहरी इच्छा थी। चारों चले। रास्ते में हाथी मिला। हाथी बेचारा सीधा रहा होगा। एक अंधे ने हाथी के कान छुए और बोला कि अच्छा, हाथी ऐसा होता है। दूसरे के हाथ में हाथी की पूँछ आई तो वह बोला कि अब मेरी समझ में आ गया कि हाथी ऐसा होता है। तीसरे के हाथ में हाथी के पाँव आए तो वह बोला अब मैंने हाथी को पहचान लिया और चौथे के हाथ में हाथी की सूँड आई वह भी बोला हाँ-हाँ हाथी कैसा होता है, मुझे मालूम पड़ गया है।

चारों व्यक्ति शाम के समय किसी चौपाल पर मिले और आपस में बतियाने लगे। पहला व्यक्ति जिसने कि हाथी के कान छुए थे, वह बोला 'मित्रो! आज मैंने हाथी को जान लिया है। हाथी बिल्कुल किसी हवा करने वाले पंखे या अनाज साफ करने वाले सूप के समान होता है।' तभी दूसरा बोला, 'अरे! तुम गलत कहते हो। हाथी तो बिल्कुल एक रस्सी के समान होता है। उसके हाथ में हाथी की पूँछ

आई थी।' तभी तीसरा व्यक्ति जिसके हाथ में हाथी के पाँव आए थे, चिल्लाकर बोला, 'बेवकूफो, हाथी तो किसी खम्बे के समान होता है।' चौथा व्यक्ति जो अब तक चुप था वह बोला, 'मुझे लगता है कि तुम सब मूर्ख हो। तुमने किसी ने भी हाथी को सही नहीं जाना। अरे! हाथी तो किसी अजगर के समान होता है। चौथे व्यक्ति के हाथ में हाथी की चिकनी सूँड आई थी।' अब चारों ही व्यक्तियों में विवाद बढ़ गया। चारों ही आपस में अपने-अपने पक्ष में तर्क देकर लड़ने लगे।

तभी वहाँ एक समझदार व्यक्ति आया। उसने उन चारों की बातें सुनी तो वह बोला, 'तुम अकारण ही लड़ते हो, क्योंकि तुम चारों ही सही हो। हाथी वह है जिसके पाँव किसी बिजली के खम्बे के समान होते हैं, जिसके कान किसी हवा करने वाले पंखे के समान हैं, जिसकी पूँछ किसी रस्सी के समान है और जिसकी सूँड किसी चिकने अजगर के समान है। तुम चारों के पास ही सत्य का एक-एक अंश है। यदि तुम चारों ही अपने-अपने अंश को जोड़ लो तो पूर्ण सत्य तुम्हारे पास आ जाएगा।'

आज व्यक्ति की स्थिति उन अन्धों के समान ही है जो अपने-अपने पक्ष को लेकर अपने-अपने आग्रहों और विचारों को लेकर विवाद कर रहे हैं, आपस में लड़ रहे हैं जबकि महावीर कहते हैं कि हर व्यक्ति के पास सत्य का अंश है। यदि हम हमारे विरोधी को भी ध्यानपूर्वक सुनें तो लोगो कि उसकी बात में भी सच्चाई है। जहाँ सारे सत्य के अंशों को मिलाकर देखा जाए, वहीं अनेकान्तवाद होता है और जहाँ मात्र सत्य के एक-एक अंश को देखा जाए, उसी का नाम एकान्तवाद या नयवाद हो जाया करता है।

महावीर ने विचार को सबसे बड़ी बाधा बताया, लेकिन उससे भी बड़ी बाधा मन को बताया जो कि विचारों की जन्मस्थली है। व्यक्ति का जागृत मन विचार है और सोया हुआ मन चित्त या वृत्ति है। दोनों में अन्तर समझ लें। व्यक्ति के दिमाग में जो क्षण-प्रतिक्षण चिनगारियाँ सुलगती रहती हैं, उनका नाम विचार है और व्यक्ति के अचेतन मन में जो पुद्गल-परमाणु एकत्र रहते हैं, उसे कहते हैं चित्त-वृत्ति या अनकाँन्शियस माइन्ड। विचार, विकल्प, कल्पना, स्मृति तो क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील होते रहते हैं, पर व्यक्ति का चित्त या वृत्ति वह संस्कार और मूल भाव है जिन्हें व्यक्ति साथ लेकर जन्मता है। यह परिवर्तनशील नहीं हैं। व्यक्ति जिन संवेगों, उद्वेगों और वृत्तियों को लेकर जन्मता है, उनमें तीन मूल वृत्तियाँ हैं।

पहली है आहार की, दूसरी है भय की और तीसरी है काम या मैथुन की वृत्ति। यह वर्गीकरण फ्रायड का है। महावीर कहते हैं कि व्यक्ति में चार वृत्तियाँ या संज्ञाएँ होती हैं आहार, भय, मैथुन और निद्रा। ये वृत्तियाँ व्यक्ति के अन्तरमन में पैदा होती हैं। व्यक्ति की साधना में सबसे बड़ा कोई बाधक तत्त्व है तो वह है उसका मन, क्योंकि मन जो आदेश देता है, इन्द्रियाँ उसे शरीर के साथ मिलकर पूरा करती हैं।

व्यक्ति का मन बड़ा ही चालक है। वह सपने तो दिखाता है स्वर्ग के, और ले जाता है नरक की ओर। ख्वाब तो दिखाता है किसी सुख के, लेकिन मन का अनुसरण करने पर मिलता है दुःख। व्यक्ति मन के कारण ही तो वह सब कुछ कर बैठता है जो शायद वह नहीं करना चाहता। मन ही तो है जो यह सोचता है कि मुझे इसको पाना है, इसको छोड़ना है, यह करना है और यह नहीं करना है, उपवास करना है या उपभोग करना है। ये सब मन की ही तो देन हैं। उपवास करता है तो मन रात को ही उकाली पापड़ और मोगर की सोचता है और जब सुबह सब खाता है तो सोचता है कि अगली बार फिर उपवास कर लिया जाएगा। मनुष्य का मन तो बिन पेंदे के उस पात्र के समान है जिसको भरना असम्भव है। उसे चाहे जितना भरो, वह फिर-फिर खाली हो जाया करता है। व्यक्ति द्वारा मन की इच्छापूर्ति का प्रयास करना तो चलनी में पानी भरने के समान है। हर बार मन कहता है कुएँ में उतर और व्यक्ति उतर जाता है। मन की छेद वाली चलनी ले कर व्यक्ति और पानी निकालता है, कभी काम के रूप में, कभी क्रोध के रूप में, कभी राग और कभी द्वेष के रूप में और प्रयास करता है मन की चलनी को भरने का, पर असंख्य छेदों वाली चलनी क्या कभी भर पाई हैं?

मनुष्य का मन तो बे-पेंदे के लोटे के समान है जो कभी इधर लुढ़कता है तो कभी उधर। यह कभी तृप्त नहीं होता। किसी को कहो कि मन से दो मिनट के लिए शांत हो जाओ तो वह ऐसा नहीं कर सकेगा। एक लाख जाप करना व्यक्ति के लिए सहज है, परन्तु एक सौ मिनट भी मन को शांत रखना दुरूह है। व्यक्ति के लिए दस घण्टे की दया पालना आसान है, पर दस मिनट के लिए भी मन और शरीर में उठने वाले धर्मों पर नियन्त्रण रखना उसके लिए बहुत कठिन है।

इतिहास की एक बहुत प्रसिद्ध घटना है। बल्ख देश के सुल्तान इब्राहीम के पास एक फकीर पहुँचा और बोला, 'सुल्तान! मैंने तुम्हारे बारे में बहुत सुना है कि तुम अपने दरबार में आए हुए किसी व्यक्ति को निराश नहीं करते। उसको मुँह

मांगा दान देकर उसकी हर इच्छा पूरी करते हो, इसीलिए मैं सूदूर अफगानिस्तान से तुम्हारे पास आया हूँ। अपना एक पात्र भी लाया हूँ, जिसे तुम भरो, यह मेरी इच्छा है।' सुलतान ने जब यह सब सुना तो वह प्रसन्न होकर बोला, 'तुम इतनी दूर अफगानिस्तान से चल कर हमारे पास आए हो तो हम भी तुम्हारा पात्र गेहूँ या चावल से नहीं, बल्कि सोने की अशर्फियों से भरेंगे।' कोषाध्यक्ष को आदेश दिया गया कि सोने की अशर्फियों से फकीर के उस पात्र को भरा जाए।

फकीर ने अपनी झोली से एक छोटा-सा पात्र निकाला। कोषाध्यक्ष ने उसमें अशर्फियाँ डालना प्रारम्भ किया। उस पात्र भर के पात्र में पाँच किलो अशर्फियाँ उँडेल दी गईं तो भी वह पात्र पूर्ववत् खाली का खाली। सुलतान चौंक पड़ा। उसने सोचा कि यह तो मेरी प्रतिष्ठा का सवाल है। पात्र तो मुझे भरना ही है। उसने कोषाध्यक्ष को आदेश दिया कि राजकोष में जितना भी धन है उससे उस फकीर का पात्र भर दिया जाए। इतिहास बताता है कि सम्पूर्ण खजाना उस फकीर के पात्र में उँडेल दिया गया, तब भी वह पात्र खाली ही रहा। सुलतान शर्मिन्दा होकर उस फकीर के चरणों में गिर गया और बोला, 'महाराज, मुझे माफ करें और जाने से पहले कृपया यह अवश्य बताएँ कि आखिर यह चमत्कारी पात्र बना किस धातु से बना है?' फकीर बोला, 'सुलतान ! यह पात्र किसी अन्य धातु का नहीं, बल्कि तुम्हारे मन के परमाणुओं से ही बना है। जैसे तुम्हारा मन इतना कुछ पाने पर भी अभी तक तृप्त नहीं हुआ, वैसे ही यह पात्र भी है।'

यह मन का पात्र है ही ऐसा कि इसको कितना ही भर दो, यह खाली का खाली रहता है। ऐसा मत सोचना कि बीस वर्ष की उम्र में ही यह अतृप्त रहता है, बल्कि अस्सी वर्ष के वृद्ध का मन भी वैसे ही उछल-कूद किया करता है। एक नासमझ बालक की तरह मन कभी यह करने की इच्छा करता है तो कभी वह; कभी यहाँ जाना चाहता है तो कभी वहाँ; कभी यह खाने की इच्छा करता है तो वह कभी सोने की।

भगवान कहते हैं कि साधना के मार्ग में तीन बाधाएँ हैं मन, वचन और काया। इनके बहिरात्म-भाव का त्याग कर अन्तरात्मा में आरोहण कर परमात्मा का ध्यान करो लेकिन किसी तरह की हड़बड़ी नहीं — 'उतावला सो बावला।' पहले व्यक्ति स्वयं का आत्म-निरीक्षण करके देखे कि क्या मैं परमात्मा के ध्यान के योग्य हूँ? मेरा अपने मन, वचन और काया के धर्मों पर कितना नियन्त्रण है?

धर्म आदतन नहीं हो जैसे कि एक व्यक्ति की सामायिक करने की पूजा करने की या मंदिर जाने की आदत पड़ जाती है। यह बुरा नहीं है तो अच्छा भी नहीं है। धर्म तो वह है जो व्यक्ति के आचरण में परिवर्तन ला दे। आदतन धर्म तो शराब, चाय या कॉफी की लत की तरह है क्योंकि व्यक्ति समय आने पर उन क्रियाओं का अभ्यस्त हो जाता है। इसलिए महावीर कहते हैं कि तुम मेरे अनुयायी बनने की जल्दी मत करो। पहले तुम उस मार्ग को सम्यक्-रूपेण जानो जिस पर तुम चलना चाहते हो। मार्ग को जानने के पश्चात् उस पर चलने का प्रयत्न करो।

यदि व्यक्ति मन, विचार और काया के धर्मों को सही रूप से नहीं समझ पाया तो जब वह ध्यान के लिए बैठेगा तो वह मन के कुँ में ही गोते लगाता रहेगा। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति जब ध्यान में बैठे तो सबसे पहले अपने शरीर को, उसके धर्मों को, शरीर में उठने वाली वेदना-संवेदनाओं को ध्यान से देखे और उनसे उपरत होने का प्रयास करे। अपने विचारों को देखे और उनसे उपरत होने का प्रयास करे। अपने विचारों को देखे और स्वीकार करे कि किस तरह के विचार उठते हैं। मन और उसके धर्मों को भी साक्षी-भाव से देखे। जप, तप, ध्यान बाद में हैं। पहले व्यक्ति मन, वचन और काया पर विजय प्राप्त करे। स्व-चित्त के प्रति होने वाले सम्यक् जागरण का नाम ही ध्यान है। चित्त के शांत और उपशांत होने पर प्राप्त होने वाली अनुभूति ही आत्मज्ञान या आत्मानन्द है।

चूँकि मैंने देखा है शरीर के गुण-धर्मों को, जाना है विचारों में उठने वाले भावों को और समझा है चित्त पर पड़े अनन्त जन्मों के संस्कारों को, इसीलिए मैं अनुरोध करता हूँ कि अपने चित्त के प्रति जागृत होना ही पर्याप्त है। ध्यान यही है। जब चित्त की उठापटक शांत होगी तो शांति के उन क्षणों की जो अनुभूति शेष रहेगी, उसी से आत्मज्ञान का प्रकाश पल्लवित होगा।

इसीलिए भगवान ने कहा कि व्यक्ति प्रथमतः मन, वचन और काया के बहिरात्म-भाव का त्याग करे, फिर दूसरे चरण में अन्तरात्मा में आरोहण करे। सबसे पहले व्यक्ति संसार को ध्यानपूर्वक देखे। देखे राह में आते-जाते पक्षी को, सागर में उठने-गिरने वाली लहरों को, और फिर सोचे कि क्या हमारा जीवन भी इन राहगीरों की तरह ही तो नहीं है जो कुछ पल के लिए दिखते हैं और फिर आँखों से ओझल हो जाते हैं? मनन करें कि हमारा जीवन इन लहरों की तरह तो नहीं है कि जैसे लहरें उठती और गिरती हैं वैसे ही व्यक्ति जन्म और मृत्यु की लहरों पर सवार है।

देखो, आकाश में उड़ने वाले परिन्दे को। कहीं यह हमारा मन ही तो नहीं है जो इच्छाओं के आकाश में अपने पंख फड़फड़ा रहा है। जगत को ध्यानपूर्वक देखते-देखते व्यक्ति की जगत के प्रति रही आसक्ति की ग्रन्थि शिथिल होने लग जाएगी और तब अनासक्ति के फूल खिल उठेंगे। शरीर को देखें, उसमें उठने वाली हर वेदना-संवेदना के प्रति सदैव जागृत रहें। यह नहीं कि किसी ने रसगुल्ला दिया तो डाल दिया मुँह में, इलायची दी तो डाल दी मुँह में। पहले हम देखें कि क्या हमारे शरीर में भूख की वेदना प्रारम्भ हुई है? क्या भोजन ग्रहण करने की आवश्यकता है? जब लगे कि हाँ, तब ही खाएँ।

अगर भीतर में लगता है कि शरीर के गुणधर्म जाग्रत हो रहे हैं तो पहले उन गुणधर्मों को, विचारों और मन को अच्छी तरह जानें, तब उन निमित्तों के पास जाएँ। शरीर की भँड़ास भी समझ, बोध और धैर्य के साथ प्रगट करें। समझ आ जाने पर ही अनासक्ति का फूल खिलेगा। तब साधक आगे बढ़कर जानेगा कि मेरा किसके प्रति राग, किसके प्रति द्वेष; कौन अपना और कौन पराया? यह सब तो मुझसे उसी प्रकार भिन्न हैं कि जैसे सागर के तट पर खड़ा कोई नारियल का वृक्ष और सागर। वृक्ष सागर को निहारता है और जानता है कि सागर उससे भिन्न है। उसी प्रकार कोई साधक, कोई दृष्टा, कोई साक्षी-पुरुष संसार में सबके साथ रहते हुए भी संसार से अलग रहता है। इस तरह भगवान ने साधना के तीन सोपान दिए। पहला, मन-वचन और काया के सभी अनुकूल और प्रतिकूल भावों की प्रतिबद्धता से मुक्ति, बहिरात्म-भाव का त्याग। दूसरा चरण है अन्तरात्मा में आरोहण और उसके बाद ही व्यक्ति परमात्मा के ध्यान के योग्य होता है। एक तरह से इस सम्पूर्ण ध्यान-पद्धति में बाहर से भीतर की ओर मुड़ना, भीतर के कोलाहल को शांत करना और फिर पराशक्ति का ध्यान धरना अनिवार्य हो जाता है। यही है सार रूप में ध्यान-पद्धति। यह सूत्र ध्यान की पद्धति पर प्रकाश डालता है।

भगवान ने अगला सूत्र दिया –

को णाम भणिज्ज बूहो, णाउं सव्वे पराइए भावे।

मज्झमिणं ति य वयणं, जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥

भगवान कहते हैं, 'आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने वाला, परकीय भावों को जानने वाला ऐसा कौन ज्ञानी होगा जो कहेगा कि यह मेरा है।' व्यक्ति तभी तक ममता की जंजीरों में बंधा रहता है जब तक उसे अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का

ज्ञान नहीं होता। जब उसे अपने विशुद्ध आत्म-स्वरूप का भान हो जाता है, तब व्यक्ति यह नहीं कहता कि मेरे विचार, मेरे मित्र, मेरा परिवार, मेरा घर, मेरा पुत्र, मेरा पंथ, मेरा उपाश्रय। दुनिया में मेरा क्या है? आप कहते हैं मेरा शरीर, पर यह तो यहीं जल जाएगा। आप कहते हैं कि मेरे कपड़े, ये भी कुछ समय पश्चात् फट जाते हैं। आप कहते हैं मेरा भोजन। यदि वह आपका है तो फिर मल क्यों बन जाता है ?

व्यक्ति का ममत्व भाव इतना प्रगाढ़ है कि धर्मशाला में भी यदि किसी कमरे में वह ठहरता है तो वहाँ भी अपना ताला लगा देगा और कहेगा कि यह मेरा कमरा है। एक महिला जिसने भगवान के पालने की बोली ली थी। उसको मैंने कहा कि पालने की भक्ति का कार्यक्रम मंदिर में रख लेते हैं। वह तुरन्त बोली कि 'नहीं, भक्ति का कार्यक्रम तो मेरे कमरे में ही होगा।' मैंने सोचा, 'अहो ! व्यक्ति की मूढ़ता तो देखो कि धर्मशाला से भी जहाँ एक दिन के लिए वह ठहरी, उसे भी वह अपना बता रही है !' राजनेता तो सीट के लिए लड़ते ही हैं, पर एक ट्रेन या बस में कुछ समय के लिए यात्रा करने वाला व्यक्ति भी आरक्षण का हवाला देकर सीट के लिए झगड़ता है।

'मैं और मेरा' भाव ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट नहीं होने देता। मैं अहंकार का सूचक है और मेरा उस अहंकार का पोषक। बकरी जिस प्रकार दिन-रात मैं-मैं करती है उसी प्रकार आदमी भी तो दिन रात मैं-मैं करता है। क्या मैं और क्या मेरा? इस संसार में किसी की भी अकड़ कहाँ तक रही है ? हम सब तो मुण्डेर पर सजाए जाने वाले उस दीपक की तरह हैं जो मिट्टी से ही बनते हैं और मिट्टी में ही मिल जाते हैं। तुम बेटे को अपना समझता हो और बेटा समझे कि माँ-बाप मेरे। कोई किसी का नहीं है। यह तो संयोग था कि तुमने अमुक माँ-बाप के निमित्त से जन्म लिया है।

सच तो यह है कि जीवन की सारी व्यवस्थाएँ एक संयोग भर हैं। लाभ भी एक संयोग है, और हानि भी। मृत्यु तो संयोग है ही, जन्म भी एक संयोग ही है। व्यक्ति संयोग को एक संयोग भर जान ले तो उसकी सारी आपाधापी शान्त हो जाए। वह व्यक्ति के साथ भी रहेगा और वस्तु के साथ भी, फिर भी दोनों के प्रति 'मैं' और 'मेरे' का अनावश्यक आग्रह नहीं होगा। जीवन की बोध-दृष्टि भी हमें यही सुझाती है कि हम शरीर को शरीर जितना महत्त्व दें और शरीर में रहने वाले आत्म-तत्त्व को आत्म-तत्त्व जितना। जीवन शरीर और आत्मा – दोनों का संयोग

है। जीवन में गुलामी की शुरुआत तब होती है जब हम शरीर और उसकी व्यवस्थाओं को ही सर्वाधिक अहमियत दे बैठते हैं।

अध्यात्म ने मानव-मुक्ति के लिए भेद-विज्ञान की बात कही है। भेद-विज्ञान शरीर और आत्मा के बीच एक भेदरेखा स्थापित करता है। जैसे हंस दूध और पानी को अलग-अलग करने और देखने की क्षमता रखता है। भेद-विज्ञान हमें ऐसी ही हंस-दृष्टि प्रदान करता है। कोई अगर मुझसे पूछे कि साधक की अन्तर्दृष्टि कैसी होनी चाहिये तो मेरा जवाब होगा 'हंस-दृष्टि'।

हमें यह बोध रहे कि हम शरीर में अवश्य रहते हैं, किन्तु हम शरीर नहीं है। विचारों का उपयोग करते हैं, किन्तु विचार नहीं है। मन हमारी शक्ति है जबकि हम मन नहीं हैं। मन, वचन और काया को अपने से भिन्न देखना अथवा स्वयं को मन-वचन-काया से अलग देखना यही अध्यात्म की जीवन-दृष्टि है। जैसे कोई व्यक्ति किराये के मकान में रहता है और उसका उपयोग करता है वैसे ही हम अपने मन-वचन-काया को भी किराये का मकान ही समझें। भला अगर कोई कैदी जेलखाने को ही अपना घर मान बैठेगा तो वह उससे कैसे मुक्त हो सकेगा ? घर, घर होता है और जेल-खाना, जेल-खाना। हम माल को कहीं मालिक से अधिक कीमत न दे बैठें। माल तो मालिक के उपयोग करने की चीज है। उसके प्रति मोह-मूर्च्छा रखकर 'मैं और मेरे' का दुराग्रह और अंधविश्वास न पालें।

हम मकान में रहें, पर इस बोध के साथ कि मकान हमारे रहने की एक व्यवस्था है।

हम परिवार के बीच रहें, पर इस बोध के साथ कि हम जिस परिवार में रहते हैं, उस परिवार के ममत्व तक तो कहीं हम सीमित नहीं हैं।

हम शरीर के मकान में रहते हैं पर हम शरीर नहीं हैं। शरीर का हमारे लिए उतना ही महत्त्व है, जितना किसी देवता की प्रतिमा रखने के लिए मंदिर का।

वाणी अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। उसके साथ मैं का अहं और मेरे का मोह न हो।

मन की पर्यायें परिवर्तनशील हैं। वह विचारधाराओं का एक काफिला है। हम मन के बहाव में नहीं बल्कि बोध की सजगता में जियें।

आत्म-दृष्टि रखने वाला व्यक्ति स्व को स्व जानता है और पर का पर। गुजराती में एक प्यारा सूत्र है—‘स्व मां वश, पर थी खस, ऐटलुं बस।’ यानि अपने में बसो, पर-भाव से ऊपर उठो, भेद-विज्ञान का यही सार-संदेश है। ‘सहजात्म स्वरूप परम गुरु।’ आत्मा का सहज स्वरूप ही व्यक्ति का श्रेष्ठ गुरु है। सहज स्वरूप ही व्यक्ति का मंदिर है। सहज स्वरूप ही व्यक्ति का तीर्थ है। अपने सहज स्वरूप में निमग्न होना ही श्रेष्ठ तीर्थयात्रा है। आत्म-स्वीकृति, आत्म-बोध और आत्म-रमण। निर्वाण-पथ के यही तीन रत्न हैं, मील के पत्थर हैं, प्रकाश-स्तम्भ हैं।

□□□



## मार्ग तथा मार्गफल

मेरे प्रिय आत्मन् !

महावीर के वक्तव्य किसी सदग्रंथ के उपदेश नहीं हैं, वरन् जीवन की वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति हैं। महावीर के उपदेश न केवल अतीत में ही उपयोगी रहे हैं, वरन् उनकी प्रासंगिकता आज भी बरकरार है। धरती पर जब तक कोई भी मनुष्य बुद्धि और हृदय के द्वारा जीवन की राहों को पार करता रहेगा, तब तक महावीर के उपदेशों और सिद्धांतों की उपयोगिता निर्विवाद बनी रहेगी।

यदि कोई भी धर्म, कोई भी महापुरुष अपनी बात प्रस्तुत करते समय उससे जुड़े वैज्ञानिक पहलू को भी साथ लेकर चलता है तो ऐसा नहीं है कि उस बात या तथ्य को केवल उस धर्म या उस महापुरुष के अनुयायी ही स्वीकार करें, वरन् वह बात समग्र मानवजाति के लिए आचरण और अनुकरण करने योग्य है।

अगर आज महावीर के कुछ सिद्धांत समग्र मानव जाति के लिए उपयोगी और समर्थनीय बने हुए हैं तो इसका कारण यह है कि उन सिद्धांतों के पीछे छिपी हुई मनोवैज्ञानिकता को आज के वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है। यदि महावीर के कुछ सिद्धांत या बातें आज सिद्ध नहीं हो पाई हैं तो उसका मूल कारण यही है कि उन बातों को स्वीकार करने वालों या उनका समर्थन करने वाले महानुभावों ने उनकी वैज्ञानिकता को सिद्ध करने का उपक्रम ही नहीं किया है।

अगर कहीं हमारे विचारों और महावीर के सिद्धांतों में मैत्री संबंध दिखाई देता है तो इसलिए कि कुछ ऐसी बातें जो हमारे गले उतर चुकी हैं जिसके कारण हम महावीर को अपने साथ, एक दीपशिखा की तरह अपने मार्ग को आलोकित करने हेतु साथ लिए चलते हैं।

यदि कुछ ऐसी बातें हैं जो हम जी नहीं पा रहे हैं या हम उनके साथ सही तालमेल नहीं बैठा पा रहे हैं तो इसका मूल कारण यही है कि उन बातों की दुहाई देने वाले उन बातों के पीछे छिपी हुई गहन मनोवैज्ञानिकता को सिद्ध नहीं कर पाए।

जब विश्वस्तर के वैज्ञानिक आइंस्टीन ने सापेक्षवाद का सिद्धांत दिया तो महावीर के नयवाद या अनेकांतवाद के सिद्धांत की वैज्ञानिकता स्वतः ही सिद्ध हो गई अन्यथा पिछले पच्चीस सौ वर्षों में उस सिद्धांत की महान् वैज्ञानिक दृष्टि को न समझ पाने के कारण अनेकांतवाद जैसे महान् सिद्धांत की सिर्फ खिल्ली ही उड़ाई गई थी। बीसवीं और इक्कीसवीं सदी में इस सिद्धांत ने जितना आदर पाया, उतना पिछली बीस सदियों में भी शायद ही पाया होगा। यदि इस सिद्धांत को पहले ही समझ लिया जाता तो आज महावीर के धर्म के इतने बँटवारे नहीं होते। उस स्थिति में एक आचार्य दूसरे आचार्य के कथन पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप करने की बजाय वह उनके विचारों को आदर और सम्मान ही देता।

जब मार्क्स और लेनिन ने अर्थसाम्यवाद की स्थापना पर जोर देते हुए कम्युनिष्ट विचारधारा को जन्म दिया तब लोगों की नजर महावीर के अपरिग्रह, असंग्रह और परिग्रह-परिमाण व्रत पर गई और लोगों ने जाना कि जब अर्थ-साम्यवाद सामाजिक कल्याण, सामाजिक सहभागिता और सामाजिक संविभाग के लिए इतनी महत्वपूर्ण भूमिका रखता है तो महावीर द्वारा हजारों वर्ष पूर्व प्रतिपादित 'अपरिग्रह-व्रत' कितना अहम और उपयोगी है।

महावीर ने हजारों वर्ष पूर्व जिस निःशस्त्रीकरण की बात कही, उसके लिए आज सारा विश्व सजग हो गया है। आज इस बात की आवश्यकता महसूस की जा रही है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने अतिरिक्त शस्त्र-भंडारों को नष्ट कर दे, अन्यथा फिर किसी नए हिटलर, टूमेन या लादेन का दिमाग खराब हो गया अथवा अन्य कोई राजनैतिक हलचल हुई तो तीसरे विश्वयुद्ध को प्रारंभ होने में कोई देर नहीं लगेगी। महावीर के प्रथम आगम ग्रंथ 'आचारांग सूत्र' का प्रथम अध्याय ही 'शस्त्र-प्ररिज्ञा' है, जिसका अर्थ है कि शस्त्रों के उपयोग में विवेक रखा जाए।

कुछ वर्ष पूर्व दूरदर्शन ने मेरे एक इंटरव्यू का राष्ट्रीय प्रसारण किया था, नवभारत टाइम्स के सम्पादक अक्षयकुमारजी ने यह इंटरव्यू लिया था। जिसमें मैंने महावीर के निःशस्त्रीकरण की बात रखी थी। उस बात से लोग चौंक उठे कि क्या निःशस्त्रीकरण महावीर द्वारा प्रतिपादित है? आज से हजारों वर्ष पूर्व महावीर ने वनस्पति-जगत् में भी जीव के अस्तित्व की बात कही तो उनके अनुयायी भी इस बात को पूरी तरह समर्थित और प्रमाणित नहीं कर पाए, क्योंकि उनके पास विज्ञान के साधन नहीं थे। पर वही बात वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बसु ने अपने आधुनिक उपकरणों से सिद्ध कर दिखाई। उन्होंने लोगों के सामने वनस्पति में भी जीवन के अस्तित्व को प्रस्तुत किया। प्रकट रूप से आज एक छोटा-सा बच्चा भी यह कह सकता है कि एक पेड़ को काटना या एक फूल को बेवजह तोड़ना एक हिंसापूर्ण कृत्य है।

आज आवश्यकता महावीर के मंदिर बनाने की शायद उतनी नहीं है जितनी महावीर के सिद्धांतों, तथ्यों और बातों की वैज्ञानिक प्रस्तुति की है। महावीर द्वारा पानी को उबालकर या छानकर पीने की बात कही गई और जब इस बात की वैज्ञानिक संसिद्धि हो गई तो महावीर के समर्थकों को इस बात के प्रचार-प्रसार की कोई आवश्यकता नहीं रही। वरन् यह बात संपूर्ण विश्व के लिए स्वयं ही अनुकरणीय और समर्थनीय हो गई। यदि आपका बेटा आज रात्रि में भोजन करता है तो ऐसा नहीं है कि इसका कारण उसकी कोई बहुत बड़ी मजबूरी है। सच तो यह है कि महावीर के इस तथ्य के पीछे छिपी वैज्ञानिकता को सिद्ध करने में हम आज भी पूरे सफल नहीं हुए हैं।

मूल्य व महत्व महावीर के विचारों, सिद्धांतों, तथ्यों और बातों के प्रचार या प्रसार का नहीं है, बल्कि मूल्य है उनके वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रस्तुतिकरण का। मैं अगर अपनी ओर से कोई बात कहता हूँ तो इस बात का ध्यान रखता हूँ कि उस बात को सिद्ध करने के लिए किसी शास्त्र का उदाहरण न दूँ। मैं उसी बात को कहता हूँ जो मैं जी सकूँ या जिसे एक आम आदमी जी पाए। शास्त्रों की ऊँची-ऊँची बातें कहने या कहलवाने का क्या औचित्य जब उस बात को कहने वाला व्यक्ति ही स्वयं उस बात को आचरित न कर सके? बात तो वह हो जो एक आम आदमी के गले उतर सके और जिसे वह सहजतया आचरित कर सके। हाँ, महावीर के अनुयायियों में भी कुछ ऐसे वैज्ञानिक हुए हैं जिन्होंने उनके सिद्धांतों की वैज्ञानिक

और मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. डी. एस. कोठारी, पंडित सुखलाल, दलसुख मालवणिया, डॉ. नेमीचंद जैन आदि इस दौर के कुछ ऐसे विशिष्ट व्यक्ति रहे हैं जिन्होंने महावीर के सिद्धांतों के मर्म को समझकर उनकी इस प्रकार वैज्ञानिक व्याख्याएँ की हैं कि आने वाली पीढ़ियों तक उनके सिद्धांतों की उपयोगिता बनी रहेगी ।

मेरी समझ से आज महावीर के सिद्धांतों के वैज्ञानिक संदर्भ को घर-घर पहुँचाया जाना चाहिए। महावीर का मार्ग पूर्णतया वैज्ञानिक मार्ग है। खेद की बात तो यह है कि आज महावीर के अनुयायियों के हाथों में जो मार्ग है, वह महावीर का मार्ग कतई नहीं है। वे तो महावीर के मार्ग पर फैल चुकी वे सारी बातें हैं जिनकी प्ररूपणा महावीर ने कतई नहीं की थीं। महावीर तो अंधविश्वासों तथा आडंबरों के विरोधी रहे। वे तो त्यागप्रधान पुरुष थे। उनके द्वारा वे बातें कभी नहीं कही गईं जिन बातों को हम आज ग्रहण कर चुके हैं।

आज से करीब हजार वर्ष पूर्व जब महावीर के धर्म का स्वरूप विकृत हो गया तो सबसे पहले उसके विरोध में शंखनाद करने वाले आचार्य रहे जिनेश्वर सूरि। उस क्रांतिकारी आचार्य ने लोगों के समक्ष यह प्रस्तुत किया कि महावीर का मूल धर्म क्या था और हमने धर्म के नाम पर किस बाने को पहन रखा है ? दूसरे क्रांतिकारी पुरुष रहे वीर लोकाशाह जिनसे स्थानकवासी परंपरा का जन्म हुआ। उन्होंने देखा कि महावीर के मार्ग पर किस तरह आडंबरों और अंधविश्वासों ने डेरा जमा लिया है। दूसरी परंपराओं के प्रभाव से महावीर का मूल मार्ग तो आदमी के हाथ से छिटक ही गया है। मैं उस क्रांतिकारी आचार्य लोकाशाह को नमन करता हूँ जिन्होंने महावीर के मार्ग पर आई हुई व्यर्थ की रूढ़ियों एवं प्रथाओं की धूल को साफ करने का प्रयत्न किया।

जिस तीसरे व्यक्ति को मैं क्रांतिकारी पुरुष के रूप में देखता हूँ वे हैं, आचार्य भिक्षु जिन्होंने तेरापंथ का प्रवर्तन करते हुए धर्म में रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं का विरोध किया। आज तीनों ही पंथ चाहे वह मंदिरमार्गी हो, स्थानकवासी या तेरापंथी हो, सब महावीर के मूल मार्ग से स्खलित हो गए हैं। इन तीनों संप्रदायों का अभ्युदय मानव-कल्याण के लिए हुआ था, पर वह उद्देश्य कहीं दूर ही छिटक गया। आज सभी हवा के साथ बह रहे हैं। सभी लोक-लुभावने तरीकों का उपयोग कर रहे हैं। आज आवश्यकता किसी ऐसे चौथे क्रांत-पुरुष की है जो महावीर के

मार्ग पर आई हुई व्यर्थ आडंबरजनित क्रियाओं का उन्मूलन कर सके तथा धर्म का स्वरूप वैज्ञानिक ढंग से प्रशस्त कर सके।

इन तीनों पंथों या संप्रदायों का उद्देश्य तो व्यक्ति को यह संदेश देना था कि व्यक्ति विवेक की आँख खोलकर सही मार्ग पर चले। पर आज तो हर आँख में कदाग्रह की कंकरी है और उस पर मिथ्यात्व की पट्टी बंधी हुई है। हर आँख को प्रभुत्वशाली हाथों ने दबा रखा है जिसके कारण व्यक्ति यह जान ही नहीं पा रहा है कि जिस मार्ग पर वह चल रहा है, वह सम्यक्त्व का मार्ग है अथवा संकीर्णता का मार्ग। आदर्श मार्ग तो वह है जो व्यक्ति को संकीर्ण पगडंडियों से निकालकर राजमार्ग की तरफ ले जाए। वह मार्ग सन्मार्ग कदापि नहीं हो सकता जो व्यक्ति को राजमार्ग से संकीर्ण पगडंडियों की तरफ धकेले। संकीर्णता व्यक्ति के लिए अभिशाप है जबकि उदारता शुभाशीष।

आज हम महावीर के कुछ ऐसे सूत्रों पर चर्चा करेंगे जो व्यक्ति को महावीर के मूल मार्ग की तरफ ले जाएँ और उनके वैज्ञानिक संदर्भों को भी प्रकट कर सकें। सूत्र है—

*मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं।*

*मग्गो खलु सम्मत्तं, मग्गफलं होइ णिव्वाणं॥*

भगवान कहते हैं, 'जिनशासन में 'मार्ग' तथा 'मार्गफल' इन दो प्रकारों से कथन किया गया है। मार्ग 'मोक्ष' का उपाय है। उसका फल 'निर्वाण' या 'मोक्ष' है।'

महावीर जीवन और जीवन के मार्ग की पूरी वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि धर्म के अनुशासन में दो ही बातें कही गईं और वे हैं मार्ग और उसका मार्गफल। जो मार्ग पर चलेगा, उसे मार्गफल अवश्य मिलेगा। केवल मार्ग पर बैठे रहने से, धूप-दीप करने से या उसकी जय-जयकार करने से मार्गफल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। मंजिल उन्हें मकसूद नहीं होती जो राहों को पार करने से डरते हैं। मंजिलें तो उनके कदम चूमती हैं जो उन राहों पर चलने को तैयार होते हैं जो उन्हें मंजिल तक पहुँचाएँ।

यदि व्यक्ति राह पर बैठकर ही राह के गुणगान करता रहे कि यह राह तो मंजिल तक ले जाने वाली है या राह के चढ़ावे बोलता रहे तो उसे मंजिल कभी नहीं मिल सकती। यही कारण है कि आज तक फिर कोई महावीर नहीं हो पाया। 'अंधो अन्धा ठेलई, दोऊ कूप पड़ंत', ले जाने वाले भी अंधे और जो जा रहे हैं वे भी अंधे।

जब तक गुरु में गुरुत्व का ही जन्म नहीं हुआ, तब तक वह किसी को शिष्य बनाने का मतलब एक जीवन को पार लगाने का उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लेना है। जब स्वयं के प्रति स्वयं का उत्तरदायित्व ही पूरा नहीं हो पा रहा है तो दूसरे का जिम्मा लेने का क्या औचित्य ! स्वयं तो पार लग नहीं पाया, उस पार की झलक नहीं देखी, किन्तु उसने अपनी नाव में किसी और को भी सवार कर लिया। स्वयं तो भटक ही रहा है और दूसरा भी उसके साथ भटकेगा। खुद भी डूबेगा और औरों को भी ले डूबेगा।

महावीर बिल्कुल वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हुए कहते हैं कि जो मार्ग पर चलेगा, उसे मार्गफल मिलेगा। विज्ञान के सारे सिद्धांत, सारे नियम केवल एक ही बात पर आधारित है और वह है 'कार्य और कारण' का सिद्धांत, 'कॉज एण्ड इफेक्ट'। विज्ञान कहता है कि यदि कारण है तो कार्य है और यदि कार्य नजर आता है तो उसका कोई कारण अवश्य रहा होगा।

महावीर भी एक वैज्ञानिक की तरह कहते हैं कि मार्ग पर चलो तो मार्गफल मिलेगा। यदि मार्ग पर चलने से पहले ही व्यक्ति डर गया या मार्ग में ही कहीं खो गया तो उसे मार्गफल कभी नहीं मिल पाएगा।

एक बार एक व्यक्ति बिस्तर पर लेटा-लेटा हाथ-पाँव चला रहा था। संयोग से वहाँ कोई समझदार व्यक्ति पहुँच गया। उसने जब उसे बिस्तर में यों हाथ-पाँव चलाते देखा तो पूछा, 'अरे भाई साहब, आप यह क्या कर रहे हैं ?' उसने जवाब दिया, 'साहब, मैं तैरना सीख रहा हूँ।' आगन्तुक बोला, 'आपको तैरना सीखना है तो किसी तालाब में जाकर सीखो।' वह बोला, 'मुझे तालाब में तो उतरने से डर लगता है, इसलिए यहीं सीख रहा हूँ।' वह व्यक्ति बोला, 'आप यहाँ बैठे-बैठे हाथ-पाँव चलाना जरूर सीख सकते हैं, पर तैरना कभी नहीं।' जो डूबने से डरते हैं वे तैरना कभी नहीं सीख सकते। तैरने के लिए तो जोखिम उठानी ही पड़ेगी, साहस करना ही होगा और अपने कदम बढ़ाने ही होंगे।

एक बार किसी पहाड़ी इलाके में हमारा प्रवास था। वहाँ सुबह-सुबह तलहटी में मैंने एक आदमी को बैठे देखा। मैंने उससे पूछा, 'भाई, यहाँ कैसे बैठे हो ?' उसने जवाब दिया, 'साहब, मैं पहाड़ पर चढ़ना चाहता हूँ, पर अंधेरा बहुत है।' मैंने कहा, 'कोई बात नहीं, मैं तुम्हारे लिए लालटेन की व्यवस्था करा देता हूँ।' वह व्यक्ति बोला, 'यह तो ठीक है, पर लालटेन की रोशनी तो दो-तीन फुट ही

आगे जाती है, पर पहाड़ तो बहुत बड़ा है और एकदम घुप्प अंधेरा है, मैं कैसे जा पाऊँगा ?' मैंने उससे कहा, 'अरे, तू अपने कदम आगे बढ़ा तो सही, तेरे आगे बढ़ने के साथ-साथ रोशनी भी आगे बढ़ती जाएगी।' जो इस डर से आगे नहीं बढ़ते कि लालटेन या मोमबत्ती की रोशनी कुछ कदम आगे तक ही प्रकाश कर पाएगी, उनके रास्ते सदा अंधकारमय ही बने रहते हैं।

मार्ग तो प्रशस्त उनका होता है जो आगे बढ़ने से नहीं धबराते। चट्टानें तो उनके रास्ते की धराशायी होती है जो अवरोधों से डरते नहीं हैं। संभव है कि जो चट्टान दूर से बहुत बड़ी मुसीबत लग रही हो, नजदीक जाने पर वह कंकर के समान तुच्छ लगे। मूल बात है समग्रता की। मंजिल तक पहुँचने के लिए समग्र पुरुषार्थ चाहिए। एकाग्रता से एक ही मार्ग का चयन और उस पर समग्रता से कदम-दर-कदम बढ़ाए जाएँ तो मंजिल स्वयं ही करीब आ जाती है।

मार्ग का चयन तो व्यक्ति को स्वयं ही करना होगा। आज व्यक्ति त्याग और भोग का मज़ा साथ-साथ लेना चाहता है। किसी तीर्थ-स्थल पर गए और सोचा कि रोज मैं बीस सिगरेट पीता हूँ, आज से दस ही पीऊँगा। छोड़ना ही है तो पूरा छोड़ो, यह क्या कार्यों की प्रवृत्ति ! आज प्रायः व्यक्ति ऐसी कार में सवार है, जहाँ उसका एक पाँव तो ब्रेक पर रखा है और दूसरा पाँव एक्सीलरेटर पर। वह दोनों को साथ-साथ दबाना चाहता है।

आदमी की स्थिति कितनी विडंबनापूर्ण हो गई है, बिल्कुल त्रिशंकु की तरह। वह न तो आसमान के चाँद-तारों को छू पाता है और न ही धरती पर खिले सुंदर फूलों से प्यार कर पाता है। हम परखें कि क्या हमारा धर्म-कर्म या अध्यात्म भी अधर में लटका हुआ तो नहीं है ? मंजिल पाने के लिए कुनकुने प्रयासों से काम नहीं चलेगा।

सर्वप्रथम व्यक्ति यह निश्चय करे कि वह क्या चाहता है स्वर्ग, मोक्ष या फिर संसार ? स्वर्ग के मार्ग पर चलने से मोक्ष की मंजिल नहीं मिल सकती और मोक्ष की मंजिल को पाने के लिए संसार या स्वर्ग की राह पर चलना भी नादानी है। पहले आप यह निश्चय तो करें कि आप आगे भी क्या यही पत्नी चाहते हैं या कोई स्वर्ग की अप्सरा या इन दोनों ही से दिल भर गया है और सबसे मुक्ति चाहते हैं ? अगर यही पत्नी चाहते हैं तो उसका मार्ग अलग है, अप्सरा चाहते हैं तो उसका मार्ग भी अलग है और मुक्ति या निर्वाण चाहते हैं तो उसका मार्ग भी अलग है।

मेरे देखे, जिस मार्ग पर भी समग्रता से चला जाए तो एक-न-एक दिन मंजिल हासिल हो ही जाती है। वह मार्ग चाहे गृहस्थ-जीवन का मार्ग हो, संन्यास-जीवन का मार्ग हो, मुक्ति का मार्ग हो अथवा अन्य कोई क्षेत्र। समग्रता से जिस दिशा में प्रयत्न किया जाएगा, वैसी दिशा निश्चित रूप से प्राप्त होगी। यदि व्यक्ति समझौते का मार्ग अपना लेता है तो वह सब मार्गों की खिचड़ी ही कर देता है। खिचड़ी में दाल या चावल का अलग-अलग जायका कहाँ लिया जा सकता है। हम जाँचें स्वयं को कि क्या हमने अपने धर्म-कर्म की या जीवन के मार्गों की ऐसी खिचड़ी ही तो नहीं कर दी है? आवश्यकता तो है लक्ष्य के प्रति, मार्गफल और परिणाम के प्रति प्रतिबद्धता की। अगर कोई व्यक्ति फकीरचंद है तो उसका कारण वह स्वयं है। भाग्य कितने दिन साथ नहीं देगा? आखिर पुरुषार्थ के आगे भाग्य को भी मजबूर होना ही पड़ेगा। प्रारब्ध उसी का साथ निभाता है जो पुरुषार्थ करता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ का चोली-दामन का साथ है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

इसीलिए भगवान कहते हैं जिनशासन में मार्ग और मार्गफल दो प्रकार से कथन किया गया है। मार्ग सम्यक्त्व है और मार्गफल निर्वाण है। मार्ग तो चलने के लिए होता है। उसके बारे में बातें करने के लिए नहीं। यदि तुम पानी गर्म करना चाहते हो तो पानी की तपेली के नीचे अंगीठी सुलगानी ही पड़ेगी। अंगीठी सुलगाए बिना तुम पानी गर्म होने के लिए हजार-हजार प्रार्थनाएँ कर लो, वह एक दिन तो क्या सौ-सौ दिनों में भी गरम न हो पाएगा। लोग मंदिरों में जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि भगवान ! मेरा धंधा चला देना। अरे ! धंधा तो तुम्हारे पुरुषार्थ और मेहनत से चलेगा। महावीर क्या इतने सस्ते हो गए हैं कि वे तुम्हारा धंधा चलाने आएँगे। वे तो संसार की इन सब उठापटक से मुक्त हो चुके हैं।

उनसे तो तुम वीतरागता माँगो, जीवन की शुद्धि, मुक्ति और निर्वाण माँगो। संसार के भोगों का तो उन्होंने स्वयं ही त्याग कर दिया। संसार तो उनके पास है ही नहीं। भगवान कहते हैं कि यद्यपि जीव धर्म पर श्रद्धा करता है, उसकी प्रतीति करता है और उसका आचरण भी करता है, लेकिन वह यह सब कर्म-क्षय के निमित्त नहीं, वरन् धर्म को भोग का निमित्त या भोग-प्राप्ति का साधन मानकर करता है।

यही कारण है कि मैंने कहा, 'लोग महावीर से बहुत दूर हो चुके हैं।' वे महावीर से महावीरत्व या मुक्ति कम ही चाहते हैं। कोई धंधा चाहता है, कोई पुत्र,

कोई रोग का उपचार या फिर अन्य कोई सांसारिक भोगों की कामना। भगवान को तो हमने बिल्कुल 'सड़कछाप' ही बना दिया है। एक ऐसा व्यक्ति जिसने संसार के भोगों को तृणवत् छोड़कर वीतरागता की प्रखर साधना की और परम स्थिति की पराकाष्ठा को छू लिया, उससे हम कहते हैं कि मेरा हीरा खो गया है। यदि वह मिल गया तो मैं तुम्हें एक सौ एक रुपये का प्रसाद चढ़ाऊँगा। जैसे कि भगवान हीरा खोजने के लिए झाड़ू लेकर तुम्हारे घर आएँगे।

महावीर का मार्ग विशुद्ध वैज्ञानिक मार्ग है। जिस तरह विज्ञान दावा करता है कि सौ डिग्री सेल्सियस पर पानी को गर्म किया जाए तो वह भाप बनने लगता है, उसी प्रकार महावीर कहते हैं कि मार्ग पर चलो तो मार्गफल अवश्य मिलेगा। जब तक जीवन में ऐसी वैज्ञानिक व्यवस्थाएँ नहीं होंगी तब तक न तो मार्गफल मिलेगा और न ही पानी गर्म होकर भाप बनेगा। जिस प्रकार विज्ञान में 'कारण और कार्य' का संबंध है, उसी प्रकार महावीर के धर्म में 'मार्ग और मार्गफल' का संबंध है।

प्रश्न है मार्ग क्या है ? भगवान ने कहा कि मार्ग उपाय है और मार्गफल निर्वाण है। सूत्र है -

*दंसणणाण चरित्ताणि, मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि ।*

*साधुहि इदं भणिदं, तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥*

भगवान कहते हैं : दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष का मार्ग है। साधु-पुरुषों को इनका आचरण करना चाहिए। यदि वे स्वाश्रित हैं तो इनसे मोक्ष होता है और पराश्रित होने से बंध होता है।

हर उस व्यक्ति को मूल मार्ग को समझना चाहिए और उस मार्ग को जीने का प्रयास करना चाहिए जो अपने जीवन में महावीरत्व का फूल खिलाने के लिए कृतसंकल्प है। महावीर ने उन बातों का जिक्र कभी नहीं किया जिन्हें आज हमने धर्म के नाम पर अपना रखा है। हम विचार करें कि आज धर्म का जो स्वरूप है, क्या महावीर ने उसी मार्ग की प्ररूपणा की थी? क्या महावीर ने एक श्रावक का यही रूप बताया था कि वह सुबह पूजा या सामायिक भर कर ले ? क्या एक साधु के लिए दो समय प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन या दो-चार अन्य क्रियाएँ ही आवश्यक हैं? ये सब क्रियाएँ तो वह गृहस्थ में रहकर भी कर सकता है। एक गृहस्थ तो चार सामायिक लेकर बैठ भी जाता है, पर साधुजन तो एक सामायिक जितने समय भी स्थिरता नहीं रख पाते और उठने की जल्दी करते हैं।

जब तक मूल मार्ग समझ न आए, अंतर्हृदय में इस मार्ग के प्रति रुचि और अभीप्सा न जगे तो व्यक्ति हजारों जन्म लेकर भी इसी कदर बाह्य क्रियाओं में भटकता रहेगा। हो सकता है कि हम महावीर के समय में भी रहे हों और हमने श्रमण-मार्ग भी स्वीकार किया हो, लेकिन जैसे तब जीवन निष्फल गया वैसे ही आज भी हो रहा है। 'साँचा मारग न मिल पाया' इसलिए हम भटक रहे हैं सँकड़ी पगडंडियों पर। जीवन में साधना की शुरुआत ही मूल मार्ग को जानने के बाद होती है और वह मार्ग है सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का।

हमें ऊपर-ऊपर से देखने पर विविध धर्मों के मार्गों में भेद नजर आता है, पर मूल तो सबका एक ही है। बुद्ध ने आष्टांगिक आर्य मार्ग दिया। उन्होंने तीन चरणों की बजाय आठ चरण दिए – सम्यक् दृष्टि, सम्यक् वाणी, सम्यक् संकल्प, सम्यक् आजीविका, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् ध्यान और सम्यक् समाधि।

गीता ने अपनी ओर से त्रिविध मार्ग – भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग का निरूपण किया। महावीर ने भी त्रिविध मार्ग की प्ररूपणा की – सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र। जब बुद्ध से उनके शिष्यों ने पूछा कि आपके इस आष्टांगिक मार्ग को सार रूप में कैसे व्यक्त किया जाए तो बुद्ध ने कहा, 'इस मार्ग का सार तीन शब्दों में अर्थात् 'प्रज्ञा', 'शील' और 'समाधि' में सन्निहित है।

उपनिषदों ने भी अपनी ओर से त्रिविध मार्ग दिखाया – 'श्रवण', 'मनन' और 'निदिध्यासन'। श्रवण यानी सुनना। सत्य के बारे में, तत्त्व के बारे में सुनना। मनन यानी सुने हुए का चिंतन करना। निदिध्यासन यानी उसे आत्मसात् करना, आचरण करना।

ये सभी मार्ग पूर्व के दर्शनों के हैं। पाश्चात्य दर्शन ने त्रिविध साधनापथ दिखाया है। पहला पथ है 'एक्सेप्ट द सेल्फ' अर्थात् आत्म-स्वीकृति; दूसरा – नो द सेल्फ अर्थात् आत्म-ज्ञान और तीसरा-बी द सेल्फ अर्थात् आत्म-रमण।

हम महावीर के मूल मार्ग को समझने का प्रयास करें जिसमें सभी मार्ग समाए हुए हैं। महावीर ने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की बात कही। सम्यक् दर्शन का अर्थ है हर चीज को भली भाँति तत्त्वतः देखना। सम्यक् ज्ञान का अर्थ है हर वस्तु को भली भाँति जानना और सम्यक् चारित्र का अर्थ है – देखे और जाने गए को जीना, उस पर आचरण करना। इसे यों समझें कि सही-

सही देखो, सही-सही जानो, और सही-सही करो – यही है त्रिविध साधना-पथ अथवा त्रिविध धर्म-पथ।

महावीर ने अपने पथ की शुरुआत सम्यक् दर्शन से की, मगर आज हमने महावीर के मार्ग को ही उलट-पुलट कर दिया। हमने चारित्र को प्रथम स्थान पर ला खड़ा किया। आज किसी भी संत के पास चले जाओ, वह यही प्रेरणा देगा कि संसार छोड़ दो, दीक्षा स्वीकार कर लो। एक नारा भी तो चलन में है 'एक धक्का और दो, संसार को छोड़ दो।' आज सब लोग दूसरों की सीख पर ही चल रहे हैं। स्वयं की अन्तर-प्रेरणा से कितने लोग दीक्षित हो रहे हैं, कितने वैराग्यवासित होते हैं? जितने भी साधु-साध्वी हैं, उनमें से नब्बे फीसदी दूसरों के चढ़ाये दीक्षित हुए हैं। लोग आते हैं मेरे पास चले बनने के लिए। मैं उन्हें ऐसी जगह भेज देता हूँ जहाँ चेलों की आवश्यकता है।

मैं जब खुद ही पूर्ण गुरु न बन पाया, उस गुरु-तत्त्व को स्वयं में प्रतिष्ठित न कर पाया तो चेला कैसे बनाऊँ? जब-जब अन्तर में गहरा उतरता हूँ तो लगता है कि अभी तो मुझमें शिष्यत्व भी बाकी है। मैं ईश्वर की उस अनुकंपा के प्रति आभारी हूँ जो मुझे सदैव शिष्य बनाए रखे और कभी गुरु बन कर चेला बनाने की तृष्णा पैदा न करे। जैसे गृहस्थ को शादी होते ही बेटे की भूख होती है, वैसे ही साधु-साध्वियों को चले-चेलियों की भूख होती है।

चारित्र का मार्ग तो उनके लिए है जिन्होंने संसार को अच्छी तरह देख-जानकर उसकी निःसारता का अनुभव कर लिया है। जब ऐसा कोई व्यक्ति जिसने संसार को, उसके भोगों को अच्छी तरह से असार जान लिया है, वह जब साधना के पथ पर आता है तो वह शत-प्रतिशत प्रामाणिकता से अपना जीवन जी सकेगा।

यह संभव है कि एक बच्चे का खटाई खाने का मन भी हो जाए, पर आपकी उम्र तो साठ-सत्तर वर्ष की हो गई है। आपको तो खटाई-मिठाई सबसे तृप्ति हो जानी चाहिए। आपने तो इतनी लंबी उम्र में इन सब भोगों को भोग कर उनकी व्यर्थता अनुभव कर ली है। अब, उम्र तो आपकी है संन्यास लेने की, लेकिन जब आप इस उम्र में भी संन्यास के मार्ग पर नहीं आते हैं, तो हम बच्चों को ही आगे आना पड़ता है। यह शिक्षा, यह संदेश देने के लिए कि बुजुर्गों तुम पड़े रहो इसी दलदल में, लेकिन तुम्हें अस्सी वर्ष की उम्र में भी संसार में रचे-बसे देखकर, संसार और भोगों के प्रति आसक्त देखकर हम जरूर इस दलदल से निकलने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

धर्म तो उसका होता है जो बोध को पा लेता है। बोध उम्र की दहलीज से जुड़ा नहीं होता। बोध तो जब प्राप्त हो जाए, तब ही चमत्कार घटित हो जाता है। वह तो किसी बालक ध्रुव, नचिकेता, प्रह्लाद या चन्द्रप्रभ को भी हो सकता है। अगर बोध है तो आठ वर्ष की उम्र में भी व्यक्ति अतिमुक्त हो सकता है, किन्तु अगर बोध प्राप्त न हो तो अस्सी वर्ष की उम्र में संन्यस्त होकर भी व्यक्ति भटकता रहता है।

हम शुरुआत करें दर्शन से। मैंने महावीर और बुद्ध के जीवन से, उनकी साधना से कुछ सीखा है तो यही कि जीवन में बोध का उदय हो। मैंने अपने संन्यस्त जीवन में यदि पहली शुरुआत की तो वह था ज्ञानमूलक जीवन। मैंने यह जाना कि जब तक व्यक्ति के जीवन में सम्यक् दृष्टि के कपाट नहीं खुलेंगे और सम्यक् ज्ञान की खिड़कियाँ बंद ही रहेंगी, तब तक जीवन में सम्यक् चारित्र नहीं सध पाएगा।

हो सकता है कि तब व्यवहार-चारित्र सध जाए, जहाँ दरवाजे के बाहर तो कोई साधु नजर आए और दरवाजे के भीतर कोई कबाड़ची। मैंने अपनी साधनादृष्टि और शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर जिस बात को सर्वाधिक प्राथमिकता दी, वह थी जीवन में बोध की आँख खुले। मुझे संसार की किसी भी वस्तु से नफरत नहीं है। मैं ऐसा संत हूँ जो संसार की निंदा नहीं करता। तत्त्वतः जब दिख जाए कि क्या सत्य है और क्या असत्य है तो फिर सत्य की प्रशंसा को छोड़कर असत्य की निन्दा कौन करेगा ?

तुम सत्य की तरफ कदम बढ़ाओगे तो असत्य स्वतः ही दूर छिटक जाएगा। प्रकाश की तरफ आगे बढ़ोगे तो अन्धकार स्वयं ही विलीन हो जाएगा। अन्तरमन बदला तो बाहर का आचरण स्वतः ही बदल जाएगा और यदि अन्तरमन न बदला तो बाहर से हजार बार बदल कर भी तुम वही रह जाओगे। हम ईमानदारी से निरीक्षण करें अपने मन का। पर जीवन के प्रति ईमानदार हुए बिना जीवन का मूल्य नहीं पाया जा सकता।

आप स्वयं को टटोलें कि आपने अब तक कितनी सामायिक कर ली होंगी, कितनी मालाएँ फेर ली होंगी और कितनी बार मंदिर में जाकर पूजाएँ कर ली होंगी ? जो संत-वेश में हैं, वे भी अपना निरीक्षण कर लें कि वे कितने प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन और अन्य क्रियाएँ कर चुके हैं ? मैं पूछना चाहूँगा कि क्या आप को

अभी भी क्रोध आता है ? ऐसे तो हर व्यक्ति दूसरे को कह देगा कि गुस्सा नहीं करना चाहिए, गुस्सा करना बहुत बड़ा पाप है। विपरीत परिस्थिति न मिले तो हर कोई सौम्य, मधुर और शांत बना रहता है, पर वातावरण बिगड़ जाए तब पता लगता है कि व्यक्ति सामायिक को कितना जी सका ?

गाली देने का मौका आए और व्यक्ति चुप रहे तो यह व्यक्ति का मुँहपत्ती बाँधने का विवेक है। ऐसे तो शांत स्थिति में व्यक्ति वैसे ही आरंभ-समारंभ (हिंसा-प्रतिहिंसा) से मुक्त रहता है। मुँहपत्ती का विवेक तो लड़ाई-झगड़े के समय ही होता है। जो गाली-गलौच नहीं करते, वे मुँहपत्ती बाँधें या न बाँधें, कोई फर्क नहीं पड़ता। जो क्रोध नहीं करते उनकी तो हर क्षण सामायिक ही हो रही है। यह कौन-सी समझदारी हुई कि पहले तो कपड़े को स्याही से रंगो, फिर उसे धोओ। पहले ही विवेक रखो कि कपड़ा स्याही से सने ही नहीं। यह क्या कि पहले तो पाप और फिर उसका प्रतिक्रमण ! तुम अपने जीवन में इतनी सजगता रखो कि एक क्षण भी तुमसे पाप न होने पाए। महत्त्व पाप करके उसके प्रायश्चित्त का नहीं, वरन् महत्त्व है सजगता का, क्योंकि प्रतिक्रमण उतना कारगर नहीं हो पाएगा, जितनी तुम्हारी सजगता तुम्हें पापों से बचा सकती है। सामायिक करते-करते तुम्हारे आसन फट गए, पर तुम्हारे मन में प्रसन्नता, सौम्यता और मधुरता न आ पाई।

अब हम शुरुआत करें मूल मार्ग की सामायिक से। हम यह संकल्प लें कि मैं हर हाल में क्रोध नहीं करूँगा, लाभ-हानि में समभाव रखने का प्रयत्न करूँगा। अगर यह आसन-चरवले वाली सामायिक होती तो पूणिया, श्रेणिक को एक तो क्या दस-बीस सामायिक यूँ ही दे देता। पर पूणिया जानता था कि महावीर ने जिस सामायिक की बात कही है वह तो स्वभावजनित सामायिक है और ऐसी सामायिक यदि किसी को दी जा सकती तो श्रेणिक की नरक अवश्य कट जाती।

एक दिन के लिए ही हम इस स्वभावजन्य सामायिक की कसौटी पर स्वयं को कस कर देखें। केवल आज के लिए ही सही किन्तु यह निश्चय अवश्य कर लें कि कैसी भी परिस्थिति हो, पर मैं आज क्रोध नहीं करूँगा। आप जब रात को सोने के लिए जाएँगे तो अनुभव करेंगे कि आपके चित्त में एक शान्ति है, प्रसन्नता और मधुरता है। अगर आपको ऐसा नहीं लगे तो कल से मत करना। तुम गुस्सा करके भी देख लो, पाओगे कि तुमने सातवीं नरक जैसी यातना और बेचैनी का अनुभव किया है। अब निर्णय आपके हाथ में है।

दर्शन से शुरुआत हो। ज्ञान हमारी हथेली पर दीप के समान हो और चारित्र चरणों में समा जाए। दर्शन की भट्ठी में ज्ञान की रोटी सेको और चारित्र के द्वारा उसे पचाओ। ये तीनों अन्योन्याश्रित हैं। ऐसा नहीं है कि किसी एक का महत्त्व अधिक है। तीनों का ही समान मूल्य है। शुरुआत दर्शन से हो। व्यक्ति का बोध जगे। बच्चे से कहो कि आग में हाथ मत डालना, जल जाएगा, लेकिन वह नहीं मानेगा। जब उसका हाथ एक दिन जल जाएगा तब वह जिन्दगी भर आग में हाथ नहीं डालेगा। ऐसे ही बच्चे से कहो कि बिजली के बटन को हाथ मत लगाना। वह तुम्हारी बात पर ध्यान नहीं देगा। लेकिन जिस दिन भी करंट का एक छोटा-सा झटका लग गया, वह खुद ही बटन के पास नहीं जाएगा। तुम्हें अभी तक ऐसा कोई झटका नहीं लगा है, इसीलिए संसार के रंगमंच में उलझे हो। जिस दिन ऐसा कोई झटका लगेगा तो स्वतः ही जीवन में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र आ जाएगा। सम्यक् दर्शन तो बस, झटके का काम करता है। जीवन में बोध जागे। हम क्रोध करें तो भी बोधपूर्वक करें। पति से मिलो, पत्नी से मिलो, बच्चे का माथा चूमो या गले लगाओ, हर कार्य बोध और होशपूर्वक हो। जब जीवन में बोध का दीपक जल जाता है तो व्यक्ति का ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् बन जाता है। हो सकता है कि उस व्यक्ति का चारित्र, किताब में लिखी बातों से मेल ना खाए, पर सम्यक्त्व में कोई कमी नहीं आती।

भीतर की आँख खुलने का नाम ही समकित है। कान में मन्त्र फूँकने से समकित नहीं मिल जाता। लोग कहते हैं कि हमने, हमारे पूर्वजों ने उनसे समकित लिया है। अरे ! समकित क्या लेने-देने की चीज है ? समकित तो चेतना का स्वभाव है। किसी के द्वारा समकित देने से समकित मिल जाए तो फिर धर्म-कर्म का कोई अर्थ नहीं रहेगा और न श्रद्धा, श्रद्धान और सम्यक् दृष्टि का कोई महत्त्व रहेगा। सम्यक्त्व तो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा की सुवास है। मूल बात है व्यक्ति की अन्तरदृष्टि और अन्तरमन बदले।

गधा शेर की खाल ओढ़ ले तो वह शेर नहीं बन जाता। शेर तो वह है जिसमें सिंहत्व हो और यदि सिंहत्व है तो तुम गधे की खाल में भी शेर होओगे। मैं मानता हूँ वंश का मूल्य है, नाम का मूल्य है, वातावरण का भी मूल्य है, पर सबसे अधिक मूल्य है व्यक्ति की अन्तरदृष्टि, अन्तरमन और अन्तरबोध का।

कहते हैं, एक बार एक संत किसी नाव पर सवार होकर जा रहे थे। उस नाव पर कुछ मनचले युवक भी बैठे थे। उन्होंने संत को देखा तो मजाक करने की

सूझी। उन्होंने एक तिनका उठाया और संत के कान में डालने लगे, पर सन्त पूर्ववत् शान्त बैठे रहे। अब वे नदी का पानी उछाल कर संत के मुँह पर फेंकने लगे, पर सन्त अब भी शान्त थे। एक युवक को क्रोध आया कि देखता हूँ यह कब तक शांत रहेगा ? उसने सन्त को उठाया और उन्हें उलटा कर नदी में लटकाने लगा। सन्त तो अभी भी शान्त थे, पर उनका एक भक्त यक्षदेव यह देख न सका। वह तुरंत प्रकट हो गया। उसने संत को आराम से बिठाया और बोला, 'महाराज, आप आज्ञा दें तो मैं इन युवकों को पानी में डूबो दूँ।' संत बोले, 'इन्हें पानी में डूबोने से क्या होगा? यदि तुम कुछ कर ही सकते हो तो इन युवकों का अन्तरमन बदल दो ताकि ये फिर से किसी और को परेशान न करें।'

महावीर हर व्यक्ति का अन्तरमन बदलना चाहते हैं। अन्तरमन न बदला तो कुछ नहीं बदला। मुक्ति शरीर की, कपड़ों की या अन्य किसी बाहरी वस्तु की नहीं होने वाली है। मुक्ति तो चेतना की होने वाली है। जिसकी मुक्ति होने वाली है, उसका बदलना ही हमारे लिए आवश्यक है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। साधकों को इनका आचरण करना चाहिए। यदि ये स्वाश्रित हैं तो इससे मोक्ष मिलता है और यदि ये पराश्रित हैं तो बंध का कारण ही बनते हैं।

भगवान ने यहाँ पर व्यक्ति को सावधान कर दिया है कि यदि दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आचमन आत्म-भाव से होगा तो ये मोक्ष के कारण बनेंगे अन्यथा ये भी बंधन के ही हेतु होंगे। शास्त्राध्ययन करने के बाद यदि अहंकार आ जाए तो वह बंधन का कारण बन जाता है और यदि आत्मभाव का लक्ष्य रखकर शास्त्रों का अध्ययन किया जाए तो वह मोक्ष का कारण होता है। लक्ष्य ही मुख्य है।

अन्तिम सूत्र है --

पुण्यं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।

पुण्यं सुगईहेदुं, पुण्यं खएणेव णिव्वाणं॥

भगवान कहते हैं, 'जो पुण्य की इच्छा करता है, वह संसार की ही इच्छा करता है। पुण्य सुगति का हेतु अवश्य है, पर निर्वाण तो पुण्य के क्षय से ही होता है।'

जहाँ हर प्राणी पुण्य संचित करना ही धर्म का उद्देश्य समझता है, वहीं महावीर कहते हैं कि पुण्य की इच्छा करना भी संसार की ही इच्छा करना है। पुण्य के क्षय से ही मुक्ति मिलती है। पुण्य तो सुगति का हेतु है। जैसे पाप बाँधता है, वैसे ही पुण्य भी बाँधता ही है। अशुभ से शुभ अच्छा है, पर शुद्ध के लिए शुभ को

भी छोड़ना पड़ेगा। बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की, बंधन तो दोनों ही हैं। यदि आप एक रस्सी पर सोने-चाँदी, हीरे-पन्ने का काम करवाकर उसे गले में बांधकर खींचते हैं या एक चुन्नी का फंदा बनाकर गले में लटकाते हैं तो परिणाम तो दोनों का एक ही होगा। दोनों ही व्यक्ति के लिए पाश हैं, बन्धन और फाँसी हैं।

जो धूप में खड़ा है, उसे यही कहा जाएगा कि तुम धूप से छाया में आ जाओ। जो पाप में प्रवृत्त है उनके लिए पुण्य का मार्ग है, पर जो पुण्य के मार्ग पर आ चुके हैं उनके लिए तो निर्वाण ही मार्ग है। इसीलिए महावीर कहते हैं कि मैंने ही तुम्हें पाप में प्रवृत्त देखकर पुण्य के मार्ग पर आने का संकेत दिया था, पर अब जब तुम्हारे कदम पुण्य की तरफ बढ़ ही चुके हैं तो मैं ही कहता हूँ कि पुण्य की इच्छा करना भी संसार की इच्छा करना है। पुण्य सुगति का हेतु है और पुण्य के क्षय से ही निर्वाण मिल सकता है।

यदि आप मुक्ति चाहते हैं तो हर कार्य निर्वाण-प्राप्ति की इच्छा से ही करें अन्यथा तुम्हारा धर्म भी तुम्हें संसार में ही धकेलेगा। द्रौपदी ने चारित्र्य ग्रहण किया और एक बार किसी गणिका को पाँच पुरुषों के साथ आमोद-प्रमोद करते हुए देखा तो उसने भी मन-ही-मन यह भाव बना लिया कि मुझे भी मेरी साधना के प्रभाव से अगले जन्म में पाँच पुरुष या पाँच पति मिलें। जो साधना मोक्ष का हेतु बन सकती थी, वही संसार का हेतु बन गई।

संसार और सांसारिक सम्बन्धों से कैसा राग ? अतीत में जिन भोगों का उपभोग किया, जिन सम्बन्धों की परम्परा को बनाए रखा, क्या यहाँ भी हम इन्हीं का सिंचन और पोषण करते रहेंगे ? अगर आप दान भी देते हैं तो अपरिग्रह के भाव से दान दें। दान किसी पर अहसान जताने के उद्देश्य से या प्रचार के उद्देश्य से नहीं दिया जाए। दान देते समय यह भाव हो कि मेरे पास आवश्यकता से अधिक है इसलिए दे रहा हूँ। हर कार्य कर्तव्य-भाव से किया जाए। हम अड्डाई करके माला आदि पहन लेते हैं, अपना सम्मान कराते हैं, पर जैसे कीर्तिदान व्यर्थ होता है वैसे ही कीर्तितप भी व्यर्थ होता है। हर कार्य के प्रति आत्मशुद्धि की भावना हो। आपके पास सौ रुपये हैं और उनमें से भले ही आप एक रुपये का दान करें, पर उसे त्याग की भावना से करें। दान करते समय मन में भाव हो कि मेरे पास अधिक है, इसलिए मैं बाँट रहा हूँ। जैसे साँप केंचुली उतारकर फेंकता है वैसे ही श्रावक या साधु त्याग करें। शुभ और अशुभ दोनों का त्याग हो, शुद्ध की ओर

गमन हो। बोरी चाहे शक्कर की हो या रेत की, भार तो दोनों ही है। त्याग की प्रधानता हो, न कि भोग की। निर्जरा की भावना ही हमें सुगति और सद्गति की ओर ले जाएगी।

गति और स्थिति के प्रयत्न प्रतिदिन हों। प्रतिदिन व्यक्ति सांझ ढलने पर विचार करे कि मेरे द्वारा क्या शुभ हुआ है और क्या अशुभ ? शुद्ध की तरफ मेरे द्वारा कदम किस प्रकार बढ़े ? जहाँ व्यक्ति गति और स्थिति दोनों के लिए ही सजग है, वहाँ उसकी दृष्टि सम्यक् होती है। मार्ग यही है जिसे सभी ने जिया है। वह है दर्शन-ज्ञान और चारित्र का मार्ग। फर्क बस इतना ही है कि मार्ग को आज हमने पलट दिया है। आज पहले चारित्र लिया जाता है, फिर ज्ञानार्जन किया जाता है और उसके बाद सम्यक् दर्शन पर ध्यान दिया जाता है।

हम फिर से महावीर के मूल मार्ग को समझ लें। वह मार्ग है दर्शन-ज्ञान-चारित्र का। यही वह मार्ग है जिस पर चलकर मार्गफल पाया जा सकता है। मार्गफल यानी निर्वाण और मुक्ति।

आज के लिए अपनी ओर से इतना ही।

नमस्कार।





## संत स्वयं तीर्थ स्वरूप

मेरे प्रिय आत्मन् !

भगवान ने पवित्र जीवन जीने के लिए दो मार्ग प्रदान किए हैं। उनमें पहला मार्ग है श्रावक-जीवन का और दूसरा मार्ग है श्रमण-जीवन का। पहला मार्ग संसार में रहते हुए भी संसार से मुक्त होने की कला प्रदान करता है। वहीं दूसरा मार्ग संन्यास की वह रोशनी प्रदीप्त करता है जिससे मनुष्य अपनी शाश्वत स्वस्ति और मुक्ति को साधता है।

कल हमने भगवान के श्रावक-जीवन के सन्दर्भ में चर्चा की थी। आज हम मनन करेंगे उस फूल को खिलाने के बारे में, उस दीप को जलाने के बारे में, उस सूरज को उगाने के बारे में जिसे भगवान ने सन्त या श्रमण-जीवन की संज्ञा दी है।

सन्त होना अपने आप में ही महान सौभाग्य की बात है। सात जन्म के पुण्य जब उदय में आते हैं तब किसी एक जन्म में संन्यस्त जीवन का फूल खिलता है। संन्यस्त जीवन की महत्ता का अन्दाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि जहाँ संसार में धन, जमीन, जायदाद और अन्य वैभव-सम्पत्तियों का महत्त्व है, वहीं ऐसे व्यक्ति जिन्होंने संसार का समस्त वैभव प्राप्त किया, अन्ततः उनको भी मन की शान्ति प्राप्त करने के लिए, जीवन के सत्य को उजागर करने के लिए और अपनी स्वर्णिम मुक्ति को आत्मसात् करने के लिए संसार और उसके वैभव को ठोकर मारकर संन्यस्त जीवन को अंगीकार करना पड़ा।

महावीर और बुद्ध जैसे लोग जिनके पास धन था, पत्नी थी, परिवार था और राजमहल थे, वे भी अन्ततः इन सबको छोड़ निकले। इसलिए कि ये चीजें उन्हें जीवन की सदाबहार शान्ति न दे पाई जिसकी उन्हें जरूरत थी। इस संसार में भोग चाहे कितना ही प्रभावी क्यों न रहा हो, पर वह त्याग के समक्ष तो सदैव बालक ही रहा है। त्याग की महिमा इतनी रही कि स्वयं एक सम्राट् भी त्यागी के चरणों में अपना सिर झुका देता है, अपना मुकुट उनके चरणों में अर्पित कर देता है क्योंकि वह जानता है कि भोगों के आगे आत्म-समर्पण करना कितना सरल है, पर प्राप्त भोगों को त्यागना कितना कठिन है। भोग भोगना प्रवाह में बहना है, पर उस प्रवाह के किनारे आ खड़ा होना जीवन का भोग है। भोग और भोग के साधनों / निमित्तों का त्याग करना ही जीवन में संन्यास का कमल खिलाना है। ऐसे त्यागी ही सन्त कहलाते हैं।

ऐसा नहीं है कि महावीर या बुद्ध ही सन्त रहे हों, वरन् वह प्रत्येक व्यक्ति जिसने संसार के दुःखों और संसार की असारता को समझकर संन्यस्त जीवन की ओर कदम बढ़ाए, वह सन्त ही है। जिसने भोग की पराकाष्ठा को जिया, जब वही उसकी असारता को समझ लेता है तो वही योग की पराकाष्ठा को छू जाया करता है। इसीलिए सिकन्दर ने कहा था कि वह यदि सिकन्दर नहीं होता तो डायोजनीज होना पसन्द करता। वह कोई सन्त, सीनिक या अवधूत होना पसन्द करता। सिकन्दर को जब जीवन और धन, सैन्य और साम्राज्य की असारता का बोध होता है तो वह अपनी ओर से त्याग का नया कदम उठाने का संकल्प भी ले लेता है। पर ऐसा कुछ हो उससे पूर्व ही उसका आयुष्य पूर्ण हो जाता है। वह मृत्यु से परास्त हो जाता है।

कहते हैं कि ग्रीस के महान् सन्त डायोजनीज किसी बाजार के किनारे अपनी झोंपड़ी के बाहर लेटे हुए थे। जब सिकन्दर को पता चलता है कि ग्रीस में कोई अवधूत या अवघड़ सन्त रहता है तो वह उनसे मिलने पहुँचता है। वह डायोजनीज से बोलता है कि तुम मुझे पहचानते हो कि मैं कौन हूँ? मैं विश्व-विजेता सिकन्दर हूँ। इस सम्पूर्ण धरा पर मेरा ही शासन चलता है। मेरे कहने से ही पत्ता हिल सकता है और मैं कहूँ तो पत्ता भी स्थिर हो जाता है। सन्त मुस्कराए और बोले, 'मैं डायोजनीज हूँ, तुम्हारा सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन चलता है। एक तो काम मेरा भी करो। ये पाँच-दस मक्खियाँ मुझे बड़ी देर से परेशान कर रही हैं। तुम जाओ तो

इन्हें भी साथ लेते जाना।' सिकन्दर ने जब यह सुना तो उसे लगा कि उसकी तौहीन की गयी है। वह गुस्से में बोला, 'सन्त ! तुम जानते भी हो, अगर मैं चाहूँ तो तुम्हें एक क्षण में मृत्यु और चाहूँ तो एक क्षण में जीवनदान दे सकता हूँ।'

डायोजनीज हँसकर बोला, 'मैं जानता हूँ कि तुम चाहो तो मौत और चाहो तो जीवन दे सकते हो, पर मुझे सदैव इस बात का बोध बना रहता है कि एक दिन तो मृत्यु को अवश्य ही आना है। जब मृत्यु निश्चित है तो तुम्हारे चाहने या न चाहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।' कहते हैं सिकन्दर, उस सन्त की बातों से इस कदर प्रभावित हो उठा और कहने लगा, 'डायोजनीज ! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे जो मांगना चाहो, मांगो। सन्त डायोजनीज बोलते हैं, 'तुम मुझे अपनी तरफ से कुछ देना ही चाहते हो तो बस इतना करो कि ग्रीस में अभी बहुत ठण्ड है और मैं सर्दियों से ठिठुर रहा हूँ। तुम जो मेरे और सूरज के बीच आड़े आ गए हो, हो सके तो तुम चार कदम पीछे खिसक जाओ ताकि सूरज की सीधी रोशनी मुझ तक आ सके।'

कहते हैं कि तब सिकन्दर ने अपने इतिहास में यह बात लिखवाई कि सिकन्दर यदि अपने जीवन में सिकन्दर नहीं होता तो वह डायोजनीज बनना पसन्द करता। जिसने जिन्दगी में पहली बार जाना कि सन्त की निर्भीकता, साहस और अलफकड़पन क्या होता है।

सन्तों की महिमा तो सन्त ही जानें। सन्तों का जीवन तो बड़ा विरल होता है। सन्त-जीवन की इस महिमा के चलते ही महावीर जैसे महापुरुषों ने सन्त-जीवन को मुक्ति का आधार-स्तम्भ माना है। अगर सन्त लोग किसी तीर्थ पर आते हों तो यह न समझें कि सन्त तीर्थ पर आने से पवित्र होते हैं, वरन् सन्तों के कदम जिस-जिस क्षेत्र पर पड़ जाते हैं, वह स्थान स्वयं ही तीर्थरूप हो जाता है।

सन्त तो स्वयं ही तीर्थ रूप होते हैं। एक तीर्थ तो वे होते हैं जो पत्थर के बनाए जाते हैं और एक तीर्थ वे होते हैं जो जीवन्त होते हैं। महावीर कभी किसी तीर्थ पर नहीं जाते थे, वरन् मिट्टी का वह हर कण जो महावीर का संस्पर्श पा लेता था, अपने आप में पूज्य हो जाया करता था, तीर्थ बन जाया करता था। सन्तों के किसी स्थान पर जाने से ही वह स्थान तीर्थ होता है। शत्रुंजय-तीर्थ का हर कण सिद्ध-कण माना जाता है, इसलिए कि वहाँ का हर कण सन्तों की सिद्ध-आभा से अभिमण्डित है।

गीता में बहुत सुन्दर बात कही गयी—

‘स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति संतः ।’

सन्तों के जाने से तो तीर्थ स्वयं पवित्र हो जाया करते हैं। ऐसा नहीं है कि किसी गंगा में स्नान करने से सन्त पवित्र हो जाते हैं वरन् वे जहाँ स्नान कर लिया करते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाया करता है और हर पानी गंगा का निर्मल-पवित्र जल बन जाया करता है। सन्त के अगर पाँव धोकर पी लो तो वह गंगोदक या पंचामृत बन जाएगा और यदि सन्तता के प्रति श्रद्धा न हुई तो गंगा में हजार डुबकियाँ लगा लो तो भी तुम्हारी स्थिति उस मछली के समान होगी जो जिन्दगी भर गंगा में रहती है फिर भी उस गंगा का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता।

सन्त-महापुरुषों के पाँव तो तुम जिस कठौती में धो लो, वहाँ भी गंगा साकार हो जाएगी। ‘मन चंगा तो कठौती में गंगा’। सन्त गंगा के किनारे रहते हैं और गंगा सन्त-महापुरुषों के चरणों में। अगर तुम्हें लगे कि तुम्हारी ग्रह-गोचर दशा बिगड़ी हुई है तो कृपया किसी सन्त महापुरुष के चरण धोकर उस जल का घर में छिड़काव कर दो। वह चरण-जल गृह-शान्ति का आधार बन जाएगा। भाग्य और ग्रह-गोचर को भी उसका साथ देना पड़ता है जो दिन-रात भजन-भाव में लगा हुआ है और उसके चरण-जल को जिसके द्वारा श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया जाता है। कौन है सन्त, कौन है ब्राह्मण, कौन है मुनि या तापस, आज के सूत्र में भगवान इसी बात पर प्रकाश डाल रहे हैं।

सूत्र है —

न वि मुण्डिण्य समणो न ओंकारेण बंभणो ।

न मुणि रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥

समयाए समणो होइ, बंभचरेण बंभणो ।

नाणेण य मुणि होइ, तवेण होइ तावसो ॥

भगवान कहते हैं केवल सिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने से ही कोई ब्राह्मण नहीं होता है। अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुशचीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता। वह समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है।

भगवान कहते हैं कि केवल सिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं होता। बाहर का वेश बदल देने मात्र से कोई साधु नहीं बन जाता। गुणों से ही कोई व्यक्ति साधु

होता है और अपने अवगुणों से ही कोई असाधु होता है। जिसमें गुण न हो वह तो घुन ही है। मूल्य है गुणों का, मूल्य है साधना की अन्तरदृष्टि का। कबीर ने व्यंग्य कसते हुए कहा, 'मन न रंगाए, जोगी रंगाए कपड़ा।' अरे ! बाहर के वस्त्रों को रंगाने भर से क्या लाभ? जब तक मन और जीवन साधुता के रंग में न रंगा तो तुम कपड़ा चाहे सफेद पहन लो, नीला पहन लो, काला पहन लो, नग्न रह जाओ या फिर जोगिया वस्त्र धारण कर लो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ने वाला। शेर तो शेर होता है और गधा गधा ही रहता है। गधा भले ही शेर की खाल ओढ़ ले, पर खाल ओढ़ लेने मात्र से वह शेर नहीं बन जाता है। कोई गधा शेर तब ही बन सकता है जबकि उसके भीतर के गधेपन का त्याग हो जाए, भीतर में सिंहत्व का जन्म हो जाए। मूल्य है भीतर के परिवर्तन का, भीतर की साधुता का, जीवन की साधुता का। संस्कृत में एक चर्चित श्लोक है—

शैले-शैले न माणिक्यं, मौक्तिम् न गजे-गजे।

साधवो न हि सर्वत्र, चन्दनं न वने-वने॥

हर पर्वत पर माणिक नहीं होते, हर गज मुक्ता से सुशोभित नहीं होता, हर जगह साधु नहीं मिलते और हर वन में चन्दन नहीं मिलता।

जैसे पर्वत माणिक से और माणिक पर्वत से शोभा पाता है, जैसे हाथी मुक्ता से और मोती हाथी से शोभा पाता है, जैसे वन चन्दन के वृक्ष से और चन्दन का वृक्ष वन में ही शोभा पाता है, वैसे ही साधु धर्म से और धर्म साधुता से ही सुशोभित होता है। किन्हीं सात जन्मों का पुण्य उदय में आता है तब किसी ऐसे विरले सन्त के दर्शन होते हैं, जिनके दर्शन मात्र से दरिद्रता दूर हो जाती है, जिनके स्पर्श मात्र से चित्त के विकार और कषाय दूर हो जाते हैं, जिनके पास बैठने मात्र से चित्त में शान्ति अवतरित होने लगती है, जिनके सत्संग से चित्त को सुकून और दिशा मिलने लगती है, वे सन्त होते हैं। जिनकी वाणी स्वयं शास्त्र है, जिनकी दृष्टि स्वयं भगवत् स्वरूप है, वे सन्त धरती के तीर्थ हैं, मन्दिर हैं। ऐसे सन्त धरती के पापहर्ता हैं, पुण्यकर्ता हैं। ऐसे सन्तों की सच्चरित्रता की धुरी पर ही पृथ्वी टिकी है। जो सन्त न होते हुए भी स्वयं को सन्त कहते हैं, वे असन्त लोग क्षमा के पात्र हैं। ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे।

दुनिया में चार तरह के श्रमण हुआ करते हैं। पहले तो वे जो सिंह की तरह संन्यास लेते हैं और सिंह की तरह ही पालन करते हैं। दूसरे वे जो सियार की तरह

संन्यास लेते हैं और सिंह की तरह पालन किया करते हैं। तीसरे वे जो सिंह की तरह संन्यास लेते हैं और सियार की तरह पालन करते हैं। चौथे वे जो सियार की तरह संन्यास लेते हैं और सियार की तरह ही पालन करते हैं।

पहली प्रकृति के वे लोग होते हैं जो जिन विरक्ति के भावों के साथ संन्यास की दहलीज पर कदम रखते हैं और उन भावों को आजीवन बनाए रख कर अपनी स्वस्ति और मुक्ति को साधते हैं। दूसरी प्रकृति के वे लोग हुआ करते हैं जो किसी की प्रेरणा से, किसी के चढ़ाने से संन्यास ले लिया करते हैं, पर चारित्र के बाद अपनी मुक्ति के लिए किसी सिंह की तरह पराक्रम और पुरुषार्थ करते हैं। तीसरी प्रकृति के वे लोग रहते हैं जो वैराग्य भावों से ओतप्रोत होकर सन्त तो बन जाया करते हैं, पर बाद में वे लोकैषणा और संसार की मोहमाया में फँस जाते हैं। चौथे वे लोग होते हैं जो खाने-पीने के लिए ही दीक्षा लेते हैं और खाते-खाते संसार से विदा हो जाया करते हैं। वे भुक्खड़ होते हैं। सन्त का वेश उनके लिए आजीविका का साधन भर होता है। चार प्रकार से सन्त-जीवन का उपयोग किया जाता है। कुछ लोग इहलोक के लिए संन्यास ले लिया करते हैं। सोचते हैं, कुछ कमाना-धमाना नहीं पड़ेगा, रोज खाने को आराम से मिल जाया करेगा। बस, साल में एक-दो बार बाल ही तो तुड़वाने पड़ेंगे या पैदल चलना पड़ेगा। बाकी तो बस, ऐशो आराम है। ऐसे लोगों के लिए कहावत है—

*गुरांसा चाल्या गोचरी, और घोटो बाज्यो घम्म।  
श्रावकां री छाती फाटी, आयो डाकी जम्म॥*

बस, ऐसे महाराजों का एक ही काम होता है बड़ी सारी झोली भर कर गृहस्थों के घर से खाना-पीना ले आना और मजे मारना। ऐसी प्रकृति के लोग खूब खाएँगे-पीएँगे, चीलम-मस्ती करेंगे और भाँग पीएँगे। भला जो चीज गृहस्थ के लिए भी निषिद्ध है, उसे सन्त लोग किस हक से उपयोग कर रहे हैं? साधुता का निवास कोरे वेश बाने में नहीं अपितु त्याग और सच्चरित्रता में है।

दूसरे लोग वे होते हैं जो परलोक के लिए दीक्षा लिया करते हैं। वे सोचते हैं कि यहाँ तो नरक के समान दुःखों को भोग रहे हैं अतः अपना शेष जीवन पवित्रता से साधनाभय बिताया जाए ताकि मरने के बाद ऐसी किसी नरक में जन्म न लेना पड़े। तीसरे प्रकार के वे लोग होते हैं जो इहलोक और परलोक दोनों का ही हित साधने के लिए दीक्षा लिया करते हैं। पर कुछ लोग ऐसे भी हुआ करते हैं जिनका सम्बन्ध न तो इस लोक से होता है और न ही परलोक से। वे मात्र अपनी मुक्ति के

लिए, अपनी आत्मनिर्मलता और आत्मश्रेयस् के लिए संन्यस्त जीवन स्वीकार करते हैं। ऐसे लोगों का ही संन्यास की दहलीज पर अपने कदम बढ़ाना सार्थक होता है जिनके जीवन का आधार विशुद्ध आत्म-निर्मलता को साधना ही होता है।

केवल सिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार के जाप से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश-चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता है तो फिर श्रमण-जीवन की कसौटी क्या है? समता अथवा सामायिक ही श्रमण-जीवन की कसौटी है जो लाभ और हानि में, निन्दा और प्रशंसा में, जीवन और मरण में, संयोग और वियोग में, हर हाल में अपने चित्त में समभाव बनाए रखती है। साधु वही है जिसके चित्त में समता है। जो सन्त क्रोध करते हैं, वे ऐसा करके अपनी साधुता खण्डित करते हैं। जो सन्त समाज को लड़वाने और तोड़ने का काम करते हैं, वे साधुता को नष्ट और भ्रष्ट करते हैं। जो सन्त अपना जीवन खाने-पीने में बिता देते हैं, वे साधुता के मार्ग से स्थलित हैं।

सन्त तो वह है जिसके सामने खाने पर बैठने पर जो कुछ आहार मिलता है उसे समभाव से ग्रहण कर ले। खाने में भेदभाव हो सकता है। कभी किसी अमीर के घर से भी आहार मिलता है तो कभी किसी गरीब के घर से भी आहार मिलता है। कभी शहरों में भोजन मिलता है तो कभी गाँवों में भी किसी झोपड़ी से मोटी बाजरे की रोटी और छाछ भी मिलती है। महावीर जैसे लोगों को तो छः महीने के बाद भी जो आहार मिला, वह था उड़द बाकुले का। अभी कम से कम हमें छाछ और बाजरे की रोटी तो मिल रही है ना। साधु वही है जो समता से आहार को ग्रहण करे। कभी ऐसा भी हो सकता है कि ऐसा कोई श्रावक मिले जो सन्त के जीवन के बारे में उसके समक्ष ही कोई कड़वी टिप्पणी कर दे, पर सन्त वही होता है जो ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी उद्विग्न नहीं होता और अपने चित्त में शान्ति व समता बनाए रखता है। कोई ऐसा न समझे कि सामायिक ले लेने से समता आ जाती है, वरन् चित्त में जब समता सधती है तब ही सामायिक होती है। जो आसन बिछाकर, चरवला लेकर एक घण्टा बिता देते हैं, उन लोगों के लिए ही भगवान ने कहा कि केवल 'करेमि भंते' के उच्चारण से सामायिक नहीं होती और सिर मुँडवाने से कोई श्रमण नहीं होता।

सामायिक तो वह होती है जहाँ पर हर पल, हर हाल और हर परिस्थिति में व्यक्ति के चित्त में शान्ति, सौम्यता, सहजता, सजगता और सरलता बरकरार

रहती है। विपरीत हालात, विपरीत परिस्थिति में भी चित्त की शान्ति और समता बरकरार रखना, चित्त में फिर भी प्रेम, सद्भाव और आशीष बनाए रखना इसी में साधुता की आत्मा निहित होती है। बुरा करने वाले का भी भला चाहना यही तो साधुता है। कुविचार, कुवाणी, कुकृत्य की बजाय सद्विचार, शुभवाणी और सुकृत्य का आचरण करना ही साधुता की धुरी है। मूल्य इसका नहीं है कि तुम्हारे पत्नी है या नहीं, मूल्य इस बात का है कि तुम्हारी दृष्टि में प्रभुता है या नहीं। शरीर को तुम भगवान का मन्दिर समझो और औरों को भगवान की मूरत, फिर तुम अपने साथ तथा औरों के साथ जो भी व्यवहार करो, तुम्हारा हर कर्म साधु-कर्म कहलाएगा। तुम्हारा जीवन साधुमय होगा। तुम्हारी हर हालत में अपनायी जाने वाली सौम्यता और सज्जनता में ही साधुता के अर्थ समाये हैं और ऐसी समता ही साधुता की कसौटी है।

हम लें एक बहुत ही प्यारा प्रसंग – विश्व के प्रसिद्ध सन्त फ्रांसिस के जीवन से। सन्त फ्रांसिस के नाम से ही फ्रांस देश का नाम पड़ा और सेण्ट फ्रांसिस्को शहर का नाम भी उनके नाम से ही पड़ा। सन्त फ्रांसिस एक बार अपने शिष्य 'लियो' के साथ सेण्ट फ्रांसिस्को नगर की तरफ जा रहे थे। बरसात बहुत तेजी से बरस रही थी। उस समय कच्ची सड़कें ही हुआ करती थीं। अतः सन्त फ्रांसिस और लियो कीचड़ से लथपथ हो गए। रास्ते में चलते-चलते सन्त फ्रांसिस ने लियो से पूछा, 'क्या तुम जानते हो कि सच्चे साधु कौन होते हैं?' लियो चुप ही था। सन्त फ्रांसिस स्वयं ही बोले, 'सच्चा साधु वह नहीं होता जो किसी रोगी को ठीक कर दे। सच्चा साधु वह भी नहीं होता जो पशु-पक्षियों अथवा पेड़-पत्तियों की भाषा समझ ले। सच्चा साधु वह भी नहीं होता जिसने घर-परिवार से नाता तोड़ लिया हो या सबको छोड़ दिया हो और सच्चा साधु वह भी नहीं होता जिसने मानवता की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दिया है।'

लियो जो मौनपूर्वक सब बातें सुन रहा था, उसका चौंकना स्वाभाविक था, क्योंकि ये ही तो वे बातें हैं जो सामान्यतया साधुता के लक्षण मानी जाती हैं। लियो बोला, 'तब सच्चा साधु कौन होता है?' फ्रांसिस ने कहा, 'वत्स! मान लो कि जब मैं और तुम सेण्ट फ्रांसिस्को पहुँचेंगे तो इस बरसाती अंधेरी रात में हम कीचड़ से लथपथ होंगे और धर्मशाला के द्वार-दरवाजे बन्द मिलेंगे। जब हम दरवाजे पर दस्तक देंगे तो चौकीदार पूछेगा, 'कौन?' हमारा जवाब होगा, 'दो साधु!' यह सुनते ही चौकीदार भड़क उठेगा और चिल्ला कर कहेगा, 'मुफ्तखोरो! भागो यहाँ

से। न जाने कहाँ से आ पड़े आधी रात को।' हम धैर्य रखते हुए फिर दरवाजा खटखटाएँगे। चौकीदार पुनः बड़बड़ाते हुए पूछेगा, 'कौन?' हम उतने ही धैर्य से जवाब देंगे, 'भाई तुम्हारे वे ही दो साधु।' हमारा जवाब सुनकर वह झुँझला उठेगा और हाथ में लाठी लिए हुए धड़धड़ाते हुए दरवाजा खोलेगा और हमें कीचड़ से लथपथ हुआ देख हम पर लाठी के दो वार करेगा, अपमानित करेगा। इसके बावजूद हमारे हृदय में उसके प्रति कोई शिकन के भाव न हों, उसमें भी प्रभु का रूप निहारते रहें, तो यही है, सच्ची और वास्तविक साधुता।

साधुता का मापदण्ड है हर परिस्थिति में चित्त में रहने वाली समता, सरलता, सहजता, सौम्यता। महावीर की भाषा में यही साधुता का लक्षण है। इसीलिए महावीर ने कहा कि समता से कोई श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से कोई ब्राह्मण होता है, ज्ञान से कोई मुनि होता है और तपस्या करने से कोई तपस्वी होता है। जीवन में गुण होने से व्यक्ति गुणवान कहलाएगा। चोगे बदल लेने मात्र से कोई सन्त नहीं हो जाता। हृदय-परिवर्तन से ही जीवन-परिवर्तन सम्भावित है। आप अपनी साधुता को परखने के लिए अपने चरित्र को परखिये। चरित्र को परखने के लिए अपनी आदतों को परखिये क्योंकि आदतें क्रियाओं से बनती हैं। क्रियाओं को जांचने के लिए अपनी वाणी और शब्दों को जांचिये। शब्दों का निर्माण विचारों से होता है और विचार मन से निष्पन्न होते हैं। इसलिए एक मन ही बदल जाए तो विचार, वाणी, व्यवहार, चरित्र सभी बदल जाते हैं। आप मूल के प्रति सजग रहें। मन को साधु बनाएँ। भले ही आप घर में रहें, पर कमल की तरह निर्लिप्त गृहस्थ-सन्त बनें। समता आपके जीवन का निर्णय होना चाहिए। शान्ति और समता आपका व्यवहार और लक्ष्य होना चाहिए।

इस सन्दर्भ में भगवान अगला सूत्र दे रहे हैं –

*देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।*

*अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिंगी हवे साहू॥*

भगवान कहते हैं, 'जो देह आदि की ममता से रहित है, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है तथा जो अपनी आत्मा में ही लीन है, वही साधु भावलिंगी है।' पहले भगवान ने एक बात अपने सन्तजनों के समक्ष स्पष्ट कर दी थी कि हर व्यक्ति अपने चित्त में, अपने हृदय में यह बात उतार ले कि वेश-परिवर्तन या नाम-परिवर्तन से कोई सन्त नहीं होता। इसी सन्दर्भ में भगवान का संकेत है कि दुनिया

में दो तरह के लिंग प्रचलित हैं। पहला द्रव्य-लिंग और दूसरा भाव-लिंग। मुक्ति में तो भाव-लिंग ही सहायक बनता है। द्रव्य-लिंग तो हमने पूर्व के किसी जन्म में भी धारण किया, पर वह भावलिंग जो हमारे जन्म-जन्मान्तर के कषायों को, हमारे अवसरों को नष्ट या शान्त कर सके, वह योग्यता हम नहीं पा सके।

और जब तक चित्र में आश्रवों और कषायों का प्रवाह जारी रहेगा, तब तक हर साधु द्रव्य-लिंगी ही है। इसलिए महावीर ने भाव-लिंगी साधु के तीन गुण बताए। पहला यह कि वह देह आदि की ममता से रहित हो, दूसरा मान आदि कषायों से मुक्त हो और तीसरा आत्मज्ञानी हो। योगी आनन्दधन ने बड़ा ही सुन्दर पद गाया, 'आत्मज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्य लिंगीरे।' पहली बात भगवान ने यही कही कि साधु देह की ममता से रहित हो। वह देह में रहकर भी विदेह अवस्था को जिए। देह तो धर्म को साधने का साधन भर है। उसे साधन जितना ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। देह तो क्षणभंगुर है। यह सड़न-गलनशील है। अच्छे से अच्छे पदार्थ को भी यह विष्टा ही बनाती है। जब तक शरीर का संसर्ग न हो, तभी तक कोई वस्तु अपना स्वरूप लिये रहती है। शरीर का संसर्ग पाते ही वह विकृत होना शुरू हो जाती है। मल-मूत्र, पसीना, कफ-खून इसके बड़े विचित्र परिणाम हैं, इसलिए सन्त वह जो देह में रहे, पर देह का न रहे। जो देह में रहे, पर जिसका लक्ष्य देह के पार उठ चुका है। जो देह में रहने वाले प्राणतत्त्व पर जागृत हुआ, वह सन्त कहलाता है।

आज अधिकांश लोग दैहिक जीवन ही जीते हैं, खाना-पीना और देह के पोषण में लगे रहना। भगवान महावीर ने तो साधु के लिए एक समय ही आहार लेने की बात कही थी। उन्होंने साधु के लिए कहा था—'एगे वत्थे, एगे पाये।' अर्थात् साधु एक वस्त्र और एक ही पात्र रखे।

पर ज्यों-ज्यों साधु-जीवन के मूल्यों का हास हुआ, त्यों-त्यों परिग्रह और देह-पोषण की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। गजसुकुमाल मुनि जिनके सिर पर उनके ही श्वसुर सोमिल ब्राह्मण ने अंगारे की सिगड़ी बनाई, पर उन्होंने उसे भी मोक्ष की पगड़ी समझा और अपना विदेह-भाव बनाए रखा। वे समत्व-भाव में स्थित रहे। मेतार्य मुनि जिनके सिर पर स्वर्णकार ने चमड़े की मशक बाँध दी, तब भी अपार वेदना के उन क्षणों में भी वे समताशील बने रहे। दमयंत मुनि, जिन्हें यादव कुमारों ने पत्थरों से पीटा, तब भी उन्होंने विदेह-भाव बरकरार रखा।

देह-पोषण और देह के प्रति ममत्व भाव जितना कम होगा, विदेह भाव उतना ही प्रगाढ़ होगा। व्यक्ति जितना विदेह अवस्था में रहेगा, उतना ही वह मुक्ति के करीब होगा, उतना ही वह उच्च गुणस्थान पर आरूढ़ होगा। भगवान ने कहा कि 'भावलिंगी साधु वह है जो मान आदि कषायों से मुक्त हो।' साधु और मान दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। साधु स्वर्ग है तो मान नरक। साधु पुण्य है तो अभिमान शूल है। साधु मानसरोवर है तो अभिमान दलदल। साधु और मान ! बिलकुल विपरीत बात हुई। साधु अगर अभिमानी या घमण्डी है तो वह साधु के अर्थ को कहाँ सार्थक कर रहा है? ध्यान रखें, जहाँ अभिमान है, वहाँ क्रोध भी है। व्यक्ति का अभिमान जैसे ही बाधित होता है, क्रोध का कारण बन जाता है। क्रोधी साधु मरकर चंडकौशिक ही होता है, भद्रकौशिक कतई नहीं। जो सर्प-बिच्छु फुफकार रहे हैं, सम्भव हैं वे पहले साधु भी बने हों, पर अपने झूठे अभिमान और क्रोध के कारण वे मरकर सर्प-बिच्छु बने।

मेरी समझ से साधुता की शुरुआत का पहला पगथिया (सोपान) ही अहंकार का त्याग है। जीवन में सरलता को स्वीकारना ही साधुता की प्राथमिक परीक्षा पास करना है। भगवान ने कहा कि 'सच्चा साधु वह है जो मान आदि कषायों से उपरत है।' साधुजनों के भी अपने-अपने अहंकार होते हैं। समाज को विभिन्न पंथों और सम्प्रदायों में बाँटने का साठ प्रतिशत श्रेय साधुओं को जाता है और चालीस प्रतिशत श्रावकों को। अपने-अपने गुमान, दुराग्रही अभिमान और अहंकार की लड़ाई के चलते ही साधुजन-समाज को, धर्म को, विभिन्न पन्थों और वर्गों में बाँट देते हैं। इसीलिए भगवान ने कहा कि 'साधु मान आदि कषायों से मुक्त हो।'

साधु तो वह होता है जिसके लोभ, क्रोध, मान, माया, राग-द्वेष आदि क्षीण हो गए हों। साधु की कसौटी ही यही है कि विपरीत परिस्थितियों में भी वह संयम रखे और क्रोध न करे। यदि कोई गृहस्थ एक मास के उपवास के दौरान एक बार भी क्रोध करता है तो उसका प्रायश्चित्त भगवान ने दो मास-क्षमण फरमाया अर्थात् उसे दो माह के उपवास का दण्ड मिलता है और यदि एक साधु अपने साधु-जीवन में एक क्षण के लिए भी क्रोध करता है तो साधुता से च्युत हो जाता है। क्रोध, लोभ, मान, माया आदि के साथ साधु का कहाँ सम्बन्ध? यदि इनके साथ उसका सम्बन्ध है तो फिर वह साधु कहाँ रहा?

'णमो लोए सव्वसाहूणं' के पद पर आना बहुत सरल है, पर इस पद की गरिमा को, इस पद के कर्तव्य को निभाना बहुत ही कठिन है। अगर आप दीक्षा ले

लेते हैं तो आप भी महामंत्र नवकार के पाँचवें पद पर आसीन हो जाते हैं और लोग आपके इस साधु-रूप को वन्दन करेंगे। पर सदैव यह याद रखें कि जो आप को अपने प्रणाम और वन्दन साधु समझकर अर्पित कर रहा है, उसके तो कर्मबन्धन कट गए, पर यदि एक साधु, साधु न होकर भी अपने को वन्दन करवाता है तो वह अपने भव-भ्रमण और कर्मबन्धन को और बढ़ाता है।

अगर कोई साधु नहीं है तो ईमानदारी से स्वीकार किया जाना चाहिए कि वह उन जीवन-मूल्यों को नहीं जी पा रहे। हाँ, हम ईमानदारी से यह स्वीकार करते हैं कि भगवान महावीर ने श्रमण जीवन के लिए जो चर्या निर्धारित की है अथवा जिस प्रकार के जीवन को निर्देशित किया, हम उसे नहीं जी पा रहे हैं। वह हर सन्त जो जीवन के प्रति ईमानदार होगा, यह स्वीकार करेगा कि आज के युग में महावीर द्वारा निर्धारित जीवनचर्या को जी पाने में असमर्थ है। भगवान द्वारा प्ररूपित श्रावक-जीवन को जीने वाले न तो अब कोई श्रावक बचे और न ही शुद्ध श्रमण-धर्म को पालन करने वाले कोई साधु बचे हैं। न तो कोई साधु, साधु रहा है और न ही कोई श्रावक, श्रावक रहा है। उन ऊँचाइयों को छूने वाला, उन मापदण्डों को मापने वाला न तो कोई साधु बचा है और न ही कोई श्रावक।

अब जब कि शुद्ध श्रावक ही न बचे तो शुद्ध श्रमण कहाँ से आएँगे? श्रमण श्रावक का ही तो अगला चरण है। जैसा कोई श्रावक रहा, वैसा ही कोई श्रमण होगा। जब श्रावक नाम का अणुव्रती रह गया तो श्रमण भी तो नाम के ही महाव्रती होंगे। महाव्रती किसी दृष्टि से अणुव्रती भी हो गए और अणुव्रती तो कहीं के न रहे। वर्तमान में जो है, ठीक है। असुविधा तो तब होती है जब महावीर या उनके समय के साथ उसकी तुलना या विवेचना की जाती है।

भगवान ने कहा कि 'साधु वही है जो समता को जिए, कषायों से मुक्त हो और आत्मध्यान में लीन रहे।' याद है न, बाहुबलि जो चौदह वर्ष तक साधना में लीन रहे, आहार भी नहीं लिया, यहाँ तक कि शरीर को हिलाया भी नहीं, फिर भी उनकी साधना फलीभूत नहीं हुई। कारण रहा – मान का मर्दन न हो सका, अहंकार का विसर्जन न हुआ। इस अहंकार-ग्रन्थि के चलते ही वह कैवल्य-लाभ से वंचित रहे। मान हो या क्रोध, कषाय तो व्यक्ति को बाँधे ही रखता है, जिसके कारण वह भाव-शुद्धि की तरफ बढ़ नहीं पाता।

कषायों पर विजय पाना हर व्यक्ति का पहला धर्म हो। तुम एक ओर से

कषायों का उपशमन करो और दूसरी ओर से जीवन में ज्ञान की ज्योति प्रकाशित करो, ये दो तरफे प्रयास तुम्हारे जीवन में मुक्ति की आभा प्रदान करेंगे। इसी सन्दर्भ में अगला सूत्र है—

परिनिव्वुडे चरे, गाम गए नगरे व संजए।  
संतिमगं च बूहए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

वर्तमान युग के लिए यह महावीर का बहुत ही सन्देशवाहक सूत्र है। भगवान कहते हैं, 'प्रबुद्ध और उपशान्त होकर संयत भाव से ग्राम और नगर में विचरण करो। शान्ति का मार्ग बढ़ाओ। हे गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत करो।

भगवान ने धर्मविचारक और धर्म-प्रचारक के लिए दो आवश्यक बातें कहीं। पहली यह कि जो धर्म का प्रचार करे, वह प्रबुद्ध और ज्ञानी हो तथा शास्त्र के मर्म का ज्ञाता हो। क्योंकि जब वह भगवान के मार्ग का प्रचार करने के लिए गाँव-गाँव नगर-नगर जाएगा, तब सम्भव है कि लोग उससे विविध प्रश्न पूछें। एक शास्त्रवेत्ता, एक ज्ञानी पुरुष ही उनकी विविध शंकाओं का समाधान कर उन्हें शान्ति, मैत्री और प्रेम के मार्ग पर चलने के लिए सहमत कर सकता है।

भगवान ने किसी भी धर्मप्रचारक के लिए जो दूसरी आवश्यकता या दूसरा गुण कहा, वह यह है कि वह शान्त हो। विभिन्न ग्रामों और नगरों में विचरण करते हुए विभिन्न प्रकार के लोग उसे मिलेंगे। जितने प्रकार के लोग, उतने ही उनके दिमाग और उतनी ही बातें। हो सकता है कोई गृहस्थ विपरीत टीका-टिप्पणी भी कर दे। वह तो गृहस्थ है, पर हमने तो भगवान के अहिंसा, प्रेम, मैत्री और शान्ति के मार्ग को आगे बढ़ाने के लिए यह जीवन स्वीकार किया है। यदि सन्त भी शान्त न रह सका, तो उसके द्वारा धर्म की प्रभावना होगी कि धर्म की अवहेलना? वह धर्म का विकास करेगा या धर्म का हास? एक गुस्सैल व्यक्ति जो स्वयं के चित्त को शान्त न कर सका, वह दूसरों को शान्ति का मार्ग कैसे बता सकेगा? विजय की प्रेरणा देने वाले को आत्म-विजेता होना पहली शर्त है।

भगवान बुद्ध और उनके प्रिय शिष्य आनन्द के जीवन से जुड़ी एक बड़ी प्यारी घटना लें। कहते हैं कि एक बार आनन्द ने भगवान बुद्ध को निवेदित किया, 'धन्ते ! मैं आपके शान्ति के मार्ग के प्रचार-प्रसार के लिए अंग-बंग और कलिंग देशों में जाना चाहता हूँ। कृपया आज्ञा प्रदान करें।' बुद्ध बोले, 'वत्स ! तुम अन्यत्र जहाँ भी जाना चाहो मेरी अनुमति है, पर अंग-बंग और कलिंग देशों में न

जाओ, यही श्रेयस्कर है। वहाँ के लोग किसी भी साधु को देखते ही उसके पीछे शिकारी कुत्ते छोड़ देते हैं और अन्य भी कई प्रकारों से तंग करते हैं।

भगवान का उत्तर सुनकर आनन्द बोला, 'प्रभु ! अन्य क्षेत्रों में तो अन्य लोग भी जाने का साहस कर सकते हैं, पर मैं तो अंग-बंग और कलिंग देशों में ही जाना चाहता हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ कि आपके शान्ति, प्रेम और करुणा के मार्ग की वहाँ अधिक आवश्यकता है।' भगवान ने कहा, 'तो जाने से पहले मेरे एक प्रश्न का उत्तर तो देते जाओ। यदि वहाँ के लोगों ने तुम्हें अपमानित और लांछित किया तो तुम क्या करोगे?' आनन्द बोला, 'प्रभु ! मैं यह सोचूँगा कि यहाँ के लोग बड़े ही भले हैं। केवल बुरे शब्द ही कहते हैं, किन्तु मारते तो नहीं हैं।' तब भगवान ने कहा, 'यदि वे तुम्हें थप्पड़ और मुक्के धर ही दें तो तुम्हारी क्या प्रतिक्रिया होगी?' आनन्द ने कहा, 'भन्ते ! मैं सोचूँगा कि ये लोग कितने भले हैं। हाथ से ही काम चलाते हैं, तलवार आदि का तो उपयोग नहीं करते।' भगवान ने कहा, 'यदि उन्होंने तलवार, भाले आदि से तुम्हारे हाथ-पाँव ही काट दिए तो?' आनन्द ने सहजता से जवाब दिया, 'प्रभु ! मैं सोचूँगा कि ये लोग अच्छे हैं, केवल मेरे अंग ही क्षत-विक्षत कर रहे हैं। कम-से-कम मेरे प्राण तो नहीं ले रहे।' बुद्ध बोले, 'तब मेरे अन्तिम प्रश्न का जवाब देते जाओ। यदि उन लोगों ने तुम्हें जान से मार ही डाला तो तुम्हारे मन में क्या भाव उठेंगे?' आनन्द ने कहा, 'प्रभु ! मुझे अन्तर-गौरव होगा कि मैं आपके प्रेम और शान्ति के मार्ग का प्रचार-प्रसार करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ। मुझे मेरा जन्म और मेरी मृत्यु दोनों ही सार्थक लगेंगे।'

भगवान बुद्ध बोले, 'वत्स ! तुम्हारी समता एवं सहनशीलता निश्चित रूप से अभिनन्दनीय है। तुम जैसे प्रबुद्ध और उपशान्त व्यक्ति ही अहिंसा और समता के मार्ग को प्रशस्त और प्रसारित कर सकते हैं। अहिंसा भी तुम जैसे व्यक्ति का वरण कर गौरवान्वित होती है। आज हम जिस तनाव, हिंसा, आतंक, युद्ध और भय के दौर से गुजर रहे हैं, जहाँ पर युद्ध आने वाले कल के लिए विश्व-युद्ध का कारण है, वहाँ हर धार्मिक व्यक्ति प्रेम, करुणा, अहिंसा और विश्व-बन्धुत्व के मार्ग को आगे बढ़ाने के लिए हर क्षण प्रयत्नशील बने।

हर सन्त, हर श्रमण का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह विश्व को महावीर की अहिंसा, शान्ति और करुणा के मार्ग से पुनः परिचित कराए। तुम स्वयं जीवन के साधु बनो और अपने साधु-व्यवहार से सब को जीने का उदाहरण प्रदान करो।

शुरुआत स्वयं से हो। धर्म के लिए मणभर आचरण की बजाय कणभर का आचरण ज्यादा वजनदार होता है। हम सन्त-महापुरुषों के आभारी हैं जो श्रेष्ठ जीवन जीकर हमें वैसा जीवन जीने का प्रकाश प्रदान करते हैं। ऐसे लोगों के साथ उठना-बैठना-जीना ज्यादा लाभकर है क्योंकि वे स्वयं दीपक की तरह प्रकाशित हैं और औरों को भी प्रकाश प्रदान करने की उदारता रखते हैं। हम साधु बनें, जीवन के साधु! जीवन में पलने वाली बुराइयों और अन्धविश्वासों का त्याग करें। यह त्याग सबके लिए स्वीकार्य है। सबके लिए अनुकरणीय है। संन्यास का अर्थ त्याग है और जीवन की बुराइयों और अन्धविश्वासों का त्याग करना सर्वश्रेष्ठ संन्यास है।

सार रूप में पाँच सूत्र ले लें -

१. व्यक्ति अपनी समता से सन्त होता है।
२. सन्तों को देह की ममता से उपरत रहना चाहिए।
३. क्रोध, मान आदि कषायों से मुक्त रहना सन्तों का पहला धर्म है।
४. आत्म-स्वरूप में लीन रहना सन्त का चौथा कर्तव्य है।
५. अन्तिम सूत्र है सन्त को प्रबुद्ध और उपशान्त होकर विश्व में प्रेम और शान्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

ये पाँच सूत्र किसी भी संत के लिए पंचामृत की तरह हैं। इन सूत्रों को आत्मसात करके ही व्यक्ति सन्त-जीवन के गौरव को प्राप्त कर सकता है। ऐसा सन्त-जीवन स्वयं को भी धन्य करता है और संसार को भी। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण, दो कल्याण-पथों पर एक साथ चलने वाले पथिक का नाम ही सन्त है। सन्त संसार के लिए दीपशिखा है, प्रकाश-स्तम्भ है, मील का पत्थर है।

*साधु ऐसा चाहिए, जैसे सूप सुभाय।*

*सार-सार को गहिर रहे, थोथा देइ उड़ाय ॥*

सार-सार का ग्रहण हो, असार का त्याग हो। साधुता का ग्रहण हो, असाधुता का त्याग हो। औरों के साथ भलाई के साथ पेश आना और अपने मानसिक विकार पर विजय प्राप्त करना यही है साधुता, यही है लक्ष्य और यही है पुण्य पथ।





मेरे प्रिय आत्मन् !

भगवान महावीर के दिव्य एवं अमृत वचनों में हम कुछ ऐसे सूत्रों पर विचार कर रहे हैं जिनका हमारे जीवन के कल्याण और विकास में सहजतया सहयोग मिलता है। भगवान के मूल मार्ग पर चर्चा करते हुए हमने सम्यक् दर्शन पर विचार किया है और आज हम सम्यक् ज्ञान की तरफ अपनी दृष्टि बढ़ा रहे हैं।

महान् लोगों के शब्द, उनका सान्निध्य और उनकी स्मृति व्यक्ति के लिए वैसी ही कल्याणकारी होती है जैसे कि अंधकार में भटक रहे किसी व्यक्ति के लिए दूर से आती हुई प्रकाश की किरण। आदमी जैसे लोगों के पास बैठता है, जैसे शब्द सुनता है और जैसा देखता है, वैसा-वैसा प्रभाव धीरे-धीरे उसके जीवन पर पड़ता है। एक सीधी-सी कहावत है — 'काळे कने गोरो बैठे, रंग नीं तो लखण जरूर लेवे।' यानी दो व्यक्ति यदि पास में बैठते हैं तो उनके रंग भले ही एक-दूसरे में परिवर्तित न हों, पर उनका ज्ञान, अक्ल, बुद्धि एक दूसरे को जरूर प्रभावित करते हैं। जैसी संगत, वैसी रंगत। यदि व्यक्ति प्रतिदिन आकाश को निहारता है तो उसमें आकाश साकार होने लगता है और यदि कोई व्यक्ति प्रतिदिन चाँद-तारों को निहारता है तो उसके भीतर चाँद-तारे उससे बातें करने लगते हैं। यदि तुम लगातार गीत सुनते हो तो तुम्हारे भीतर गीत गुंजायमान होने लगते हैं। यदि तुम लगातार फूलों को निहारते हो तो तुम्हारे अन्दर भी फूल खिलने लगेंगे।

यदि तुम किसी व्यक्ति के बारे में जानना चाहते हो तो मैं कहूँगा कि तुम यह जानने की तकलीफ मत करना कि उसके माता-पिता कौन हैं ? यह भी जानने की कोशिश मत करना कि उसका कुल या गौत्र क्या है ? यदि तुम उसकी सोहबत जान लोगे तो तुम्हें यह सहजतया ही पता चल जाएगा कि वह व्यक्ति कैसा है ? वह व्यक्ति किनके साथ उठता-बैठता है, किनके शब्दों को सुनता है और किनकी याद करता है ? इसके आधार पर व्यक्ति के चरित्र व उसके स्वभाव का आसानी से पता लग सकता है।

यदि तुम किसी महावीर का सान्निध्य प्राप्त करते हो तो निश्चित रूप से तुम में महावीरत्व घटित होगा। उनके शब्दों का श्रवण तुम्हारे अन्तस् में छिपे हुए तमस् को मिटाने के लिए प्रकाश-किरण सिद्ध होगा। हजारों वर्षों बाद आज भी महावीर का स्मरण व्यक्ति के जीवन के कल्याण का आधार बनता है। हम इतने भाग्यशाली नहीं हैं कि आज हमें महावीर का सान्निध्य प्राप्त हो, पर यह हमारा परम सौभाग्य है कि हमें उनकी वाणी, उनके शब्द उपलब्ध हैं। ये शब्द हमारे लिए उसी तरह कारगर हो सकते हैं जैसे किसी निराश व्यक्ति के लिए खिला हुआ गुलाब का फूल प्रेरणा लेकर आए। आज हम महावीर के उन सूत्रों पर चर्चा करेंगे जिन्हें श्रावक के जीवन की नींव कहा जा सकता है।

सूत्र है -

सोच्चा जाणई कल्लाणं, सोच्चा जाणई पावणं,  
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं छेयं तं समायरे।

भगवान कहते हैं - 'सुनकर कल्याण का मार्ग जाना जा सकता है, सुनकर पाप का मार्ग जाना जा सकता है। दोनों को जानकर उनमें जो श्रेयस्कर हो, उसका आचरण किया जाए।'

चाहे आत्महित का मार्ग हो या पाप का, चाहे पुण्य की पारमिताओं को छूना हो या पाप की वैतरणी में डूबने का मार्ग हो, दोनों को सुनकर ही जाना जा सकता है। शायद ही धरती पर इतना सरल सूत्र यां मुक्ति का सरल मार्ग बताया गया हो, जहाँ आचरण से पूर्व भी सुनने पर बल दिया गया हो।

भगवान ने कहा कि तुम मार्ग को आचरण में लाने से पूर्व उसे जानो। जब तक यह जाना ही नहीं कि सही राह कौन-सी है और गलत कौन-सी तो व्यक्ति सही राहों को थाम कर गलत राहों से कैसे बच सकेगा ? एक व्यक्ति वह है जो कि

ठोकर खाकर सुधरता है, दूसरा व्यक्ति वह है जो दुबारा ठोकर खाता है और तीसरा व्यक्ति वह है जो दूसरों को ठोकर खाते देखने मात्र से ही सँभल जाता है। हाँ, कुछ लोग इस कद्र मूर्च्छा और माया में जकड़े रहते हैं कि वे ठोकर पर ठोकर खाते रहते हैं किन्तु कुछ भव्य प्राणी ऐसे भी होते हैं जो दूसरों के अनुभव को सुनने मात्र से ही सही राहों को चुन लेते हैं।

सुनना सदा सर्वांगीण होता है, जबकि देखना नहीं। भगवान का यह सूत्र संपूर्ण विश्व को बता दिया जाना चाहिए कि वे जहाँ हर जगह सम्यक् दर्शन को प्रथम स्थान पर रखते हैं, वहीं इस सूत्र में उन्होंने सम्यक् श्रवण को सर्वोपरि माना है।

जे. कृष्णमूर्ति ने जिसे राइट लिंसिंग कहा, महावीर ने उसे ही 'सम्यक् श्रवण' कहा। श्रवण ऐसा हो कि व्यक्ति अपना सम्पूर्ण मनोयोग सुनने में लगा दे। यदि व्यक्ति सुनने के साथ सोचने भी लग जाए तो उसका श्रवण सम्यक् न हो पाएगा, क्योंकि जब व्यक्ति किसी बिन्दु पर सोचता है तो उस सोच का पड़ाव कहाँ होगा, यह वह व्यक्ति भी शायद नहीं जानता है।

महावीर ने अपनी तरफ से त्रिरत्न – सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र दिए। बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का मार्ग दिया। गीता ने ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग की महत्ता बताई। मैं उपनिषद् का भी स्पर्श करना चाहूँगा। उपनिषद् ने तीन सूत्र दिए – श्रवण, मनन और निदिध्यासन। बहुत ही सुन्दर बात कही गई कि श्रवण के साथ एकान्त में उसका मनन किया जाए और मनन के साथ सदा उसकी स्मृति रखी जाए। स्वयं की सतत आत्मस्मृति का नाम ही निदिध्यासन है। सम्यक् श्रवण किसी पार लगाने वाली नौका के समान हो सकता है। वह एक मंत्र की तरह प्रभावी हो सकता है। उससे एक आभामण्डल का निर्माण हो सकता है। सुनना, देखने से अधिक प्रभावी होता है। सुनने और देखने में वैसे ही अन्तर होता है जैसे कि एक स्त्री और पुरुष में। एक स्त्री कोमल, सहनशील और सरल होती है। उसका अन्तिम हथियार आक्रमण होता है जबकि पुरुष का पहला हथियार ही आक्रमण होता है। वह सीधा ही बल-प्रयोग करता है, गाली-गलौच और हाथापाई करता है।

व्यक्ति के कान स्त्री के समान हैं और आँखें पुरुष के समान। आँखें घूर कर देख सकती हैं, पर क्या कानों को आपने किसी को घूरते हुए देखा है? यदि आप किसी को लगातार टकटकी से देखेंगे तो आपको जल्दी ही 'लुच्चे' का

विशेषण मिल जाएगा। आपको पता है 'लुच्चे' शब्द का उद्भव कैसे हुआ ? 'लुच्चा' शब्द लोचन से बना है। जब व्यक्ति अपने लोचन यानी आँखें किसी एक पर टिका देता है तो उसे लुच्चा कहा जाता है। आप यदि अपने कान किसी पर घंटों टिका दें तो कोई हर्ज नहीं है। आप यदि पूरे कान लगाकर मनोयोग से मुझे सुनते हैं तो मैं भी प्रभावित होने लगूँगा कि कितना धार्मिक और अच्छा व्यक्ति है। यदि आप लगातार मुझे घूरते रहें तो मैं भी यही समझूँगा कि शायद कुछ गड़बड़ है। कान तो ग्राही होते हैं और आँखें आक्रामक।

कान तीन प्रकार के होते हैं – पहले वे जो सुनते हैं कुछ, और सोचते हैं कुछ और। जैसे कोई व्यक्ति यहाँ सत्संग में बैठकर किसी फिल्म के बारे में सोच रहा हो। एक व्यक्ति सत्यनारायण की कथा में बैठकर किसी अन्य सत्यनारायण के बारे में सोच सकता है। ये कान वैसे ही हैं जैसे किसी दीवार पर गेंद फेंकी जाए जो दीवार से टकराने के बाद फिर जमीन पर उछल जाती है। ऐसे कान की कीमत दो कौड़ी की होती है। दूसरे प्रकार के कान वे होते हैं जो एक से सुनते हैं और दूसरे से निकाल देते हैं। ऐसे कानों की कीमत दो रुपये की होती है। तीसरे प्रकार के कान वे हैं जो दोनों भले ही बाहर की ओर खुलते हैं, पर जाते हैं हृदय की तरफ। ऐसे कान सत्श्रवण कर उसे हृदय में उतार लेते हैं। ऐसे कान की कीमत दो लाख से कम क्या होगी !

भगवान के सत्संग की पवित्र वाणी को सुनने का अधिकारी वही व्यक्ति है जो तीसरे प्रकार के कानों को धारण करता है। पहले प्रकार के कान को धारण करने वाले व्यक्ति के लिए महापुरुषों की वाणी अर्थहीन है। उसके जीवन में ये सूत्र कोई क्रान्ति नहीं ला पाएँगे। दूसरे प्रकार के कान वाले व्यक्ति के लिए भी ये शब्द दिमाग में उठने वाली किसी तरंग से अधिक नहीं हो सकते। धन्य तो वे व्यक्ति हैं जिनके कान से सुने हुए शब्द सीधे हृदय में उतरते हैं। ऐसे पुरुषों के लिए प्रभु की वाणी अमृततुल्य होती है।

आप जिस जगह पर बैठे हैं, जानते हैं न उसे तीर्थ कहते हैं? आपके लिए कोई नाकोड़ा या नागेश्वर तीर्थ होता होगा, पर भगवान ने जिस तीर्थ की स्थापना की, वह उनसे भिन्न है। उन्होंने जिस तीर्थ को स्थापित किया उसमें चार मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गईं। आपने समवसरण में महावीर के चौमुख अर्थात् चारों दिशाओं में मुख देखा होगा। यह तो भगवान का अतिशय है, पर भगवान ने जिन चार मूर्तियों की

स्थापना की, वे थीं श्रावक, श्राविका, श्रमण और श्रमणी। भगवान के तीर्थ का एक जो आधार-स्तम्भ है, वह है श्रावक। श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति श्रवण शब्द से ही हुई है। श्रावक वह है जो प्रतिदिन सम्यक् श्रवण करे। जो व्यक्ति महापुरुषों की वाणी का सम्यक् श्रवण प्रतिदिन नहीं करता, वह श्रावक नहीं हो सकता। श्रावक शब्द में तीन अक्षर हैं – 'श्र, व, क'। 'श्र' से श्रद्धा, 'व' से विवेक और 'क' से क्रियावान। अर्थात् वह व्यक्ति जो श्रद्धापूर्वक विवेक से अपनी क्रिया निष्पादित करे, वही श्रावक है।

'श्रमण' वह है जो सुनने के बाद सही मार्ग पर चलने का श्रम करे। इसलिए सुनना ही प्रथम भूमिका है। भगवान कहते हैं कि तुम आचरण की जल्दी मत करो। पहले तुम सुनकर सम्यक् मार्ग को जानो। यदि व्यक्ति भली भाँति पूर्ण मनोयोग से सुनता है तो वह सुनना भी उसके आत्मकल्याण के लिए पर्याप्त है। आज व्यक्ति सुनकर ज्ञानी तो बन जाता है पर उसके पास यथार्थ ज्ञान नहीं होता, बल्कि ज्ञान के नाम पर सूचनाएँ और जानकारियाँ भर होती हैं। ज्ञान तो वह है जो उसके जीवन से प्रतिबिम्बित हो, सत्य तो वह है जो आचरण में मुखरित हो।

गलत और सही का फैसला सुनकर ही किया जा सकता है। भगवान जब समवसरण में अपनी देशना देते तो उनके वचनों को सुनने के पश्चात् ही कुछ व्यक्ति खड़े होते और कहते, 'भगवान हमने आपके मार्ग को भली भाँति समझ लिया है। अब हम आपके संघ में श्रमणत्व स्वीकारना चाहते हैं।' वहीं कुछ व्यक्ति भगवान की देशना को सुनने के पश्चात् कहते, 'भगवान, आपके मार्ग को भली भाँति जानने के पश्चात् ऐसा लगता है कि हममें इतना सामर्थ्य नहीं है कि हम श्रमणत्व को अंगीकार करें। हम श्रावक-जीवन को स्वीकार करना चाहते हैं।' भगवान का उत्तर एक ही रहता कि जिसमें तुम्हें सुख उपजे वैसा ही करो।

व्यक्ति अपने देहबल, आत्मबल और मनोबल के आधार पर ही तो जीवन का मार्ग चुन सकता है। धरती पर जितने भी सत्संग होते हैं, उनके पीछे एक ही तो प्रेरणा होती है कि व्यक्ति श्रावक बने। वह निर्मलता, चित्त की शुद्धता और पवित्रता को प्राप्त करे। जो व्यक्ति भगवान की वाणी का जितना श्रवण करता है, उतने ही अंशों में उसका जीवन सार्थक है और जो व्यक्ति भगवान की वाणी के प्रति निरपेक्ष रहता है, उसका जीवन व्यर्थ है।

हम एक छोटी-सी बोधकथा लें। एक विद्वान् किसी गाँव की तरफ जा रहा था। गाँव अभी दूर था, पर गाँव की सुन्दरता और रमणीयता दूर से ही उस ज्ञानी

व्यक्ति को प्रमुदित कर रही थी। जैसे-जैसे गाँव नजदीक आता गया, वह व्यक्ति वहाँ की साफ-सफाई और सुन्दरता को देखकर बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने मन में सोचा कि कितना स्वच्छ, सुन्दर और अच्छा गाँव है। यहाँ के लोग भी बड़े ही सुन्दर, अच्छे और नीरोग होंगे। वह थोड़ा और आगे बढ़ा कि उसे एक बड़ा श्मशान दिखाई दिया। वहाँ पर बड़ी-बड़ी सफेद संगमरमर की पट्टियाँ लगी थीं। उनके ऊपर मरने वाले व्यक्तियों के नाम और उनकी उम्र लिखी थी। उम्र को देखते ही वह विद्वान चौंका क्योंकि किसी पट्टी पर उम्र छह महीने तो किसी पर दस वर्ष, किसी पर ढाई वर्ष और एक पट्टी पर इक्कीस वर्ष लिखा था। वह पट्टी सबके बीच में लगी थी और सबसे बड़ी भी थी। उसने मन में सोचा कि क्या यहाँ व्यक्ति इतनी अल्पआयु के ही हैं ?

वह मन में यह सोचते हुए आगे बढ़ा कि अहो ! इतने सुन्दर गाँव में प्रकृति का कैसा प्रकोप ! थोड़ा आगे बढ़ा ही था कि गाँव के लोगों ने उसे देख लिया। वे उसके करीब आए और उससे उसका परिचय पूछा। उस विद्वान् ने बताया कि वह वाराणसी से आया है, उसका नाम यह है और उसने अमुक-अमुक शास्त्र पढ़ रखे हैं। गाँव के लोगों ने उसका सम्मान किया और कहा कि आज शाम को आप कृपया चौपाल पर पधारें और जितना सम्भव हो, हमें सत्संग से लाभान्वित करें। उस विद्वान ने उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

वहाँ के लोगों ने उस विद्वान् का इतना सम्मान-सत्कार किया कि उसकी मान-मनुहार के चलते कैसे दो महीने बीत गये, उसको पता ही नहीं चला। वह वहाँ से जब भी जाने की बात करता तो लोग उससे रुकने की मनुहार करते। एक दिन उसने सोचा कि यहाँ के लोगों की उम्र कम होती है अतः यहाँ रहने से कहीं मेरी उम्र भी घट न जाए। मेरी उम्र भी कहीं छः महीना ही न रह जाए। अब मुझे यहाँ से प्रस्थान कर ही लेना चाहिए।

जब वह शाम को सत्संग के लिए गया तो उसने भगवान की कथा, संदेश और उपदेश सुनाने के बाद अगले दिन अपने प्रस्थान की घोषणा कर दी। गाँव के लोगों ने कहा कि आपको क्या यहाँ कोई असुविधा है जिसके कारण आप जाना चाहते हैं? उस व्यक्ति ने जवाब दिया कि मुझे यहाँ कोई असुविधा नहीं है, पर मेरे मन में एक शंका है जिसके कारण मैं इस गाँव को छोड़ना चाहता हूँ।

ग्रामीणों ने पूछा कि कृपया आप वह शंका हमें भी बताएँ। उस विद्वान ने कहा, 'यह गाँव स्वर्ग के समान सुन्दर और स्वच्छ है। यहाँ के लोग भी बड़े भले

हैं, पर जब मैंने इस गाँव में प्रवेश किया तब वहाँ मैंने एक श्मशान देखा जिसमें हर पट्टी पर मरने वाले व्यक्ति का नाम एवं उम्र देखी। उस उम्र के कारण ही मैं असमंजस में हूँ, क्योंकि यहाँ किसी व्यक्ति की उम्र छह माह तो किसी की ढाई वर्ष या दस-बीस वर्ष लिखी है। मैं यही सोचकर चिन्तित हूँ कि क्या यहाँ रहने वाले व्यक्तियों की उम्र इतनी छोटी होती है ?'

ग्रामवासी हँसने लगे और बोले, 'महाराज, ऐसा लगता है कि आपने ज्ञान पढ़ा है, पर गुना नहीं है। आप यहाँ जिन लोगों को प्रवचन सुनाते हैं, उनमें से कितने ही साठ, सत्तर, अस्सी वर्ष के वृद्ध हैं। फिर आपने कैसे सोच लिया कि यहाँ रहने वाले व्यक्ति छोटी उम्र में ही मर जाते हैं ?' विद्वान् ने विचार किया तो उसे उनका कथन सत्य लगा। तब उसने ग्रामवासियों से उन पट्टियों का रहस्य पूछा। उन्होंने जवाब दिया, 'हमारे गाँव में एक नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति शाम के समय जब सोने के लिए घर पहुँचता है तो वह सबसे पहले पूरे दिन का हिसाब लगाता है कि उसने कितना समय सत्संग में बिताया, कितना अच्छे कर्मों में बिताया। उसे वह प्रतिदिन एक डायरी में नोट कर लेता है जैसे मैंने आज दो घण्टे सत्संग में बिताए तो मैं इसे नोट कर लूँगा।

हमारे गाँव में जब कोई व्यक्ति मरता है तो इस बात की चिन्ता बाद में की जाती है कि उसकी चिता चन्दन की लकड़ी से जलाई जाए या साधारण लकड़ी से। सबसे पहले मरने वाले व्यक्ति की डायरी निकाली जाती है और उसके जीवन के उन सभी घंटों को जोड़ा जाता है जो उसने सत्संग में व अच्छे कार्यों में बिताए। उन कुल घंटों के आधार पर ही उस व्यक्ति की उम्र निकाली जाती है और उसे संगमरमर की पट्टियों पर खुदवाया जाता है, क्योंकि जितना समय व्यक्ति का सत्संग में बीता, वही तो उसका सार्थक समय है और वही तो उसकी उम्र है। बाकी समय तो एक पशु के समान जीवन है। उसे मनुष्य की आयु में कैसे जोड़ा जाए ?

यह है श्रावक-जीवन को उदित करने का मूल मंत्र। व्यक्ति जितना समय भगवान की वाणी के श्रवण में, उसके आचरण में बिताता है, उतना समय ही उसका सार्थक समय है। बाकी तो वैसे ही निरर्थक है जैसे नदिया के बहते पानी में जितना पानी लोटे में भर लिया वह अपना हो गया, बाकी का बेकार !

भगवान यह नहीं कहते कि मात्र पुण्य का मार्ग जानो। वे तो कहते हैं कि दोनों ही मार्गों को जानो। चाहे वह पुण्य का हो या पाप का। एक मार्ग ऊपर ले जाने

वाला है तो दूसरा मार्ग नीचे ले जाने वाला। व्यक्ति जब हिंसा, चोरी, असत्य, परिग्रह एवं अन्यान्य पापों के मार्गों को जान लेता है तभी तो वह उनसे बच पाएगा। इसीलिए भगवान ने कहा कि सुनने के बाद जो कार्य श्रेयस्कर और आत्म-हितकर लगे, उसी का आचरण किया जाए।

शब्द व्यक्ति के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकते हैं। आपको याद है न रोहिणिय चोर की घटना ! रोहिणिय का पिता अपने अन्तिम समय में उससे वादा कराता है, 'मुझे वचन दो कि तुम अपने सम्पूर्ण जीवन में किसी संत पुरुष, दिव्य पुरुष के अमृत शब्द नहीं सुनोगे।' रोहिणिय ने देखा कि पिता अन्तिम साँसें गिन रहा है और मेरा ऐसा वादा करने में क्या जाता है? उसने झटपट पिता के सामने यह वादा कर लिया।

रोहिणिय ने वादा तो कर लिया था, पर अब उसे निभाना भी था। एक दिन रोहिणिय को पकड़ने के लिए उसके पीछे सिपाही दौड़ रहे थे। अचानक उसके पाँव में एक काँटा गड़ जाता है। जैसे ही वह काँटे को निकालने के लिए नीचे झुकता है, उसे महावीर की वाणी सुनाई देती है। उसे अपना वादा याद आता है और वह काँटे को छोड़कर तुरन्त अपने दोनों हाथ कान पर रख देता है। लेकिन वह सोचता है कि यदि मैंने काँटा नहीं निकाला तो मैं भाग नहीं पाऊँगा और सिपाही मुझे पकड़ लेंगे। इसलिए अभी तो काँटा ही निकाल लेता हूँ और भगवान की वाणी को सुनने का प्रायश्चित्त बाद में कर लूँगा।

काँटा निकालते समय उसके कान में भगवान के तीन शब्द पड़ते हैं। वे शब्द हमारे लिए शायद इतने खास नहीं हैं पर कभी साधारण शब्द भी व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन का आधार बन जाया करते हैं। भगवान के जो तीन शब्द उसने सुने, वे थे, 'देवताओं की पलकें नहीं झपकतीं, उनकी पुष्पमाला नहीं मुरझाती और उनके पाँव जमीन से ऊँचे रहते हैं।' रोहिणिय चोर से उसकी चोरी कबूल कराने के लिए राजा ने स्वर्ग जैसा माहौल बनाया। उसमें नृत्यांगनाओं को भेजा कि वे उसे मुग्ध कर उसे आभास कराएँ कि वह मरकर स्वर्ग में आ गया है और उससे उसके द्वारा की गई चोरियाँ कबूल कराएँ।

नृत्यांगनाएँ उसे प्रभावित करने का बहुत प्रयत्न करती हैं कि वह स्वर्ग में बैठा है, पर उसी समय रोहिणिय को भगवान के शब्द याद आते हैं कि देवताओं की पलकें नहीं झपकतीं, पुष्पमाला नहीं मुरझाती और उनके पाँव जमीन से ऊँचे रहते

हैं। रोहिणिय देखता है कि उन नृत्यांगनाओं की मालाएँ मुरझा रही थीं, पलकें भी झपक रही थीं और उनके पाँव भी जमीन से लग रहे थे। वह तुरन्त समझ गया कि राजा उसे मूर्ख बना कर उससे चोरी कबूल कराना चाहता है। उसने उन नृत्यांगनाओं से कहा कि मैंने तो कोई चोरी नहीं की। वह अन्य कोई मनगढ़ंत कहानी सुना देता है और इस प्रकार वह राजा से बच जाता है।

वह मन-ही-मन सोचता है अहो ! जिनके मात्र तीन शब्दों ने मुझे मृत्यु-दण्ड से बचा दिया, उनकी अमृतवाणी मेरे जीवन के लिए कितनी कल्याणकारी होगी ? कोई गहन मूर्च्छा के चलते ही मेरे पिता ने मुझे इस अमृतवाणी से दूर रहने को कहा होगा। अहो ! ये तो मेरे परमपिता हैं जिन्होंने मुझे मृत्यु के मुख से निकाल दिया। तब कहते हैं कि वह रोहिणिय चोर जब भगवान के समवसरण में जाता है तो वहाँ उसका रोहिणिय मिट जाता है और वहीं रोहित मुनि का जन्म होता है।

इसलिए श्रवण व्यक्ति के जीवन के लिए रामबाण हो सकता है, बशर्ते व्यक्ति मनोयोगपूर्वक सुनकर उसे श्रेयस्कर आचरण का लक्ष्य रखे।

भगवान अपने अगले सूत्र में कहते हैं -

*जह जह सुयभोगाहइ, अइसरसपसर संजुयमपुव्वं।*

*तह तह पल्हाई मुणी, नव नव संवेग संद्धाओ ॥*

‘जैसे-जैसे मुनि अतिशय रस के अतिरेक से युक्त अपूर्व श्रुत का अवगाहन करता है वैसे-वैसे नित-नूतन वैराग्ययुक्त श्रद्धा से आह्लादित होता है।’

भगवान यहाँ सम्यग्ज्ञान पर चर्चा करते हुए कहते हैं कि जैसे-जैसे व्यक्ति लगनपूर्वक ज्ञान में डूबता जाता है, वैसे-वैसे उसके जीवन में वैराग्य और श्रद्धा का आनन्द उदित होता है। प्रथम चीज है ज्ञान, लेकिन उससे भी प्रथम कोई पदार्थ है तो वह है ‘अतिशय रस’ अर्थात् व्यक्ति की लगन, उसकी रुचि। प्रत्येक व्यक्ति उसी बिन्दु पर एकाग्र हो सकता है, उसी जगह उसका मन टिक सकता है, जहाँ उसे रस आता हो। जैसे कोई बच्चा प्रथम श्रेणी से सफल होता है और कोई असफल, इसका कारण यह नहीं है कि असफल होने वाले के पास बुद्धि नहीं है। मूल कारण है व्यक्ति की लगन, उसकी रुचि। मैं, फिर कहूँगा कि बुद्धि किसी की अधिक या कम नहीं होती, मुख्य बात है व्यक्ति की एकाग्रता !

जो बच्चे मेरिट में आते हैं, वे कोई आसमान से नहीं टपकते और न ही कोई बृहस्पति या सरस्वती उनकी बुद्धि में विराजकर अपनी किसी हथौड़ी से उनकी

बुद्धि तीक्ष्ण करती हैं। मूल बात है उनकी लगन, एकाग्रता और रुचि। अभी परसों ही एक साध्वी जी मेरे पास आई और एक संत का चित्र बताकर कहने लगीं कि ये एक दिन में सौ गाथाएँ याद कर लेते हैं। उनके लिए शायद यह आश्चर्य का विषय होगा पर मैं जानता हूँ कि व्यक्ति की जिस क्षेत्र में लगन होती है, उसका उस क्षेत्र में पूर्णतया अधिकार होता है।

एक बच्चा वह है जिसे पढ़ने में 'रस' (आनंद) मिलता है। उसे माँ आवाज देती है, 'बेटा अब पढ़ाई छोड़ और खाने आ जा।' बेटा कहता है, 'माँ, बस थोड़ी देर में आता हूँ।' और दूसरा बच्चा वह है जो दिन भर खाने-पीने में लगा रहता है। माँ कहती है, 'बेटा! पूरे दिन खाता रहता है, जा थोड़ी देर पढ़ ले।' बेटा कहता है 'माँ, अभी खाने दे, बाद में पढ़ लूँगा।' एक का पढ़ने में रस है तो दूसरे का खाने में। हम बच्चे पर जबरदस्ती अपनी मर्जी न थोपें बल्कि यह सोचें कि बच्चे की लगन पढ़ाई में कैसे जगाई जाए? ध्यान रखें कि व्यक्ति की जिस क्षेत्र में लगन है, उसे उस क्षेत्र में शत-प्रतिशत सफलता मिलेगी।

इन दिनों क्रिकेट का जुनून कुछ कम हो गया है, वरना जब क्रिकेट की कमेन्ट्री आती है तो व्यक्ति चाहे दूकान में बैठा हो या कहीं और, वह अपने कानों पर रेडियो सटाकर उसको सुनने में इतना तल्लीन होता है कि ग्राहक आए या जाए, उसको कोई फर्क नहीं पड़ता। व्यक्ति की लगन और तल्लीनता जहाँ होती है, उसे मात्र वही सुनाई देता है और वही दिखता है। बच्चे को माँ आवाज लगाती है, 'बेटा! रोटी का कटोरदान कहाँ है?' बेटा क्रिकेट देखने में व्यस्त है। जवाब आता है, 'बाउन्ड्री पार।' माँ पूछती है, 'क्या मतलब?' बेटा बोलता है, 'अरे! सचिन ने छक्का लगाया।' बेटे के लिए माँ की बातें अर्थहीन हो रही हैं क्योंकि उसका रस, उसकी लगन कहीं और है।

आप लोग गाते हैं, 'तुम से लागी लगन...।' अगर आपकी लगन भगवान से लग गई तो आप बाजार जाकर भी किसी मंदिर की परिक्रमा दे रहे होते हैं। यदि लगन नहीं है तो आप जैसे खाली हाथ मंदिर जाते हैं, वैसे ही खाली हाथ लौट आते हैं। आजकल के विज्ञापनों में भी वस्तुओं का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार किया जाता है कि विज्ञापन देखते ही व्यक्ति की रुचि उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए ललक उठे। वस्तुओं में कुछ दम नहीं होता, पर आकर्षण होता है।

एक विज्ञापन था। एक महिला बाजार जाती है तो दूसरी महिला उससे मिलती है। वह पूछती है, 'जानती हो, तुम्हारे पति क्या पसन्द करते हैं?' पहली जवाब

देती है, 'हाँ, मैं जानती हूँ मेरे पति दो ही चीजें पसन्द करते हैं, एक तो मुझे और दूसरा कोलगेट टूथपेस्ट।' यह सब मात्र शब्दों और चित्रों से व्यक्ति के मन में आकर्षण या रुचि पैदा करने का तरीका है। मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, वह कोई ज्ञान का वितरण नहीं है। यह अपने आप में स्वाध्याय है। भगवान् के सूत्रों पर बोलने का अपना आनंद है, अपना रस है। इसीलिए बोल रहा हूँ। महापुरुषों की वाणी हमें भीतर का कुछ अलग ही सुकून देती है। वह कुछ अलग ही मार्गदर्शन कराती है। व्यक्ति से मुझे कोई राग नहीं है। अमृत वाणी से मुझे प्रेम है। वाणी किसकी है, इसमें फर्क हो सकता है। महावीर-मुहम्मद में फर्क हो सकता है, कृष्ण-कबीर में दो रूप हो सकते हैं पर उनके सत्य में, उनके अमृत में फर्क नहीं है।

महापुरुषों की वाणी पढ़ने में, सुनने में बड़ा मजा आता है, बड़ा आनंद मिलता है। ठेठ अन्तरमन में हिलोर जग जाती है। बस, इसीलिए बोल देता हूँ।

ज्ञान का रस तो अवर्णनीय है। कभी रैदास या कबीर को पढ़ो, उनकी जीवन-शैली को देखो, चौंक जाओगे। कबीर खाना खा रहे हैं। उनसे कोई पूछता है कि 'क्या कर रहे हो?' वे कहते हैं कि 'पूजा कर रहा हूँ।' कबीर बाजार जा रहे हैं और कहते हैं कि मंदिर जा रहा हूँ। शायद दुनिया की नजर में वे बेवकूफ रहे होंगे पर यदि मुझसे कोई पूछे तो मैं कहूँगा कि उनका ज्ञान अथाह था, उनकी हर बात में गहराई छिपी थी। वे खाना खाते तो इस भाव से खाते कि यह खाना मैं नहीं खा रहा हूँ बल्कि मेरे अन्दर विराजमान परमपिता को खिला रहा हूँ। जब भगवान को बाल-भोग समर्पित किया जाता है तो वह प्रसाद बन जाता है। उसको समर्पण करना पूजा हो जाया करती है।

आप जब मंदिर जाते हैं तो वहाँ छलकपट नहीं करते। किसी पर बुरी नजर नहीं डालते। इसी प्रकार जब व्यक्ति बाजार में जाकर भी छल-कपट नहीं करता, किसी पर कुदृष्टि नहीं डालता और पूर्णतया प्रामाणिक रहता है तो उसका बाजार जाना भी किसी मंदिर की परिक्रमा लगाने से कम नहीं होता। इसीलिए तो कबीर ने कहा। 'खारुं-पीरुं सो सेवा, ऊरूँ-बैरूँ सो परिक्रमा।' जब व्यक्ति का किसी के प्रति पूर्णतया समर्पण हो जाता है तो उसका हर कार्य उसी के प्रति समर्पित होता है।

क्या आप जानते हैं कि गोरा किस जाति के थे? वे कुम्हार थे, मिट्टी के घड़े बनाते थे। वे कहते, 'प्रभु ! मुझे तो हर जगह आप ही दिखते हैं, मिट्टी में भी आप, घड़ा बनाने वाले भी आप, बेचने वाले भी आप, खरीदने वाले भी आप।' कैसा

अद्भुत समर्पण है कि जहाँ भक्त और भगवान के बीच की दूरी ही मिट गई है। भक्त को हर कण में, हर कार्य में, हर व्यक्ति में बस एक ही रूप दिखता है।

रैदास, जिनका पूरा नाम कवि रविदास था, वे मोची थे। उनका कार्य था मृत पशुओं के चमड़े से जूते बनाना। आप कहेंगे कि छी: छी:! कितना घृणित और बुरा कार्य था, पर वे जब चमड़े को सीने के लिए उसमें सुई डालते तो उनको उतनी ही वेदना होती थी जितनी स्वयं के शरीर में सुई चुभाने से होती है। वे देह में रहकर भी देहातीत अवस्था को प्राप्त हो गए थे, विदेह हो गये थे। 'प्रभु जी तुम चन्दन, हम पानी।' कितना भक्तिरस है !

इसीलिए भगवान ने कहा कि जब अतिशय रस के अतिरेक से अपूर्व श्रुत का अवगाहन किया जाता है, उस ज्ञान में डुबकी लगाई जाती है तो नित नूतन संवेग, वैराग्ययुक्त श्रद्धा प्राप्त होती है। मूल बात है रस की, लगन की। व्यक्ति वहीं एकाग्र हो सकता है जहाँ उसे रस आता है, इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहली शर्त है कि वह उसमें अतिशय रस पैदा करे। ज्ञान वह नहीं है जो कि भाषण झाड़ने, प्रवचन देने या दूसरों पर अपना प्रभाव जताने के काम आए। ज्ञान तो वह है, जिससे तत्व का बोध हो, व्यक्ति श्रेय की तरफ उत्प्रेरित हो, जिससे आत्मज्ञान हो। जिनशासन में उसे ही तो ज्ञान कहा गया है। जिससे चित्त का निरोध हो, आत्म-शुद्धि हो और जगत के प्रति मैत्री-भाव बढ़े, भगवान उसे ही ज्ञान कहते हैं।

*जेण तच्चं विबुज्जेज्ज, जेण चित्तं गिरुज्जदि।*

*जेण अत्ता विसुज्जेज्ज, तं णाणं जिण सासणे ॥*

ज्ञान का अर्थ वाद-विवाद या तर्क-वितर्क नहीं है। ज्ञान तो आत्मा की सुवास है, आत्मा के लिए प्रकाश है जो हृदय में वैराग्ययुक्त श्रद्धा से हृदय को आह्लादित करता है। आज तो ज्ञान का उपयोग दूसरों पर प्रभाव जताने के लिए और प्रदर्शन के लिए किया जाता है। ऐसे ज्ञानी की स्थिति उस चम्मच के समान होती है जो हलवे के पात्र में बार-बार जाता है, फिर भी हलवे की मिठास से वंचित रहता है। हलवे में पड़े रहने पर भी वह उसका रसास्वादन नहीं कर पाता। ज्ञान तो वह है जिसका परिणाम जीवन में दिखे। बातों के बादशाह हजारों मिल सकते हैं, पर आचरण के आचार्य मिलना सहज नहीं है।

तर्क ज्ञान के विस्तार और विकास में सहायक हो सकता है, पर कुतर्क नहीं। कुतर्की की स्थिति तो उस चूहे के समान है जो कुतर-कुतर कर सामान की भी

बरबादी करता है और अपने दाँतों का श्रम भी व्यर्थ करता है। वैसे भी कुतर्की अपनी बुद्धि और ज्ञान का दुरुपयोग करता है, साथ ही सामने वाले के दिमाग का भी। मेरे पास बहुत से लोग आते हैं। जब देख लेता हूँ कि यह कुतर्की है, मात्र वाद-विवाद के लिए आया है तो मुझे मौन ही श्रेष्ठ लगता है। वह कहता है कि 'आप मौन क्यों हो गये?' मैं कहता हूँ, 'क्षमा करें, मुझे इतना ही आता है।' वह बोलता है कि आपने तो इतने शास्त्र पढ़ रखे हैं। आपको तो सब ज्ञान है। फिर आप क्यों कहते हैं कि मुझे इतना ही ज्ञान है। मैं कहता हूँ कि हम दोनों में से कोई एक ज्ञान के लिए अयोग्य है, इसीलिए मैं मौन हूँ।

कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो मात्र अपने को ज्ञानी प्रदर्शित करने के लिए कुछ प्रश्न लिख लेते हैं और हर सन्त के पास जाकर उसका समाधान पूछते हैं। उनका उद्देश्य प्रश्नों का समाधान पाना नहीं, बल्कि अपने ज्ञान का प्रदर्शन और दूसरों की परीक्षा करना रहता है। एक व्यक्ति मेरे पास भी आया और जब मुझे उसके इस स्वभाव का पता चला तो मैंने उसे उन दस प्रश्नों के समाधान इस प्रकार दिए कि वह अन्यत्र जाने के काबिल ही नहीं रहा।

हम संतों के पास जिज्ञासा-भाव से जाएँ और उनके सामने अपने प्रश्न रखें। यदि उनके उत्तर से हम संतुष्ट हों तो ग्रहण कर लें अन्यथा उनका ज्ञान उनके पास। ज्ञान मात्र शब्दों से प्रकट नहीं होता। वह तो मन के मौन की निपज है। चतुराईपूर्वक वाणी का उपयोग बहुत ही अच्छा लगता है, पर वह वाणी कुछ समय पश्चात् लुप्त हो जाती है। वही वाणी अमर होती है जो ठेठ अन्तर से उपजती है।

ज्ञान सदैव अपने उपयोग के लिए हुआ करता है, दूसरों के लिए नहीं। ध्यान रखें, ज्ञान वही है जिससे व्यक्ति के मैत्री-भाव का विस्तार हो, प्राणी मात्र के प्रति प्रेम का विकास हो और राग-द्वेष के बंधन शिथिल हों। ज्ञान व्यक्ति को आनन्द, शांति, प्रसन्नता, चित्त की निर्मलता और आह्लाद प्रदान करता है। ज्ञान कभी उदासीनता नहीं देता।

मैं ज्ञान को जीवन की मुक्ति की नींव मानता हूँ। मेरे लिये ज्ञान का अर्थ है समझ।

*समझ मिली तो मिल गई, भवसागर की नाव।  
बिन समझे चलते रहे, भटके दर-दर गांव॥*

नासमझी ही अज्ञान है। नासमझी ही भटकवा है। नासमझी ही मूर्च्छा और प्रमाद है। समझ के अभाव में ही हंस कौओं के समूह में रहता है और भटकता है। समझ आते ही हंस अपनी गति को ग्रहण कर लेगा।

समझ आती है अनुभव से, समझ आती है जिन्दगी में लगने वाली ठोकर से, समझ आती है चिंतन-मनन के निष्कर्ष से। वक्त बड़े-बड़ों को ठोकर लगाता है। चाहे व्यक्ति कितना भी गुस्सैल या घमंडी क्यों न हो, जो अपने आप नहीं सुधरते, समय उन्हें ऐसी कोहनी मारता है कि सारी अक्ल ठिकाने आ जाती है।

संस्कृत में एक प्यारा-सा सूक्त है -

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः ।

वसन्तसमये प्राप्ते, काकः काकः पिकः पिकः ॥

कौआ भी काला होता है और कोयल भी। दोनों में भेद करना कठिन है, पर वसन्त ऋतु के आते ही पता चल जाता है कि सारे काले एक जैसे नहीं होते। तब कौआ, कौआ साबित हो जाता है और कोयल, कोयल ही रहती है।

जीवन में जिस पहलू पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए, वह ज्ञान और समझ ही है। क्रिया से पहले ज्ञान चाहिए। बिना ज्ञान के की गई धार्मिक आराधना भी अंधविश्वास की पोषक होती है। आप शिक्षा, समझ और ज्ञान को जीवन की बुनियादी नींव जानें।

सत्संग - सम्यक् श्रवण को पहला चरण जानें। रुचि और लगन को दूसरा चरण; समझ, स्वाध्याय और ज्ञान को तीसरा चरण। आज हम इन तीनों बिन्दुओं पर विचार करेंगे। यदि हम तीनों सूत्रों पर भली भांति मनोयोगपूर्वक ध्यान देंगे तो जीवन में अवश्य कुछ सार्थक क्रियान्विति होगी। बातें हमेशा छोटी-छोटी ही होती हैं, 'पर छोटी-छोटी बातें भी आत्मसात् कर ली जाएँ तो वे छोटी-छोटी नहीं रहती।' किरण छोटी-सी होती है, पर वही हमें सूरज तक पहुँचाती है। आँख छोटी-सी होती है, पर उस छोटी-सी आँख से भी सम्पूर्ण आकाश को देखा जा सकता है। कुछ करने की, कुछ पाने की और कुछ होने की ललक हो, तो सुई के छेद से भी स्वर्ग निहारा जा सकता है, स्वर्ग को पाया जा सकता है।

ध्यान रखें, जब हम सत्संग में जाएँ तो किसी तरह का पूर्वाग्रह / दुराग्रह न रखें। दूसरी बात, श्रोता बनकर जाएँ, सोता या सरोता बनकर नहीं। तीसरी बात,

सत्संग में गुणानुरागी बनें, कमी पर ध्यान न दें। पंथ-परंपरा के आग्रह से हटकर सार्थकताओं को जीवन में आत्मसात् करें। सत्संग में बैठना गंगा में डुबकी लगाने की तरह है। गुरु-चरणों में बैठकर प्रेम और श्रद्धा से ज्ञान की बातों को सुनना, उनका रस लेना, उनमें रमना किसी महान् तीर्थयात्रा के समान है। सुनने का अपना आनंद है। सुनाने वाला यदि ज्ञान के अतिशय रस के अतिरेक से आह्लादित है तो उसके शब्दों को सुनना, उसके मौन माधुर्य का सान्निध्य लेना सचमुच आनंददायक है, मंगलकारी है, कल्याणकारी है।

अपनी ओर से इतना ही निवेदन है।





मेरे प्रिय आत्मन् !

भारतीय मनीषा ने जीवन के विकास और उसकी व्यवस्था के लिए अपना एक मौलिक जीवन-विज्ञान प्रस्तुत किया है। इस विज्ञान को उन्होंने अपनी भाषा में 'आश्रम' कहा। आश्रम का अर्थ है वह स्थान जहाँ कि व्यक्ति को आश्रय मिल सके। मैं जिस अर्थ में आश्रम का उपयोग कर रहा हूँ, वह स्थानवाचक नहीं, गुणवाचक है, स्थितिवाचक है। यह अलग बात है कि आने वाले कल में यह व्यवस्था खंडित भी हो जाय लेकिन आज हजारों साल बाद भी वेदों द्वारा दी गई आश्रम-व्यवस्था का मैं जिक्र कर रहा हूँ क्योंकि इस व्यवस्था के पीछे हमारे ज्ञानी पुरुषों का विशाल दृष्टिकोण और गहरी सूझबूझ विद्यमान है।

ब्रह्मचर्य आश्रम वह आश्रम है जिसमें शिक्षण का उद्देश्य होता है। अर्थ और काम की साधना के लिए गृहस्थ आश्रम है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति अपना जीवन धर्म को आत्मसात् करने में लगाता है। शेष जीवन में व्यक्ति मरणोपरान्त मिलने वाली गति के लिए सर्वतोभावेन प्रयास करे, अपनी भावी गति को सद्गति में बदल सके, यही संन्यास आश्रम है।

जीवन जीने के लिए ये चार चरण हैं। पहले चरण में शिक्षण का प्रबन्ध होता है। फिर व्यक्ति का गृहस्थ-जीवन में प्रवेश होता है ताकि वह अपने तथा अपने परिवार की सेवा-शुश्रूषा और उनकी सार-संभाल के लिए पुरुषार्थ कर सके।

ज्यों-ज्यों आदमी की उम्र ढलान पर होती है, उसके जीवन में धर्म चरितार्थ होता है। उस धर्म का परिणाम संन्यास होता है और संन्यास का परिणाम मुक्ति या निर्वाण के रूप में फलित होता है।

महावीर, बुद्ध, गौतम और बोधायन जैसे लोगों ने इस आश्रम-व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन करना चाहा क्योंकि उनके अनुसार व्यक्ति की मृत्यु किसी भी क्षण हो सकती है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन के इन चार चरणों को पूरा कर सके। उनका मानना था कि संन्यास और धर्म आयु से बंधा हुआ न हो। व्यक्ति के हृदय में जब धर्म और संन्यस्त जीवन जीने के भाव हों, तभी उसे यह मार्ग अपना लेना चाहिए। महावीर और बुद्ध की प्रेरणाएँ श्रमणत्व या संन्यस्त जीवन की रहीं। लेकिन आज व्यक्ति अस्सी वर्ष की आयु में भी संसार के दलदल में फँसा है। वह अपनी मुक्ति के लिए, अपने पूर्ण निःश्रेयस के लिए प्रयत्नशील नजर नहीं आता। यह आश्रम-व्यवस्था निश्चित रूप से मानव मात्र के कल्याण के लिए एक अनूठा उपादान है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी ओर से प्रेरणा दी, गति और स्थिति की। उन्होंने यह मानते हुए कि व्यक्ति की उम्र यदि सौ वर्ष है तो वह प्रथम पचास वर्षों में अपनी गति के लिए प्रयत्नशील रहे और शेष पचास वर्षों में अपनी स्थिति के लिए पुरुषार्थ करे, क्योंकि जीवन के इस प्रथम चरण में इन्द्रियाँ बहुत ही सशक्त होती हैं, ऊर्जा का संगठन होता है जिसका उपयोग व्यक्ति अपनी गति के लिए, अपने विकास के लिए, कर्मयोग की साधना में करे। व्यक्ति को इस बात का खयाल रहे कि जैसे ही उसके सिर में एक भी सफेद बाल आ जाए, वह सचेत हो जाए क्योंकि वह सफेद बाल अपने आप में ही इस बात की प्रेरणा है कि जितना तुम्हें करना था तुमने कर लिया। अब लौट आओ अपने भीतर के घर में।

रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा दी गई गति और स्थिति की यह व्यवस्था व्यक्ति की आम जिन्दगी के साथ गहराई से जुड़ जानी चाहिए कि जहाँ व्यक्ति प्रतिदिन गति भी करे और स्थिति भी। जैसे सूरज उगता है, चिड़िया चहचहाने लगती है, गौरैया गाने लगती है, बाकी परिन्दे दाने-पानी के इंतजाम के लिए सुदूर आकाश में उड़ जाया करते हैं, ऐसे ही व्यक्ति दिन में अपनी आजीविका के लिए, अपने जीवन-व्यवस्थापन के लिए, जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए कर्मयोग करे। साँझ को जब सूरज ढलता है तो किरणें सूरज की आगोश में समा जाती हैं, सारे

पंछी अपने नीड़ में लौट आते हैं, ऐसे ही व्यक्ति साँझ ढलने पर अपनी चेतना की किरणों, चेतना के पंख, जहाँ कहीं फैलाएँ हों, स्वयं में लौटा लाएँ। तब वह स्वयं की आत्मस्थिति के लिए पुरुषार्थ करे।

एक है गति और दूसरी है स्थिति। प्रतिदिन गति होनी चाहिए, जीवन के अन्तिम क्षण में भी व्यक्ति गतिशील हो। जीवन चाहे आज रहे या सौ साल तक, स्थिति के प्रयत्न भी सदा-सदा बने रहें। जीवन का कोई भरोसा नहीं है। सौ वर्ष तक का जीवन भी मिल सकता है और बीस वर्ष में भी मृत्यु वार कर सकती है। इसलिए हर दिन व्यक्ति के द्वारा अपनी गति और स्थिति दोनों के लिए ही प्रयत्न किए जाएँ। गति और स्थिति दोनों के समन्वय का नाम ही है – 'सम्यक् चारित्र'। जो व्यक्ति अपने जीवन में आश्रम-व्यवस्था को अपनाता है, वह सम्यक् चारित्र का ही पालन करता है। पहले व्यक्ति पचास वर्ष का हो जाता था तो वह वानप्रस्थ आश्रम को स्वीकार कर लेता था। संसार में रहकर भी वह संसार से निर्लिप्त रहता था। जैसे ही उसके सिर में एक सफेद बाल आता, वह स्वयं को संसार से अलग कर लेता क्योंकि उसने अपने जीवन का आधा भाग संसार के लिए अर्पित कर दिया तो आधा भाग वह स्वयं की आत्मा के विकास के लिए सुरक्षित रखता था। यदि अस्वस्थता या शरीर में अन्य किसी पोषक तत्व की कमी न हो तो व्यक्ति के सिर में सामान्य रूप से आने वाला प्रथम सफेद बाल इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति जितनी उम्र बिता चुका है, लगभग उतनी ही उम्र उसकी शेष बची है।

अब तक हम सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के विषय में चर्चा कर चुके हैं। आज हम अपने कदम सम्यक् चरित्र की तरफ बढ़ा रहे हैं। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का विवेचन पहले इसलिए किया गया, ताकि व्यक्ति पाखंडी चारित्र का स्वामी न हो। बाहर से कुछ और भीतर से कुछ और। महावीर ने सम्यक् चारित्र की प्रेरणा दी, पर उससे भी पहले सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान को आत्मसात् करने की बात कही, ताकि व्यक्ति के जीवन में कथनी और करनी में एकरूपता रहे। महावीर ने कहा कि सम्यक् दर्शन के दीप जला दिए जाएँ और सम्यक् ज्ञान के बीज बो दिए जाएँ, उसके बाद मुक्ति के मार्ग पर खड़े सम्यक् चारित्र रूपी मील के पत्थरों को पार किया जाए।

महावीर ने जिसे 'सम्यक् चारित्र' कहा, बुद्ध ने उसे ही 'शील' कहा और गीता में उसे 'सदाचार' कहा गया। यदि सम्यक् चारित्र, शील और सदाचार तीनों

को एक ही सूत्र में बांधना हो तो मैं कहूँगा कि तीनों का समन्वित रूप है 'सच्चरित्रता'। सम्यक् चरित्र को हम केवल संयमित मुनि-जीवन या श्रमणत्व तक ही सीमित न करें वरन् प्रत्येक के जीवन में प्रामाणिकता हो, यही उसके लिए सम्यक चरित्र है। सच्चरित्रता का अर्थ प्रामाणिकता, नैतिकता और ईमानदारी से है जहाँ व्यक्ति भीतर और बाहर एकरूप, एकरस और एकसम जीवन जी सके।

कोई अगर मुझे पूछे कि धर्म का सीधा-सरल अर्थ क्या है? तो मैं कहूँगा सच्चरित्रता। नैतिकता का अर्थ क्या है, मेरा जवाब होगा – सच्चरित्रता। मानवीय मूल्यों की आधारशिला क्या है? मैं कहूँगा – सच्चरित्रता। श्रेष्ठ चरित्र ही श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ समाज और श्रेष्ठ विश्व का दारोमदार है। चरित्र सुरक्षित है तो नियति सुरक्षित है। चरित्र है तो गौरव-गरिमा है। दुश्चरित्रशील लोग अपने मुकुट-ललाट को उन्नत नहीं रख पाते। वे राजा, जो चरित्रशील रहे, सैन्य-शक्ति में कम होते हुए भी विजयी हुए। उन्हें सदा मात खानी पड़ी जो अपने चरित्र को किसी के तलुवे में गिरवी रख बैठे। शिवाजी जैसे लोग आज इसलिए याद किये जाते हैं कि सैनिकों के द्वारा लायी गई बेगम को यह कहकर ससम्मान लौटा दिया कि 'माँ, काश मैं तुमसे पैदा होता तो मैं भी तुम्हारे जितना ही सुन्दर होता।' शिवाजी ने तब कहा था कि शिवा का चरित्र ही मराठों की शक्ति है। चरित्र ही गिर गया तो मराठों और आतताइयों में फर्क ही क्या रह जाएगा ?

यदि आज कोई व्यक्ति अपने में सच्चरित्रता या सम्यक् चरित्र चाहता है तो मैं उसे एक सीधा-सा सूत्र देना चाहूँगा कि व्यक्ति सदगुणों की ओर प्रवृत्ति करे और दुर्गुणों से स्वयं को बचाए। सच्चरित्रता के लिए भगवान के शब्द समझें –

*एगओ विरई कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।*

*असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥*

व्यक्ति को एक ओर से निवृत्ति और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति।

व्यक्ति को मेरी ओर से ऐसे संन्यास की प्रेरणा है जहाँ कि चोगा, वेश या बाना नहीं बदलना है। बल्कि बदलना है अपनी दुष्प्रवृत्तियों को। मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में संन्यास ले, संन्यास अपने अन्धविश्वासों से, अपने दुर्गुणों से, अपने क्रोध-काम-विकारों और कषायों से। जीवन की बुराइयों और अंधविश्वासों से स्वयं को मुक्त करना ही जीवन का सच्चा संन्यास है।

पहले सजगता इस बात के लिए रहे कि मेरे काम, क्रोध, तुष्णा, वैर-वैमनस्य और विकार कैसे कट सकते हैं ? इन कषायों और विकृतियों को जिससे काटा जा सकता है, उसे ही महावीर ने सम्यक् चारित्र कहा है। जो अपने चित्त की हर विकृति और कषाय के प्रत्येक स्वरूप पर विजय प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें ही महावीर ने सम्यक् चारित्रशील कहा है। हमें जन्म-जन्म के इन कषायों और विकारों को ही तो काटना है।

चारित्र को पालन करने वाले चार प्रकार के लोग होते हैं, जिन्हें चार घड़ों की उपमा से समझने की कोशिश करें। पहला घड़ा वह है जो फूटा हुआ है। ऐसे घड़े में जो कुछ भी डाला जाए, वह तुरन्त ही बाहर निकल जाता है। इस घड़े की प्रकृति वाले व्यक्ति संकल्प तो ले लेते हैं, लेकिन उन्हें भंग भी तुरन्त कर देते हैं।

दूसरा घड़ा होता है पुराना और जर्जर। जिस तरह बूढ़े आदमी द्वारा धर्म का विशेष आचरण नहीं किया जा सकता वैसे ही ऐसे घड़े में पानी तभी तक टिकता है जब तक कि उस पर ठोकर न लग जाए। एक हल्का-सा धक्का भी ऐसे घड़े के फूटने का निमित्त बन जाया करता है।

तीसरा घड़ा होता है परिस्त्रावी घड़ा जिसमें से बूंद-बूंद करके धीरे-धीरे पानी रिसता रहता है। इस घड़े के स्वभाव के पुरुष तब तक तो ठीक हैं जब तक निमित्त का पानी नहीं आया, किन्तु जैसे ही निमित्त का पानी आया, चाहे वह राग के रूप में हो, या द्वेष अथवा अन्य किसी विकार के रूप में हो, वह व्यक्ति स्वयं पर नियन्त्रण नहीं रख पाता। जैसे कोई शान्तिनाथ तब तक ही शान्तिनाथ बना रहता है जब तक उसे अशान्ति का कोई निमित्त न मिल जाए। कोई प्रमाणीलाल, अपनी प्रामाणिकता तब तक ही बनाए रखता है, जब तक उसे अप्रामाणिकता का अवसर न मिले। बेईमानी का मौका मिलने के बावजूद जो अपने ईमान पर अडिग रहता है, वही चरित्रनिष्ठ होता है।

चौथे प्रकार का घड़ा होता है अपरिस्त्रावी घड़ा जो रिसता या बहता नहीं है ऐसे घड़े को सिर पर रखा जाए या जमीन पर, दोनों ही जगह समान रहता है और दोनों ही जगह बूंद भर भी नहीं रिसता। ऐसे चारित्र के स्वामी अपने संकल्प पर, अपने नियम, व्रत और इरादों पर दृढ़ रहते हैं। चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, वे अपने मार्ग से विचलित नहीं होते। ऐसा चारित्र ही प्रणम्य और अभिनंदनीय होता है।

चारित्रशील तो वह व्यक्ति हो सकता है जो विपरीत निमित्त मिलने पर भी अपनी प्रामाणिकता और अपने लोभ पर अंकुश रख सके। औरों की बात तो छोड़ो, संतजन तक क्रोध, लोभ, राग और द्वेष में फँस जाते हैं। चित्त की दुश्चरित्रता का पता नहीं चलता, भीतर का कोढ़ बाहर कब उभर आए, पता नहीं। जब तक दो-चार काजू दिए जाएँ, तब तक तो वे अपने लोभ पर अंकुश रख कर कह देंगे कि हमें जरूरत नहीं है या हम नहीं लेते। लेकिन अब सामने थैली भर काजू आ जाएँ तो कहेंगे, ठीक है, रख जाओ। बाद में काम में ले लेंगे।

भगवान ने पाँच प्रकार के चारित्र का उल्लेख किया है, पहला है – सामायिक चारित्र, दूसरा – छेदोपस्थापनीय चारित्र, तीसरा – परिहारविशुद्धि चारित्र, चौथा – सूक्ष्म संपराय चारित्र और पाँचवाँ – यथाख्यात चारित्र। इनमें से सामायिक चारित्र की साधना तब कही जाएगी जब व्यक्ति विपरीत निमित्त में चाहे वह अनुकूलता के रूप में हो या प्रतिकूलता के रूप में, स्वयं को अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त रखता है। सामायिक चारित्र की यह साधना ही तो व्यक्ति को यथाख्यात चारित्र तक ले जाती है और उसे शैलेषी अवस्था का स्वामी बनाती है।

ज्ञान के विषय में तो बहुत कुछ कहा या समझाया जा सकता है, पर चारित्र कहने की नहीं, वरन् जीने की बात होती है। हर व्यक्ति ईमानदारी से अपने जीवन को पढ़ सकता है, निरख सकता है। जो व्यक्ति जितना चारित्रमय जीवन जिएगा, उसकी उतनी ही सुवास होगी और जो नहीं जिएगा, वह उतना ही सुवासरहित होगा।

दुनिया में दो तरह के फूल होते हैं एक वह जिसमें सुगन्ध होती है और दूसरा वह जिसमें दुर्गन्ध न हो। इन दोनों में बड़े ध्यान से अन्तर समझ लेना चाहिए कि पहला फूल वह है जिसमें सुगन्ध है। लोग उसे अपनी नाक के पास ले जाते हैं, महिलाएँ अपने जूड़े में वेणी बनाकर लगाती हैं। उसकी सुगन्ध उसे परमात्मा के चरणों तक ले जाती है। दूसरा फूल वह है जिसमें दुर्गन्ध नहीं है, पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि उसमें सुगन्ध है यानी वह गन्धरहित फूल है। ऐसे फूल को केवल सजाया जा सकता है या उसकी सुन्दरता की प्रशंसा की जा सकती है। ऐसे फूल को व्यक्ति अपने नाक या माथे तक नहीं ले जाता। फूल में दुर्गन्ध न होना अच्छी बात है, पर उसमें सुगन्ध होना उसकी अपनी विशेषता है।

व्यक्ति दुश्चरित्रशील नहीं है, यह अच्छी बात है, पर व्यक्ति का चारित्रशील होना उसका अपना वैशिष्ट्य है। व्यक्ति किसी का बुरा नहीं करता, यह अच्छी

बात हो सकती है, पर उसकी प्रभुता तो इस बात में है कि उसने किसी का भला किया या नहीं। आपने किसी को चाँटा नहीं मारा तो आप पाप से अवश्य बच गए, पर मूल्यवान बात तो यह है कि आपने किसी गिरते हुए को उठाया या नहीं। दुनिया उसे ही अपने सिर-माथे पर बिठाती है जिसके जीवन में गुणों की सुवास है। मूल्य इस बात का नहीं कि तुम संत हो। मूल्य इस बात का है कि तुम सच्चरित्र हो या नहीं। यदि तुम संत नहीं हो, लेकिन शीलवान, सदाचारी और गुणानुरागी हो तो दुनिया एक दिन अवश्य ही तुम्हें अपनी पलकों पर बिठाएगी। वह तुम पर उतना ही विश्वास करेगी जितना कि वह अपने माता-पिता पर करती है।

यदि व्यक्ति ऊँची बातें बखानता रहा और उसकी कथनी व करनी में कोई साम्य नहीं रहा तो वह मात्र भाषणबाजी कर तालियाँ बटोर सकता है, पर उसका जीवन किसी के लिए प्रेरणास्रोत नहीं बन सकता। आज लगभग नब्बे प्रतिशत व्यक्ति ऐसे ही होते हैं जो ज्ञान को जीते नहीं, वरन् उसका उपयोग भाषणबाजी और लफ्फाजी में करते हैं। बातों के बादशाह बहुत हो सकते हैं, पर आचरण के आचार्य बहुत कम होते हैं। आचार्य वह नहीं है जो कि प्रवचन देने में धुरन्धर हो या समाज द्वारा जिसे कोई आचार्य की पदवी दी जाए, वरन् आचार्य वह होता है जो अपने आचरण से लोगों के आदर्श और प्रेरणा का प्रकाश-स्तम्भ बनता है। इसीलिए भगवान ने कहा कि चारित्रशून्य व्यक्ति का विपुल शास्त्राध्ययन भी उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे एक अंधे के सामने हजारों दीपक जला दिए जाएँ।

एक वक्त था जब मैं किसी भी विषय पर बोल देता था, पर जब से मुझे भाषणबाजी का बोध हुआ, तब से वाणी में वे ही शब्द आते हैं जो अनुभव से फूट पड़ें। जिनको जिया नहीं, वे बातें कभी जुबान पर नहीं आतीं। जिन बातों को जिया है, उन्हें जुबान पर लाने में कोई संकोच भी नहीं होता। अपने जीवन के प्रति पूर्ण ईमानदारी से इंसफ हो। कोई और हमारे जीवन का न्याय करे, यह उचित नहीं है। कोई दूसरा आकर हमें प्रताड़ित करे, उससे पहले ही हम अपने पर अंकुश लगा लें। अपने विकारों को, अपनी देह और चित्त में उठने वाले धर्मों को और अपने कषायों को हम स्वयं ही नियन्त्रित कर लें। जैसे कोई भेड़िया जब किसी कछुए पर आक्रमण करता है तो उसके पूर्व ही कछुआ अपने शरीर के सभी अवयवों – हाथ, पैर, कान, सिर को अपने कठोर कवच के भीतर समेट कर सुरक्षित हो जाता है।

यदि ऐसा है तो व्यक्ति का अल्पज्ञान भी सार्थक बन जाया करता है, अन्यथा चारित्र-शून्य व्यक्ति का विपुल शास्त्राध्ययन भी व्यर्थ है।

बात उस समय की है जब देश आजादी के संघर्ष के दौर से गुजर रहा था। बड़ौदा में महाराज गायकवाड़ किसी आम सभा की अध्यक्षता कर रहे थे। सभा अहिंसा पर थी। लोग आ रहे थे और बारी-बारी से इस विषय पर अपने विचार रख रहे थे। तभी मंच पर एक उत्साही युवक आया। उसने अहिंसा पर इतना लच्छेदार भाषण दिया कि लोग चकित रह गए कि इस व्यक्ति को अहिंसा के विषय में इतना ज्ञान ! उस समय बिजली के पंखे तो लगाए नहीं जाते थे। गर्मी बहुत भीषण थी। सब पसीने से तरबतर थे। युवक को भी बोलते-बोलते पसीना आ गया। उसने पसीने को पोंछने के लिए जैसे ही जेब से रूमाल निकाला कि रूमाल से एक अण्डा निकलकर जमीन पर गिर पड़ा। यह देखकर लोग सन्न रह गये।

एक दूसरा प्रसंग लें। एक बार एक श्रावक बीमार था। वह अस्पताल में दाखिल था। उसे दर्शन देने या मंगलपाठ सुनाने मुझे अस्पताल जाना था। मैं अस्पताल गया। मैंने उसके लिए दुआ की। उसके पास वाले बिस्तर पर एक अन्य रुग्ण महिला लेटी थी जिसे कैंसर था। कैंसर के प्रभाव से उसके सिर के सभी बाल उड़ चुके थे। उसे बार-बार दौरे आते थे और साँस लेने में भी बड़ी दिक्कत हो रही थी। डॉक्टरों ने ऑक्सीजन वगैरह की सब व्यवस्था कर दी थी फिर भी उसे कोई फायदा नहीं हो रहा था। डॉक्टर बड़ा परेशान हो गया। वह रोगी के पास से उठकर बाहर की तरफ चला गया। उसने गुटखे का पाउच खोला, मुँह में डाला और खाली कागज एक तरफ फेंक दिया। संयोग से वह पाउच मेरे पाँव के पास आकर गिरा। डॉक्टर की और मेरी निगाहें आपस में मिलीं और वह फिर अन्दर चला गया। कुछ देर बाद वह अन्दर से फिर बाहर निकला और जाने लगा। तभी मैंने उन्हें रोक कर कहा, 'महाशय ! जरा हाथ आगे बढ़ाइये।' मैंने उनके हाथ में खाली पाउच दे दिया। वह समझ नहीं पाये, बोले, 'मतलब?' मैंने कहा, 'आप तो पढ़े-लिखे हैं। कृपया पढ़ें कि इस पर क्या लिखा है? आप लोग ही तो यह निष्कर्ष निकालते हैं कि तम्बाकू कैंसर का कारण है। इसका सेवन जानलेवा हो सकता है और आप स्वयं ही इसे चबा रहे हैं।' वह बहुत शर्मिन्दा हुए। उन्होंने अपने मुँह में दबाया गुटखा थूका और खेद प्रकट किया। मैंने उन्हें साधुवाद दिया और मन-ही-मन कहा कि कम से कम एक व्यक्ति तो सुधरा।

एक अनपढ़ व्यक्ति बीड़ी या शराब पीता है तो वह उतना दोषी नहीं है, क्योंकि उसे अच्छे और बुरे का ज्ञान ही नहीं है, पर एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति यदि

ऐसा करता है तो यह उसकी मूर्खता है। पापी वह नहीं है जो गलत आचरण करता है, बल्कि पापी वह है जो जानने-समझने के बाद भी अपनी दुष्प्रवृत्तियों को दोहराता है।

भगवान कहते हैं—

सुबुहं पि सुयमहीयं, किं काहिइ चरण विप्पहीणस्स ।  
अंधस्स जह पलित्ता, दीव सय सहस्स कोडि वि ॥

चारित्रशून्य व्यक्ति का विपुल शास्त्राध्ययन उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे किसी अन्धे के सामने हजारों दीप जला दिए जाएँ। याद रखें, ज्ञान वही प्रभावी और प्रेरणास्पद होता है जो आचरण से मुखरित हो। हजार मील का शास्त्र पढ़ने की अपेक्षा दो इंच का आचरण कहीं अधिक प्रभावी होता है। मन भर के भाषण की अपेक्षा कण भर का आचरण अधिक श्रेयस्कर होता है। कोई अच्छा बोलना नहीं जानता तो कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि वह अच्छा जीवन जीना जानता है। उसका जीवन गरिमामय, आदर्शमय और दूसरों के लिए प्रेरणास्रोत होता है। जिनका आचरण ऊँचा होता है, वे ही पूजनीय बनते हैं।

जो व्यक्ति ईमानदारी और प्रामाणिकता का जीवन जीते हैं, उन्हें कभी-कभी लगता है कि उनकी अपेक्षा बेईमानी करने वाले अधिक आराम से हैं। पर ऐसा सोचने से पहले वे उनके रात-दिन के जीवन की पड़ताल तो कर लें। पति खाना खाने बैठता है तो पत्नी एक फुलके से ज्यादा नहीं रखने देती क्योंकि डॉक्टर ने ज्यादा देने से मना किया है। सब्जी बिना नमक की होती है। मिठाई को वह दूर से ही जान सकता है कि यह रसगुल्ला है और यह राजभोग। तेल-घी खा नहीं सकता। रोटी भी सूखी ही नसीब होती है और सब्जी भी उबली हुई। कैसे अंतराय हैं उस व्यक्ति के। क्या इसे आरामपूर्ण जीवन कहा जा सकता है। दूसरी ओर एक गरीब जब चाहे, जैसा चाहे खा-पी सकता है। उसके आहार-विहार पर इतनी पाबंदियाँ नहीं होतीं। यही कारण है कि रोग अमीरों के ही स्थायी मेहमान होते हैं। इसी तरह वकील भी बेईमानों के ही होते हैं, क्योंकि जो धोखा करता नहीं, उसको किससे बचने के लिए मुकदमे करने पड़ेंगे। ईमानदार व्यक्ति के लिए जो आज सत्य है, कल भी सत्य था और आने वाले कल को भी वही सत्य रहेगा।

झूठा व्यक्ति ही गीता पर हाथ रख कर कसमें खाता है। सत्यवान् व्यक्ति का तो हर वचन ही गीता का उद्घोष है। इसलिए जो कहो, वही करो और जो करते

हो, उसे कथनी तक लाने में कोई संकोच न करो, चाहे तुमने बुरा ही क्यों न किया हो। यदि तुम ऐसा नहीं कर पाए तो अपनी मरणासन्न स्थिति में तुम्हें ऐसा लगेगा कि जैसे तुम्हारी छाती पर किसी ने हजार किलो के पत्थर रख दिए हों। तब तुम्हें अपना एक-एक पाप, एक-एक कुकृत्य याद आएगा, जो तुम्हें बेचैन कर देगा। तब न तो तुम शान्ति से जी पाओगे और न ही शान्ति से मर पाओगे। इसलिए जो करते हो, उसे कह कर अपने आप को हल्का कर लो। इस तरह से तुम पाखंड से भी बच जाओगे।

सच्चरित्रता को यदि काजल की कोठरी में भी बन्द कर दिया जाए तो भी वह वहाँ से बेदाग निकल आएगा और चरित्रहीन सफेद कमरे से भी कालिख पोत आएगा। आपने धर्मशालाओं, तीर्थ-क्षेत्रों या सार्वजनिक स्थलों के शौचालयों की दीवारों पर गौर किया होगा कि व्यक्ति ने अपने कलुषित चित्त की कालिमा से उन्हें कैसा बिगाड़ दिया है। ऐसा लगता ही नहीं है कि कोई व्यक्ति यहाँ निवृत्ति के लिए ही आया था। व्यक्ति अपने शरीर की सड़ांध के साथ ही यहाँ पर मन की सड़ांध भी बिखेर जाता है। कितनी विकृतियाँ पलती हैं आदमी के दिमाग में !

व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ, उसकी सोच किसी मन्दिर या तीर्थ क्षेत्र में जाने से ही नहीं बदलते। उसमें बदलाव तभी आता है जबकि वह स्वयं, स्वयं के प्रति ईमानदार हो जाता है। अन्यथा तो दुनिया की नज़रों में हर चोर और अपराधी उस समय तक ईमानदार और निर्दोष ही है जब तक कि उन्हें पकड़ नहीं लिया जाए। किसी का चाबी का गुच्छा खो जाए और दूसरे को मिल जाए तो तुरन्त ही वह उसे हमारे पास जमा कराने आ जाता है कि यदि किसी का हो तो आप दे दें। क्योंकि वह जानता है कि तिजोरियों के बिना चाबी किस काम की ! लेकिन यदि किसी के कान का हीरे का लौंग खो जाए तो जिसे मिला है, वह शायद ही जमा कराने आएगा। हाँ, जिसका खोया है, वह जरूर आता है। मैं उससे कहता हूँ कि तू शुक्रिया अदा कर कि तेरे जूते तो सही सलामत हैं, वरना लोग जूते तक भी नहीं छोड़ते। फिर यह तो हीरे का लौंग है।

व्यक्ति तभी तक प्रामाणिक रह सकता है जब तक उसका यह संकल्प है कि वह हर परिस्थिति में अपनी ईमानदारी और सत्य के प्रति निष्ठा को बरकरार रखेगा। ऐसा व्यक्ति ही सच्चे अर्थों में धार्मिक कहलाने का अधिकारी है, वरना बस धार्मिकता का लेबल लग जाता है, किसी मंदिर का टीका माथे की सजावट हो

जाता है और मुँहपत्ती मात्र प्रदर्शन भर रह जाती है। इसी सन्दर्भ में भगवान अगला सूत्र निवेदित कर रहे हैं —

धोवम्मि सिक्खिदे जिणई, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो ।

जो पुण चरित्त हीणो, किं तस्स सुदेव बहुएण ॥

भगवान अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि 'चारित्र-सम्पन्न का अल्पतम ज्ञान भी बहुत है और चारित्रविहीन का बहुत श्रुतज्ञान भी निष्फल है।'

भगवान ने चारित्र और ज्ञान से भी पहले दर्शन को महत्त्व दिया। भगवान कहते हैं कि पहले सम्यक् दर्शन हो अर्थात् भीतर की आँखें खुल जाएँ। भीतर की आँखें खुलने पर जो इन आँखों से जाना जाए, वही सम्यक् ज्ञान है और जो विवेक-चक्षुओं से जाना जाएगा, उसका आचरण ही सम्यक् चारित्र है। जो जाना है, उसके आचरण का महत्त्व है। जब कोई पचास वर्ष का वृद्ध आता है और कहता है कि हम दीक्षा तो ले लें, पर अब इस उम्र में हम क्या सीख पाएँगे? तब मैं कहता हूँ कि तुम अपने भावों की ऋजुता, सरलता और विनम्रता से अवश्य ही चारित्र की मंजिल को प्राप्त कर लोगे और ये जो बड़े-बड़े ज्ञानी हैं, वे अपनी पंडिताई की अकड़ में यहीं बैठे रह जाएँगे। वहाँ ऋजुता का महत्त्व है। ज्ञान की अकड़ वहाँ नहीं चलती। जिसके हृदय में सरलता और ऋजुता है, वही अपनी नौका पार लगा सकता है। इसीलिए भगवान ने कहा कि 'चारित्र शून्य व्यक्ति का विपुल शास्त्राध्ययन भी व्यर्थ है।'

व्यक्ति स्वयं जिन बातों का पालन नहीं करता वह यह अपेक्षा क्यों रखता है कि दूसरे उन बातों का पालन करें। पिता, बच्चे को कहता है कि 'बेटा, गुस्सा नहीं करना चाहिए। गुस्सा तो कमजोरी की निशानी है।' थोड़ी देर बाद ही बच्चे से कोई गलती हो जाती है और वही पिता बेटे को गुस्से में आकर चाँटा जड़ देता है। उस उपदेश का उस बच्चे पर भला क्या असर होगा !

एक बार कोई बच्चा घर के बाहर खेल रहा था। तभी वहाँ एक महाशय आए और उन्होंने पूछा, 'बेटा, क्या तुम्हारे पापा अन्दर हैं? बच्चा दौड़कर घर के अन्दर गया और उसने अपने पिता को बैठे देखा। वह बोला, 'पापा, पापा ! बाहर एक आदमी आया है जिसकी बड़ी बड़ी मूँछें हैं। उसने सिर पर पगड़ी लगा रखी है और उसके हाथ में छड़ी है। वह आपके लिए पूछ रहा है।' पिता ने सोचा, अच्छा यह

तो वही व्यक्ति है जिसे मुझे पाँच हजार रुपये चुकाने हैं। बेटे से बोला, 'बेटा कह दो पापा घर पर नहीं हैं।' बच्चा भागता हुआ बाहर आया और बोला, 'अंकल ! पापा ने कहलवाया है कि वे घर पर नहीं हैं।'

ज्ञान तो वही है जो जीवन के दर्पण में मुखरित हो। चाहे वह ज्ञान थोड़ा-सा ही क्यों न हो, वह सत्य छोटा ही क्यों न हो और अहिंसा का आचरण भले ही सम्पूर्ण न हो तो भी यदि हम उस थोड़े का ही पालन करते हैं तो निश्चित रूप से पार लग जाएँगे। व्यक्ति दूसरों के समक्ष संकल्प तो बड़े-बड़े ले लेता है, पर उनका क्या महत्त्व जिनका आधार ही दृढ़ न हो, जिसके पीछे ईमानदारी न हो। यदि तुम्हारे पास सोने का थाल नहीं है तो अपने पीतल के थाल को सोने का क्यों कहते हो? व्यक्ति की सत्यनिष्ठा या चरित्रनिष्ठा तो तब है जब वह स्पष्ट कहे कि मेरा थाल तो लोहे का है, पर मैंने उस पर सोने का पानी चढ़ा रखा है।

सच्चरित्र वह है जो अपनी भूलों को प्रत्यक्ष स्वीकार करता है। जो कहता है कि आप मुझे जिस योग्य समझते हैं, वैसा मैं नहीं हूँ। मैं इन बातों को सत्य के रूप में स्वीकार करता हूँ, इनका पालन करने का प्रयत्न भी करता हूँ, पर मेरा दुर्भाग्य है कि मैं इन तत्त्वों को जी नहीं पाता। वह अपने चित्त के भावों को समझकर यह स्वीकार करता है कि मुझमें अभी तक विकृत तरंगें उठती हैं। ऐसे व्यक्ति का अल्प ज्ञान भी सार्थक होता है और उसकी स्वयं के प्रति जागरूकता उसे एक दिन अवश्य ही मंजिल तक पहुँचाती है। ऐसा व्यक्ति पापी नहीं हो सकता क्योंकि वह अपने भीतर के कोढ़ को बाहर मखमली कोट से नहीं छिपाता है। दुश्चरित्रता ज्यादा दिन छिप नहीं सकती। एक दिन तो वह दुनिया के सामने प्रकट हो ही जाती है।

ध्यान रखें, चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति का अल्पतम ज्ञान भी बहुत है। व्यक्ति को अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। बहुत से लोग सुबह से शाम तक स्वाध्याय करते रहते हैं। उनकी स्थिति बिल्कुल किताबी कीड़े जैसी होती है। बहुत से शास्त्रों के अध्ययन से या उनको याद करने से तुम्हारा कोई कल्याण नहीं होगा जब तक कि उन पर मनन न किया जाए। व्यक्ति ने जो थोड़ा-सा भी पढ़ा है, उस पर मनन किया जाए। उसके आचरण का यह प्रयास हो कि उस ज्ञान से जीवन में परिवर्तन हो रहा है या नहीं। यदि ऐसे सदप्रयास होते हैं तो व्यक्ति का पढ़ा हुआ मात्र एक शब्द भी उसे तार दिया करता है, जबकि शास्त्रों का लम्बा-चौड़ा अध्ययन मात्र गर्व की गर्मी बढ़ा देता है।

आदि शंकराचार्य की एक प्रसिद्ध रचना / स्तोत्र है – ‘भज गोविन्दम् भज गोविन्दम्।’ जैसे जैन धर्म में भक्तामर और रत्नाकर पच्चीसी प्रसिद्ध स्तोत्र हैं, वैसे ही यह सनातन धर्म का प्रसिद्ध स्तोत्र है। कहते हैं कि एक आदमी जिसकी उम्र साठ वर्ष के करीब थी, वह अपने घर के बाहर व्याकरण के सूत्र ऊँची आवाज में रट रहा था। तभी वहाँ से शंकराचार्य निकले और उन्होंने जब उसे व्याकरण के सूत्रों को याद करते देखा तो वे उसे संबोधित करते हुए कह उठे –

भज गोविन्दम् भज गोविन्दम् भज गोविन्दम् मूढमते,  
सम्प्राप्ते सन्निहिते काले नहि नहि रक्षति डूं क्रिं करणे।  
का ते कान्ता, धनगतचिन्ता, वातुल किं तव नास्ति नियन्ता।  
क्षणमपि सज्जन-संगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका।

बहुत ही सुन्दर भाव हैं। शंकराचार्य ने जब उस वृद्ध को व्याकरण के सूत्र रटते हुए देखा तो उन्होंने कहा, ‘हे मूढमति, तेरे ये सूत्र तेरी किसी तरह रक्षा नहीं करेंगे। मरणकाल में तेरा यह रटा हुआ ज्ञान काम आने वाला नहीं है। वे आगे कहते हैं, ‘अगर तेरी पत्नी मर गई और धन नष्ट हो गया है तो उनकी चिन्ता मत कर। इनका तो स्वभाव ही नाशवान है। तू यदि क्षणभर भी सज्जन या साधु-पुरुषों की संगति कर लेता है तो वह क्षण मात्र की संगति तुझे भवसागर से पार लगाने वाली नौका होगी।’

इस स्तोत्र के एक-एक श्लोक बड़े भाव भरे हैं। वे आगे कहते हैं –

अंगं गलितं, पलितं मुंडं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्,  
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुंचति आशा पिण्डम्।

‘व्यक्ति बूढ़ा हो गया है, उसके अंग-प्रत्यंग गल गए हैं, वह अशक्त हो गया है, बाल सफेद हो गए हैं, आँखों से कम दिखता है, वृद्धावस्था ने लाठी भी पकड़ा दी है, कमर भी झुक गई है, फिर भी उसकी जीवैषणा समाप्त नहीं हुई है। उसकी आशाएँ और तृष्णाएँ अब भी वैसी ही हैं, इसीलिए कहा है कि ‘भज गोविन्दम् भज गोविन्दम्’। सारी सरपच्ची छोड़ और भगवान को भज। संसार संतों का मान करता है, सम्मान करता है। संसार के हर कोने में संत की इज्जत होती है। आखिर क्यों? क्योंकि उनके पास है समता और शांति, ज्ञान और चारित्र का समन्वय, त्याग और सहिष्णुता।

बात उन दिनों की है जब तुर्की और ईरान में भीषण युद्ध चल रहा था। तुर्क निरन्तर हारते जा रहे थे। एक दिन सुप्रसिद्ध ईरानी संत फरीउद्दीन अत्तार तुर्कों के चंगुल में फँस गए। जासूसी के इल्जाम में उन्हें मौत की सजा दी गई। एक अमीर आदमी ने संत की जान बचाने के लिए उनके वजन के बराबर सोना दे दिया। कड़ियों ने उनके बदले अपने प्राण देने की बात कह दी, पर तुर्क का सुलतान तैयार न हुआ।

इतिहास कहता है कि तब ईरान का बादशाह स्वयं पहुँचा। उसने सुल्तान से कहा— 'जिस राज्य के लिए आपकी कई पीढ़ियाँ हमसे लड़ती आ रही हैं; फिर भी वह आपको नहीं मिल रहा है। आज मैं आपसे कहता हूँ कि वही राज्य आप हमसे ले लीजिए और अत्तार को छोड़ दीजिए। सूफी धर्म ने हमें सदा यही प्रेरणा दी है कि धन नश्वर है, राज्य नश्वर है, पर संत और उसका त्याग अमर है। यदि ईरानियों ने अत्तार को खो दिया तो ईरान की संस्कृति हमेशा के लिए कलंकित हो जाएगी कि हम राज्य के लोभ में एक सन्त को न बचा सके।' संत अपनी साधुता के कारण ही विश्व की विभूति कहलाते हैं। उनकी वाणी, उनकी शिक्षाएँ, उनके प्रवचन मानव-मन के कालुष्य को दूर कर उसे निर्मल बनाते हैं। भला जो राज्य का त्याग कर संत बनता है, उसकी रक्षा के लिए अगर राज्य को ही न्यौछावर कर दिया जाए, तो कोई बड़ी बात नहीं है।

संत तो हमारे लिए प्रेरणा के प्रकाश-पुंज होते हैं। संत स्वयं तीर्थ-स्वरूप होते हैं।

एक बहुत ही प्यारा सिद्धान्त है— 'सिनक्रोनीसिटी।' इसकी खोज कार्ल गुस्ताव ने की थी जिसका अर्थ है 'जहाँ व्यक्ति को कुछ कहना नहीं पड़े क्योंकि उसकी आभा ही सब कुछ कह देती है। जिस तरह सूरज आकाश में उदित होता है और उसकी प्रभा से कमल स्वतः खिल उठते हैं, जिस तरह कोई तानसेन दीप-राग छेड़ता है तो दीपक स्वयं ही जल उठते हैं और जिस तरह मेघ मल्हार छिड़ता तो मेघ स्वतः ही बरसने लगते हैं, वैसे ही है— सिनक्रोनीसिटी।

आपको किसी सन्त की पहचान करनी हो तो आप उनके पास जाएँ और मौनपूर्वक पन्द्रह-बीस मिनट बैठें और अपने अन्तरमन को टटोलें कि क्या हमारी अशांति मिट रही है? क्या शांति की सुवास पैदा हो रही है? यदि ऐसा हो रहा है तो वह सच्चा संत है। संत वही है जिसके पास बैठने मात्र से मन शांत हो जाए। यदि

ऐसा नहीं हो तो समझना कि तुम किसी गृहस्थ के पास ही बैठे हो। तुम्हारा उनके पास जाना वैसा ही है जैसे तुम अपने किसी पड़ोसी के पास मिलने जाते हो। वह अपनी बात कहता है और तुम अपनी बात। ऐसे ही सन्त अपना रोना रोता है और तुम अपनी गृहस्थी की बातें उससे करते हो। दोनों एक दूसरे को अपना अपना कचरा देते हैं। यदि किसी सन्त के पास बैठने पर भी हमारे मन में वही बेईमानी उठती है तो वह सन्त नहीं वरन् सन्त के वेश में एक गृहस्थ है। जिसकी संगति हमारे मन पर प्रभाव डाले, वही संत है।

हम सन्तों के पास जाएँ, मौनपूर्वक बैठें और उनको जिँ ताकि हमारा मन बदल सके, अशांति का कोहरा मिट सके, चित्त में निर्मलता और निर्विकारिता पैदा हो सके। यदि ऐसा है तो हमारा सन्तों के पास जाना सार्थक है। 'सिनक्रोनीसिटी' एक ऐसा दिव्य सिद्धान्त है जहाँ बोलना कुछ भी नहीं पड़ता, फिर भी परिवर्तन हो जाए, स्वतः ही हृदय में मेघ मल्हार उमड़ पड़े, एक रोशनी उजागर हो जाए, अन्तर में अहो नृत्य या अहो आनन्द थिरक उठे।

दृष्टि हो अन्तर की। ज्ञान आचरण से मुखरित हो। यदि ऐसा है तो व्यक्ति के सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना, उसकी शांति, स्वतन्त्रता और आत्म-सत्य को उपलब्ध कर उसे स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाण को प्राप्त कराने में अवश्यमेव सहायक होगी। यह है भगवान का मूल मार्ग जिसका परिणाम मोक्ष या निर्वाण है। आज इतना ही। आप सभी के लिए अमृत प्रेम।





मेरे प्रिय आत्मन् !

महावीर का मार्ग संसार में रहते हुए भी संसार से अछूते रहने का मार्ग है। यह एक ऐसा मार्ग है जो हर हाल में, हर व्यक्ति और हर प्राणी की स्वस्ति और मुक्ति की कामना करता है। महावीर का मार्ग, वीतरागता का मार्ग है। जो व्यक्ति प्रार्थना तो वीतराग की करते हैं, पर जिनके हृदय में राग और द्वेष की आँधियाँ चलती रहती हैं, वे महावीर के मार्ग से विमुख हैं। यह मार्ग तो निवृत्तिमूलक मार्ग है।

यह मार्ग उनके काम का है जो इस मार्ग पर चल कर निर्वाण या मुक्ति को उपलब्ध करना चाहते हैं। महावीर जब अपनी ओर से देशना देते हैं तो उनकी एक ही प्रेरणा रहती है कि हर व्यक्ति मुक्ति का साधक बने और उसके लिए वह श्रमण-जीवन या मुनि-जीवन स्वीकार करे। जो व्यक्ति श्रमण-जीवन को अंगीकार करने में स्वयं को असमर्थ महसूस करते हैं, उनके लिए महावीर ने श्रावक-जीवन का मार्ग दिया। श्रावकत्व एक ऐसा मार्ग है जहाँ व्यक्ति संसार में रहकर भी संसार से उसी प्रकार अछूता रह सकता है जैसे किसी कमल की पांखुरियाँ कीचड़ से निर्लिप्त रहती हैं।

महावीर द्वारा अपनी ओर से श्रावक-जीवन का मार्ग प्रशस्त करने के बावजूद उनकी प्रेरणा हमेशा यही रही कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का लक्ष्य श्रमण-जीवन रखे। आज हम भले ही श्रावक-जीवन स्वीकार कर लें, लेकिन हमारा

उद्देश्य और मनोरथ श्रमण-जीवन से जुड़ा हो। एक श्रावक की प्रार्थना की शुरुआत ही इस भावना से हो कि मेरे जीवन में ऐसा अपूर्व और स्वर्णिम अवसर कब आएगा कि मैं श्रमण-जीवन को स्वीकार कर सकूँ; मैं परमात्मा के बताए गये मूल मार्ग की ओर अपने कदम बढ़ा सकूँ और भगवान के महाश्रमण, महात्याग, महाविरक्ति और वीतराग मार्ग का अनुसरण कर सकूँ।

अगर कोई व्यक्ति अपनी प्रार्थना और साधना के दौरान मात्र श्रमण-जीवन की, संयम और त्यागमय जीवन की अनुमोदना करता है तो ऐसा करने मात्र से ही वह अपने सात-सात जन्मों के पापों को शिथिल कर लेता है। जो व्यक्ति संयम-जीवन स्वीकार करता है, वह न केवल अपनी आत्मा का उद्धार कर लेता है वरन् अपनी कई-कई पीढ़ियों का भी उद्धार कर देता है। जो व्यक्ति महाश्रमण-जीवन को अंगीकार नहीं कर पाए हैं, लेकिन वे सच्चे हृदय से उसकी अनुमोदना करते हैं, वे ऐसा करके अपने भावी जीवन के लिए श्रमणत्व के बीज ही बो रहे हैं।

किसी भी व्यक्ति का संपूर्ण जीवन मात्र श्रावक-अवस्था में ही न बीते, वरन् प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में श्रमणत्व का उदय हो, चाहे वे व्यक्ति की अंतिम घड़ियाँ ही क्यों न हों। हर व्यक्ति की धर्म-आराधना का लक्ष्य श्रमण-जीवन की प्राप्ति हो। कहते हैं, राजा सम्प्रति जब प्रातः प्रार्थना और साधना के लिए बैठते तो वे अपने सामने संयम-वेश के उपकरण, देव, गुरु और धर्म से जुड़े वे साधन रखते जिनसे व्यक्ति साध्य की उपलब्धि करता है। वे यह भावना भाते कि मेरे जीवन में ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा कि मैं मुनि बनूँ ?

अपूर्व अवसर ऐवो क्यारे आवशे  
क्यारे थईशुं, बाह्यान्तर निर्ग्रथ जो ।  
सर्व संबंध नुं बंधन तीक्ष्ण छेदी ने  
विचरशुं कव महत्पुरुष ने पंथ जो ॥

‘मेरे जीवन में ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा कि मैं बाह्य और आभ्यंतर दोनों ही रूपों में निर्ग्रन्थ बनूँ। सब संबंधों के तीक्ष्ण बंधनों को काटकर मैं महान पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करूँ।

जब राजा सम्प्रति इस तरह की भावना भाते तो भावना भाते-भाते वे अपने अतीत से जुड़ जाते। वे देखते कि – अहो ! मैं एक भिखारी आ रहा है जो कि भूख से तड़फ रहा था। तभी उस भिखारी की नजर राह से गुजरते हुए एक मुनि और

उसके भिक्षापात्र में रखे हुए बूंदी के लड्डुओं पर पड़ जाती है। उन लड्डुओं को देखकर उसकी भूख की व्याकुलता और अधिक बढ़ जाती है। वह भिखारी संत के पास जाकर अनुरोध करता है कि उसे खाने के लिए लड्डू दे दिए जाएँ। संत जवाब देते हैं कि 'मैं कुछ भी नहीं दे सकता, तुम्हें जो कुछ भी कहना है, वह मेरे गुरु के पास चलकर कहो। हमारा यह नियम है कि हम अपना आहार उसी को दे सकते हैं जो संत हो या त्यागमय जीवन बिता रहा हो। यदि तुम्हारे जीवन में भी ऐसा दिव्य और स्वर्णिम अवसर आता है तो हम अवश्य ही अपना आहार तुम्हें समर्पित करेंगे।'

भिखारी मन में सोचता है कि यदि संत बनने पर लड्डू मिल सकते हैं तो ऐसा करने में मेरा क्या जाता है ? दोनों गुरु के स्थान पर पहुँचते हैं। शिष्य द्वारा गुरु को वृत्तान्त बताया जाता है। गुरु उस भिखारी को और उसमें छिपी हुई भवितव्यता को देखते हैं। वे उस भिखारी की होने वाली गति, सद्गति और उसके परिणाम को देखकर उसे दीक्षित कर देते हैं। संत बनने के पश्चात् उस भिखारी को लड्डुओं से भरा हुआ पात्र दे दिया जाता है। एक तो वह कई दिनों से भूखा और ऊपर से लड्डू होने के कारण यह नवदीक्षित संत अपने पेट की आवश्यकता और अपेक्षा से अधिक खा लेता है।

अजीर्ण और पेट में भयंकर वेदना ! तब सभी मुनि एकत्र हो जाते हैं। उपचार के लिए बड़े-बड़े वैद्य आते हैं और नगर-श्रेष्ठी भी उस नवदीक्षित मुनि के चरणों के निकट सेवा में खड़े रहते हैं। यह देखकर उस मुनि के मन में विचार आता है, 'अहो ! कल तक जिन सेठों के घर से सिवाय दुत्कार के कुछ नहीं मिलता था, आज वे ही सेठ हाथ जोड़कर एक सेवक की तरह खड़े हैं। कितना अद्भुत और विलक्षण चमत्कार है इस संयम-जीवन का। यदि एक दिन का संयम-जीवन इतना सुख और मान-सम्मान दिला सकता है तो यदि मैं पूर्व में ही इस चारित्र-जीवन को स्वीकार कर शत प्रतिशत इसकी पालना और अनुमोदना करता तो मैं निश्चित रूप से अपनी आत्मा का निस्तार कर लेता।

अपच और अजीर्ण भयंकर हो जाते हैं। राजवैद्य भी कुछ नहीं कर पाते और कल तक जो भिखारी था, वह संत मरकर देवलोक में जन्म लेता है। वहाँ से च्यवित होकर सम्राट् सम्प्रति के रूप में जन्म लेता है। एक ऐसा सम्राट् जिसने धर्म-संघ के विस्तार के लिए, धर्म के संदेशों को संपूर्ण धरती पर फैलाने के लिए

जो श्रम और आहुतियाँ दी हैं, उसके लिए इतिहास में पुण्य स्मरण किया जाता है। धर्म-संघ और उसका भावी स्वरूप सदा-सदा के लिए सम्राट् सम्प्रति का आभारी रहेगा। यह परिणाम आया था श्रमण-जीवन की अनुमोदना और मात्र एक रात के संयम-जीवन के अंगीकार से।

भगवान की सदैव यही मंगल भावना रही कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में श्रमण-मार्ग को स्वीकार करे। चाहे व्यक्ति का संपूर्ण जीवन श्रावक-दशा में बीते, पर मृत्यु के पहले उसके जीवन में वे पल अवश्य आने चाहिए जब वह संयम-मार्ग को स्वीकार कर सके। कोई भी व्यक्ति अपने राग और मोहजनित संस्कारों के साथ ही न मरे, वरन् उसकी मृत्यु के समय ऐसी स्थिति हो कि जैसे कोई साँप, अपनी केंचुली को उतार फेंकता है। मरने से पहले दो घड़ी के लिए ही सही, यदि श्रमण-जीवन को अंगीकार कर लिया जाता है और उसकी अनुमोदना कर ली जाती है तो वह दो घड़ी का संयम-जीवन ही फिर किसी सम्प्रति को पैदा करने में सहायक बन सकता है। जो व्यक्ति जब तक अपने जीवन में श्रमण-जीवन की रोशनी नहीं ला पाते, भगवान ने उन्हें तब तक के लिए श्रावक-जीवन की आराधना करने के लिए कहा है।

भगवान ने मुक्ति के लिए दो मार्ग बताए हैं -- एक श्रमणत्व का और दूसरा श्रावकत्व का। एक मार्ग कठोर है तो दूसरा अपेक्षाकृत सरल। इसे दूसरी तरह से कहें तो मुनि-जीवन विशुद्ध रूप से खांडे की धार पर चलता है और श्रावक-जीवन दुधारी तलवार पर चलता है। मैंने श्रावक-जीवन को दुधारी तलवार इसलिए कहा कि उसके जीवन में योग और भोग दोनों ही तरह के अवसर होते हैं, जबकि श्रमण का तो जीवन ही विशुद्ध रूप से योग के लिए समर्पित रहता है। एक श्रावक को भोग भोगते हुए भी अपनी योग-साधना का लक्ष्य आँखों में रखना पड़ता है। उसे भोग-मार्ग में से गुजरने पर भी परिणाम होता है योग-मार्ग को सुरक्षित रखना पड़ता है। श्रावक-जीवन, श्रमण-जीवन से भी कठिन है, बशर्ते व्यक्ति श्रावक-जीवन को आचरित करने का सच्चा प्रयास करे।

भगवान कहते हैं कि कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुल में पैदा होने से ही ब्राह्मण नहीं हो जाता। कोई वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र कुल में पैदा होने से ही वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र नहीं बन जाता। आदमी के गुण, उसके कार्य और उसकी रचनाधर्मिता ही उसके ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र बनने के आधार होते हैं। जिस तरह कोई

व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं हो सकता, उसी तरह व्यक्ति जन्म से हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान नहीं हो सकता। जब व्यक्ति जन्मजात जैन ही नहीं हो सकता तो भला एक श्रावक कुल में जन्म लेने भर से वह श्रावक कैसे हो सकता है? व्यक्ति शर्मा कुल में पैदा होकर शर्मा कहला सकता है, ओसवाल कुल में जन्म लेकर ओसवाल बन सकता है, पर व्यक्ति श्रावक तो तब ही बनता है जबकि वह श्रावक-जीवन को जिए। संभव है कि कोई अस्सी वर्ष की उम्र का व्यक्ति भी श्रावक न हो और कोई तीन वर्ष का बालक भी श्रावक हो जाए। सत्तर वर्ष की उम्र का व्यक्ति मरकर चण्डकौशिक बन जाया करता है और मात्र आठ वर्ष का अतिमुक्तक मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

आज सुबह ही मैंने एक तीन वर्ष के बालक को देखा। वह धोती पहने, कंधे पर उत्तरासन रखे और मुँह पर मुखपोश बाँधे हुए मंदिर में पूजन कर रहा है। मैं अभिभूत हो उठा उसकी उन्नत भाव-दशा को देखकर। पता नहीं, उसमें कब, कहाँ, किस हाल में श्रावकत्व धटित हो गया। जहाँ अस्सी वर्ष की अवस्था में भी व्यक्ति अपनी गृहस्थी और भोगों में रचा-बसा है, वहीं तीन वर्ष की उम्र में भी कोई श्रावक हो सकता है।

भगवान ने तीन प्रकार के श्रावक बताए हैं। पहला पाक्षिक, दूसरा नैष्ठिक और तीसरा साधक श्रावक। जो अष्टमी, चतुदशी और अन्य पर्वतिथियों पर धर्म के मार्ग का किंचित् अनुसरण कर लेते हैं, वे पाक्षिक श्रावक हैं। ऐसे व्यक्ति जो दिन-रात धर्म में रत रहते हैं, धर्म में ही जिनका मन रमा रहता है और धर्म में ही जो स्थिर रहते हैं, उन्हें भगवान ने नैष्ठिक श्रावक की संज्ञा दी है। ऐसे गृहस्थ या श्रावक व्यक्ति साधक श्रावक कहलाते हैं जो कि संसार में रहते हुए भी उसी प्रकार निर्लिप्त रहते हैं जैसे कि कमल कीचड़ से अलग रहता है। वे व्यक्ति भले ही अपनी पेंट-कमीज को छोड़कर संयम-वेश ग्रहण नहीं कर पाए, पर उनकी साधना हर पल उसी दिशा में ही गतिशील रहती है।

बुद्ध ने जिसे स्रोतापन्न कहा, महावीर ने उसे ही नैष्ठिक और साधक श्रावक की संज्ञा दी है। बोलचाल की भाषा में हम कह सकते हैं कि श्रावक चार प्रकार के होते हैं। पहले, कदैया, दूसरे भदैया, तीसरे मरैय्या और चौथे सदैया। कदैया वे होते हैं जो कभी-कभी धर्म पर कृपा कर देते हैं और कभी-कभी किसी मंदिर, धर्मस्थान या प्रवचन-स्थल पर पहुँच जाया करते हैं। दूसरे होते हैं भदैया जो पूरे

वर्ष तो धर्म नहीं करते, पर भादवा और सावन आते ही उन पर धर्म का जुनून सवार हो जाता है। जैसे कोई किसान इन महीनों में अपने खेत में बीज बोने, उसकी सिंचाई और निराई करने में लग जाता है, वैसे ही भद्रैय्या श्रावक भाद्रपद और सावनमास में ही मंदिर जाते हैं, प्रवचन सुनते हैं और पर्यूषण में तपस्या आदि करते हैं। तीसरे होते हैं – मरैय्या जो किसी मंदिर या किसी धर्मस्थल पर मंगलपाठ सुनने तभी जाते हैं जब कोई मर जाता है। ऐसे लोग किसी के मरने पर सोचते हैं कि सचमुच आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप और स्वर्ग-नरक हैं। इसलिए वे मृत की आत्मा की शांति के लिए मंदिर चले जाते हैं। चौथे होते हैं सदैय्या जिनके लिए किसी का जन्म और मरण, कोई अष्टमी या चतुर्दशी कोई सावन या भादो महत्त्व नहीं रखते। उनका तो हर दिन-हर रात, पल-प्रतिपल धर्म के लिए समर्पित होता है। वे देव, गुरु और धर्म के प्रति हर क्षण आस्थाशील होकर साधना-मार्ग में अनवरत बढ़ते रहते हैं। वे ही नैष्ठिक श्रावक होते हैं और श्रावक कहलाने के सच्चे अधिकारी भी। ऐसे श्रावक ही आगे चलकर श्रमण होते हैं।

यदि कोई श्रमण विशुद्ध रूप से श्रमणत्व का पालन नहीं करता तो इसका कारण यह है कि उसने अपने जीवन में शुद्ध श्रावक-जीवन नहीं जिया। सच्चे श्रमण के लिए सच्चा श्रावक होना पहली शर्त है। जो व्यक्ति सच्चा श्रावक नहीं बन पाया, वह सच्चा श्रमण भी कभी नहीं बन सकता।

विशुद्ध रूप से श्रावक जीवन को जीने वाला व्यक्ति यदि श्रमणत्व को अंगीकार कर ले तो वह उसका शुद्ध पालन कर पाएगा तथा श्रमण-जीवन की गरिमा को भी बनाए रखेगा। तब श्रमणत्व का फूल उसके जीवन में मुक्ति की सुवास लेकर आएगा। भगवान ऐसे श्रावक-जीवन को ही अपनी ओर से प्ररूपित करते हुए कुछ मूल्यवान् सूत्र समर्पित कर रहे हैं। पहला सूत्र है –

*दाणं पूया मुखं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।*

*झाणाञ्जयणं मुखं, जइधम्मे तं विणा तहा सो वि॥*

भगवान कहते हैं : 'श्रावक-धर्म में दान और पूजा मुख्य हैं जिनके बिना श्रावक नहीं होता तथा श्रमण-धर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य हैं, जिनके बिना श्रमण नहीं हो सकता।'

भगवान ने श्रावकों के लिए पाँच अणुव्रतों का विधान किया है। अणुव्रतों के संबंध में कोई यह न समझे कि ये किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा कथित या निरूपित

सिद्धांत हैं। वे तो तीर्थकरों की अनन्त श्रृंखला में प्रत्येक तीर्थकर द्वारा स्थापित, अनुमोदित और प्रत्येक श्रावक-श्राविका के कल्याण के लिए अनुभूत सिद्धांत हैं। अणुव्रत के अलावा श्रावक जीवन में ऐसे कौन से कार्य हैं, जिन्हें हम श्रावक-धर्म की बुनियाद कह सकें? भगवान ने कहा, 'श्रावक-जीवन के लिए दान और पूजा मुख्य हैं। जैसे कोई पंछी अपनी दोनों पाँखों के सहारे आकाश में उड़ता है; जैसे कोई व्यक्ति दोनों पाँवों के सहारे ही चल पाता है और जैसे कोई व्यक्ति दोनों हाथों के सहारे ही कार्य को निपुणता से संपादित करता है, वैसे ही श्रावक-जीवन के लिए दान और पूजा का महत्व है।

भगवान ने जहाँ श्रावक की दोनों हथेलियों में से एक हथेली पर दान और दूसरी हथेली पर पूजा के अधिकार को समर्पित किया है; वहीं श्रमण की दोनों हथेलियों पर ध्यान और अध्ययन के दीप थमाए हैं। जो श्रावक अपनी एक हथेली पर दान का दीप रखता है और दूसरी हथेली पर पूजा के पुष्प रखता है, उसका जीवन कभी अंधकार में नहीं भटक सकता और न ही उसका जीवन कभी दुर्गुणों की दुर्गन्ध से दुर्वासित हो सकता है।

भगवान ने कहा कि श्रावक दान करे और दूसरों का सहयोग करे। व्यक्ति केवल यही न सोचे कि दूसरों को मेरे द्वारा पीड़ा नहीं पहुँचाना ही अहिंसा-अणुव्रत का पालन है, बल्कि उसकी मनोवृत्ति यह हो कि मैं दूसरों को हर संभव मदद दूँ। उसी व्यक्ति का भोजन करना सार्थक होता है जो स्वयं भोजन करने से पहले किसी अतिथि को भोजन कराता है। श्रावक तो देने मात्र से ही धन्य होता है। उसमें पात्र और अपात्र का विचार ही क्या? जिसको हम दान दे रहे हैं, वह उसका सही उपयोग करेगा या नहीं, यदि हम ऐसा सोचेंगे तो फिर हम शायद ही दान कर पाएँ। यदि तुम देते हो और पाने वाला उसका सही उपयोग नहीं करता है तो इसमें उसी की अपात्रता है, पर यदि तुम किसी को दान देने में योग्य और अयोग्य का विचार करके मना कर देते हो तो यह तुम्हारी अपात्रता है।

महान् पुरुष दान देने से पहले सोचते नहीं है। कर्ण, जिसकी दहलीज पर स्वयं इन्द्र कवच और कुण्डल माँगने आया था, यदि वह यह सोचता कि कवच और कुण्डल का दान मेरे भरण का निमित्त या कारण बन जाएगा तो वह दान नहीं कर पाता। उसने तो सोचा कि आने वाली सदियों, युग और इतिहास क्या याद रखेंगे कि देवताओं के महाराज इन्द्र को भी एक मनुष्य के द्वार पर जाना पड़ा;

जीवन का दान मांगने पर भी इन्द्र को दुत्कार या मनाही नहीं मिली। इस तरह मनुष्य को देवताओं से भी ज्यादा ऊँचा दर्जा और गौरव प्रदान किया गया।

ऐसा नहीं है कि देने वाले देवता ही हैं और मनुष्य दान नहीं कर सकता। कभी-कभी देवता को भी मनुष्य के द्वार पर आना पड़ता है। कोई देवता, किसी दधीचि के द्वार पर उसकी अस्थियाँ माँगने पहुँच जाता है और दधीचि द्वारा अपनी अस्थियाँ दान कर दी जाती हैं। उससे वज्र का निर्माण होता है और उस वज्र के सहारे ही दानवों का संहार किया जाता है। इसीलिए भगवान ने कहा कि श्रावक तो देता रहे क्योंकि देने से ही वह धन्य होगा।

जब चन्दनबाला जैसी सन्नारी को अपमानित और कलंकित कर किसी तलघर या कोठार में बंद किया जाता है और उसे तीन दिन बाद खाने को उड़द के बाकुले मिलते हैं तब भी उसकी यह भावना रहती है कि मैं किसी अतिथि को इसमें से कुछ अर्पित करूँ और उसके बाद ही मैं उन्हें ग्रहण करूँ, तभी मेरा भोजन सार्थक होगा। ऐसे समय में महावीर आते हैं, उससे आहार ग्रहण करते हैं और चन्दनबाला धन्य हो जाती है। अगर आपके पास धन है तो धन दें, भोजन है तो भोजन दें और यदि वस्त्र हैं तो वस्त्र दें। एक कटोरा खीर का दान भी किसी के लिए धन्ना और शालिभद्र बनने का निमित्त बन सकता है।

यह न सोचें कि मैं जिसे रोटियाँ दे रहा हूँ, वह बाजार में जाकर उन्हें बेच सकता है। अगर यह सोचेंगे तो आप दान कभी नहीं कर पाएँगे। अगर आप ऐसा सोचते हैं तो फिर यह विचार भी तो करें कि मैं जो रोटियाँ खा रहा हूँ, वे भी तो मल में परिणित हो जाएँगी। हर कार्य का शुभ या अशुभ परिणाम तो होना ही है। लेने वाले की पात्रता-अपात्रता वह स्वयं जाने। हमारे दान से हम पुण्य पारमिताओं को छू रहे हैं। कोई व्यक्ति आ जाए और कहे कि हमारे गाँव में मंदिर बन रहा है तो दान देने के नाम पर यह कह कर रास्ते न निकालें कि पिताजी घर पर नहीं हैं या बेटा घर पर नहीं है। आप कहें कि मैं अपने सामर्थ्य के अनुसार अभी इतना ही दे रहा हूँ। आप अभी इसे स्वीकारें। पिताजी या बेटे के आने पर और अधिक जितनी गुंजाइश होगी, मैं देने का प्रयत्न करूँगा। निःस्वार्थ भाव से दान करो, अपना नाम रखने के लिए ही दान मत करो।

यदि कोई व्यक्ति आपके पास आता है और कहता है कि सामान कहीं छूट गया है। वह आपसे अपने घर वापस जाने का किराया माँगता है तो उसे दे दें।

संभव है कि वह झूठ बोलकर आपको ठगना चाहता हो, लेकिन वह ठगकर भी साठ-सत्तर रुपये ही तो ले जाएगा। हम भी तो किसी को कभी-न-कभी ठगते ही हैं। लेकिन यदि वह सच्चा व्यक्ति हुआ तो हमारा उसके प्रति यह दृष्टिकोण कितना नाइंसाफी भरा होगा। वह व्यक्ति भी मन में सोचेगा कि पीड़ित को देखकर भी जिसके मन में पीड़ा, दया और करुणा नहीं उपजती, वह इन्सान नहीं, कोई दानव ही होगा। न केवल हम दूसरों को सहायता दें, बल्कि उसे अपनी ओर से धन्यवाद भी ज्ञापित करें कि तू आज मेरे पास आया और तूने मुझे देने का सुकून दिया।

मैं, सुबह उठकर रोज यह प्रार्थना करता हूँ कि हे प्रभु ! तू मेरे पास ऐसे पचास-सौ आदमी रोज भेज जिन्हें मैं अपनी सेवाएँ दे सकूँ, जिन्हें मैं कुछ मदद कर सकूँ और किसी की उदरपूर्ति का मैं पुण्य निमित्त बन सकूँ।

यह हमारी पुण्यवानी है कि हम दान कर अपने पुण्य को बढ़ा रहे हैं। यदि दान नहीं किया गया तो पुण्य के गुल्लक की स्थिति उस गुल्लक की तरह हो जाएगी जिसमें से केवल निकाला जाता है, पर डाला कुछ नहीं जाता। आभार मारने उस व्यक्ति का जिसने हमें अवसर दिया कुछ देने का। हम उसे धन्यवाद दें कि मित्र ! तुमने मुझसे भोजन स्वीकार किया, वरना यह भोजन तो मेरे पेट में जाकर मल ही होने वाला था। तुमने मुझे समर्थता का अहसास दिया, मुझे देने का आनन्द दिया, मुझे अपने पदार्थ का सदुपयोग करने का अवसर दिया।

ध्यान रखें, मनुष्यत्व इसी में है कि जो भी दो-चार रूखी-सूखी या चिकनी-चुपड़ी रोटियाँ नसीब हुई हैं, उनको मिल-बाँटकर खाएँ। वह व्यक्ति तो पशु या दानव है जो स्वयं का पेट ही भरना जानता है। दूसरों को देकर खाना, यह जीवन की दिव्यता है, और खुद ही खुद खाना कृपणता है, ओछापन है। हमारा हर संभव प्रयत्न हो कि हमारे द्वार पर आया हुआ कोई व्यक्ति कभी खाली हाथ न जाए। इसीलिए भगवान ने कहा है कि श्रावक के दो हाथ हैं, एक पूजा के लिए और दूसरा दान के लिए।

वह श्रावक धन्य होता है जो सुबह उठकर परमात्मा की प्रार्थना करता है और रात में सोने से पहले स्वाध्याय करता है। सुबह की गई प्रार्थना व्यक्ति को परमात्मा की स्मृति की एक ऐसी तरंग से भर देती है जो उसके दैनन्दिनीय कार्यों को सही दिशा में गति और ऊर्जा प्रदान करती है। सोने से पहले स्वाध्याय करने पर चित्त निर्मल होता है, विकार मिटते हैं और स्वभाव में सौम्यता आती है। उस व्यक्ति

की रात भी ऐसे गुजरती है मानो कोई साधक ध्यान या कायोत्सर्ग की प्रक्रिया से गुजर रहा हो।

ईश्वर करे, आप सब के दिन और रात, प्रार्थना और स्वाध्याय द्वारा धन्य और पावन बनें। पूजा और प्रार्थना का कभी गरीबी और अमीरी से संबंध नहीं होता। जो पूजा इसलिए नहीं करते कि वे इसे आडम्बर मानते हैं या वे मूर्ति-पूजा के विरोधी हैं और उसमें निष्ठा नहीं रखते, उनसे भी मैं यह अनुरोध करूँगा कि आप द्रव्य-पूजा भले ही न करें, पर भाव-पूजा तो अवश्य करें। हम सन्तजन जो द्रव्य-पूजा नहीं करते, हम भी तो भाव-पूजा करते ही हैं। जो द्रव्य-पूजा करते हैं, वे इस बात का सदैव ध्यान रखें कि द्रव्य-पूजा, भाव-पूजा तक पहुँचने के लिए मात्र एक सीढ़ी है। हम द्रव्यता में जितना समय देते हैं, उससे तिगुना समय भावपूजा में दें।

व्यर्थ के चढ़ावे, व्यर्थ का आडम्बर और वस्तुओं का समर्पण ! चावल का साथिया तो एक निमित्त भर है। यदि द्रव्यपूजा को गौण कर दिया जाए तो स्थानक और तेरापंथी समाज का मूर्तिपूजक समाज से जो विरोधाभास है, वह समाप्त ही हो जाए। तब सारा जैन समाज एक मंच पर एकत्र हो सकता है। प्रधानता तो भाव-पूजा की ही है।

जो व्यक्ति केवल भावपूजा को की स्वीकारते हैं, उन्हें मेरा एक प्यार भरा निमंत्रण है कि वे अपने कदम ऐसे स्थान पर रखें जहाँ जाकर परमात्मा की स्मृति हो जाए। जिस तरह घर जाने पर घर वालों की याद आती है, फिल्म हॉल में स्मृति किसी अभिनेत्री से जुड़ती है, वैसे ही मंदिर ऐसे पावन धाम हैं, जहाँ व्यक्ति को उस परमात्मा की दिव्य स्मृति हो आती है। यह स्मृति अशांति और दुःख को शांति और सुकून में बदल देती है। आप मंदिर में जितना भी समय बिताएँ या जितनी भी धर्मक्रिया करें, उसमें आपकी समग्रता जुड़ी हो। कार्य भले ही थोड़ा हो, पर वह पूर्ण समग्रता, निष्ठा, आस्था और श्रद्धा से हो।

आपको याद होगा, गोमटेश्वर बाहुबलि का मस्तकाधिषेक। गोमटेश बाहुबलि की प्रतिमा आज संपूर्ण एशिया भर में दूसरे नम्बर की सबसे बड़ी प्रतिमा है। इस प्रतिमा का निर्माण राजा चामुण्डराय द्वारा कराया गया और एक हजार वर्ष बाद हमारे ही देश की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा इस प्रतिमा का महामस्तकाधिषेक किया गया। मैं बात उस समय की कर रहा हूँ जबकि उस

प्रतिमा की प्रतिष्ठा और महामस्तकाभिषेक का अवसर था ! कहा जाता है कि समारोह चल रहा था, लोगों द्वारा हजारों सैकड़ों कलश दूध भगवान बाहुबलि के मस्तक पर डाला जा रहा था, लेकिन मस्तकाभिषेक उस समय तक पूर्ण नहीं माना जाता, जब तक कि सिर से डाली गई दूध या पंचामृत की धारा भगवान के पाँवों तक पहुँचकर उनके चरणों के अँगूठे को स्पर्श न करे। मस्तकाभिषेक पूर्ण नहीं तो प्रतिष्ठा भी अपूर्ण ही मानी जाएगी। इतना दूध डालने पर भी वह भगवान के घुटनों से नीचे पहुँची ही नहीं। सब आचार्य जुट गए। पुण्यशाली राजा चामुण्डराय ने भी बहुत प्रयत्न किया। सभी नागरिकों ने भी मंच पर चढ़कर कलश, दूध के कलशे मस्तक पर अर्पित किए, पर दूध पाँवों तक नहीं पहुँच पाया। दूध इधर-उधर ही छिटक जाता। तब आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठा के अपूर्ण रहने की घोषणा कर दी गई। तभी वहाँ अस्सी वर्ष की वृद्ध महिला आई जिसकी कमर भी झुक गई थी। वह बोली, 'मैं बहुत दूर से प्रभु का मस्तकाभिषेक करने के लिए आई हूँ। कृपया मुझे भी एक अवसर दिया जाए।' उस महिला का नाम था अञ्जिका गुलि। 'अञ्जिका' एक प्राकृत शब्द है जिसका अर्थ होता है आर्यिका।

दिगंबर समाज में वर्तमान में भी महिला संत के आगे आर्यिका शब्द का प्रयोग किया जाता है। लोगों ने उस गुलि को इतना सम्मान दिया कि उस सन्नारी के नाम के पूर्व में अञ्जिका शब्द जोड़कर उसे एक साध्वी या आर्यिका की उपमा दी गई। उसके प्रार्थनामय भावों को देखकर राजा ने उसे आज्ञा दे दी। वह बूढ़ी किसी तरह मंच पर चढ़ी और अपने हाथों में लिये हुए एक दोने में अपने आँचल का दूध, भगवान के मस्तक पर समर्पित कर दिया। वहाँ पर उपस्थित आचार्य, राजा और समस्त जनसमुदाय यह देखकर आश्चर्यचकित हो गया कि जो मस्तकाभिषेक लाखों कलश दूध से सम्पन्न न हो पाया, वह उस बूढ़ी महिला के एकमात्र एक दोने दूध से हो गया। भगवान के चरणों से दूध की धारा बह निकली। पूरा गाँव और वह संपूर्ण पर्वत, जिससे पत्थर काटकर प्रतिमा बनाई गई थी, दूधिया हो गए, दूध से लबालब भर गए।

आज भी वहाँ पहाड़ ऐसा दूधिया है जैसे वह किसी संगमरमर का हो, जबकि उसके आसपास के सभी पहाड़ काले हैं। महत्त्व है समग्रता का। मूल्य इस बात का नहीं है कि कितना चढ़ाया गया, बल्कि मूल्यवान यह है कि किन भावों के साथ चढ़ाया गया। किस समग्रता से चढ़ाया गया। एक व्यक्ति पूजा के लिए फूल, बाजार से खरीदता है। दूसरा व्यक्ति वही फूल अपने गमले में उगाता है।

वह एक महीने तक उस पौधे की देखभाल करता है, उसमें पानी डालता है, खाद देता है और धूप की समुचित व्यवस्था करता है, तब कहीं जाकर उसे एक फूल प्राप्त होता है। यदि वह एक फूल परमात्मा को भाव से समर्पित किया जाता है तो बाजार से खरीदे गए सवा लाख फूल भी उस एक फूल की बराबरी नहीं कर सकते। करोड़ों के मंदिर धरे रह जाते हैं, जब किसी गरीब द्वारा एक झोंपड़ी को मंदिर के रूप में खड़ा किया जाता है।

यह तो वह देश है जहाँ यदि कोई पत्थर भी भाव से खड़ा कर दिया जाए तो वह किसी भैरूजी, भोमियाजी और भोपाजी के नाम से पूजा जाता है। महत्त्व है भावों का। प्रतिष्ठा मंत्रों और श्लोकों से नहीं हो सकती, वह तो भावों से होती है। श्रद्धा भरे हाथ किसी भी तत्त्व में प्राण-प्रतिष्ठा करने में समर्थ और सक्षम होते हैं। भगवान ने इसीलिए कहा कि श्रावक के एक हाथ में पूजा हो और दूसरे हाथ में दान। तुम प्रतिदिन पूजा करो और चाहे दस रुपये ही सही, मानवता की मदद के लिए अवश्य समर्पित करो। इसी संदर्भ में भगवान अगला सूत्र दे रहे हैं —

*सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।*

*गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥*

भगवान कहते हैं, 'साधुजन सभी गृहस्थों से संयम में श्रेष्ठ होते हैं, तथापि कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में श्रेष्ठ होते हैं।'

प्रभु बड़ी क्रांतिकारी बात कह रहे हैं। यह तो कोई आश्चर्यकारक बात नहीं है कि साधुजन संयम में सभी गृहस्थों से श्रेष्ठ होते हैं। चाहे साधु में कोई दोष आ जाए तो भी वह श्रेष्ठ है, क्योंकि उसने गृहस्थ-जीवन का त्याग किया है, वह ब्रह्मचारी जीवन जी रहा है और अन्य कितने ही नियमों का पालन भी कर रहा है। भगवान यह भी कहते हैं कि कुछ गृहस्थ ऐसे भी होते हैं जो संयम में मुनियों से भी श्रेष्ठ होते हैं। कोई मापदंड थोड़े ही होता है गृहस्थ और साधु के संयम-जीवन को मापने का। एक श्रावक भी अपनी भावदशा में साधना के उन्नत सोपानों को छू सकता है और एक साधु अपनी ही भावदशा में विकारों के दलदल में गिर सकता है। मैंने धर्म की किताबों में पढ़ा है, हालाँकि जाना या देखा नहीं है कि पंचम आरे में कई साधु-साध्वी और आचार्य नरक में जाएँगे। पर मैं तो यह कहना चाहूँगा कि गृहस्थ भी चढ़ सकता है और साधु भी गिर सकता है। मूल्य है भावों और कृत्यों का।

कल्पना करें कि लन्दन में विश्व-स्तर का एक महा अधिवेशन चल रहा हो जिसमें विश्व की सभी सम्माननीय हस्तियों को आमंत्रित किया गया है। वहाँ एक व्यक्ति मात्र छोटी-सी धोती पहने, कंधे पर एक दुपट्टा लिये और हाथ में एक डण्डा लिये पहुँचता है। क्या यह अपरिग्रह का जीवन्त उदाहरण नहीं है ? वहाँ पहुँचने पर उस व्यक्ति को कहा जाता है कि आपको इस तरह के वस्त्र पहनकर महाधिवेशन का अपमान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप या तो सलीके के वस्त्र पहनकर आएँ अथवा इस महाधिवेशन से लौट जाएँ।

वह व्यक्ति कहता है, 'मैं इस महाधिवेशन का त्याग कर सकता हूँ, पर अपने सिद्धांतों से समझौता नहीं कर सकता। ऐसा कहकर वह जैसे ही लौटने के लिए पीछे मुड़ता है, तभी महारानी एलिजाबेथ उठकर खड़ी हो जाती हैं और कहती हैं, 'महात्मा गाँधी, इस महाधिवेशन में आपका वही स्थान है जो कोहिनूर हीरे से सज्जित एलिजाबेथ का है।' तब उस महाधिवेशन की अध्यक्षता महात्मा गाँधी द्वारा की जाती है। एलिजाबेथ ने सिद्ध किया कि महिमा त्याग की होती है, भोग की नहीं। त्याग के आगे भोग बौना हो जाता है।

ऐसे व्यक्ति ही गृहस्थ-संत होते हैं। अपरिग्रह के संदर्भ में ही हम एक और उदाहरण लें। मंदसौर के एक श्रावक हैं श्री अमरचंद कोठारी जो वर्तमान में कलकत्ता में रहते हैं। इस व्यक्ति ने आज से कोई पचास-पचपन वर्ष पूर्व किसी संत की प्रेरणा से परिग्रह-परिमाण-व्रत ले लिया। उस समय उनकी कमाई थी १० या २० रुपये मासिक और इन्होंने यह परिमाण ले लिया कि वे दस हजार रुपये से अधिक धन अपने पास नहीं रखेंगे। उस समय तो दस हजार रुपये का बहुत महत्त्व होता था, हालाँकि आज तो एक लड़के के ही बैंक बैलेंस में बीस-पच्चीस हजार रुपये आसानी से मिल जाएँगे।

मुद्दे की बात यह है कि वह व्यक्ति आज भी जब प्रतिदिन हजारों-लाखों के धंधे करता है, पर अपने लिये हुए नियम पर अडिग है। दस हजार से जितना भी ज्यादा होता है, वह उसका दान कर देता है। प्रतिदिन का उसका यही नियम है। वह अपना हिस्सा मिलाता है और दस हजार से जितना भी ज्यादा होता है, उसे एक अलग गुल्लक में डाल देता है। कोई भी आता है तो वह उसे दान कर देता है, इस भाव से नहीं कि सामने वाले को चाहिए या आवश्यकता है, बल्कि इसलिए कि यह अतिरिक्त पैसा उसे हटाना है। वह व्यक्ति प्रतिदिन हजारों-लाखों रुपयों

का दान करता है। ऐसे व्यक्ति के दान के सामने बड़े-बड़े करोड़पति धरे रह जाते हैं। उसके घर से कोई खाली हाथ नहीं लौटता। उस व्यक्ति का धंधा है — डोडों का। जब उसने यह धंधा प्रारंभ किया था, तब शायद वह दो-तीन रुपये की कमाई करता होगा, पर आज यह धंधा इतना चल पड़ा है कि उसकी कमाई लाखों में है। लक्ष्मी की यह विशेषता है कि जो उसे त्यागे, वह उसके आगे और जो उसे भोगे, उससे भागे।

साधना के संदर्भ में ही एक और उदाहरण दूंगा। गुजरात के साधक श्री राजचन्द्र का। उनका उदाहरण इसलिए देना चाहूंगा कि इस व्यक्ति ने पेंट-कमीज या धोती-कुर्ते का त्याग नहीं किया, लेकिन यह व्यक्ति इस तरह की गहरी साधना करके गया कि इस बीसवीं शताब्दी में कोई ऐसा साधक नहीं हुआ जो साधना के क्षेत्र में उनके मुकाबिले खड़ा हो। हमारी धर्म-परंपरा में जहाँ संतों को महत्त्व दिया जाता है, वहाँ इस साधक व्यक्ति के आज हजारों-लाखों की संख्या में अनुयायी हैं। यह व्यक्ति युवा अवस्था में ही चल बसा, पर किसके बलबूते पर उसने इतनी ऊँचाइयों को प्राप्त किया? अपनी साधना की पुण्य पारमिताओं के बल पर ही वह इस लोकपूज्य स्थान पर पहुँचा। आज इस व्यक्ति के नाम पर सैकड़ों आश्रम हैं। गृहस्थ में रहकर भी व्यक्ति साधना की जिन ऊँचाइयों पर पहुँच सकता है, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण श्रीमद् राजचन्द्र है।

इस देश में धर्म और दर्शन के मामलों में जिनका प्रमुख स्थान है उन्हीं में से एक हैं डॉ. सागरमल जैन। मैं उनका भी जिक्र करना चाहूंगा। बात उन दिनों की है जब मैं पी-एच.डी. के लिए शास्त्रों का अध्ययन कर रहा था। एक दिन, रात के करीब सात बजे मैंने उन्हें संदेश भिजवाया कि आप आधे घंटे बाद पधार जाएँ क्योंकि मुझे किसी शास्त्र के बारे में आपसे कुछ चर्चा करनी है। उन्होंने अपनी स्वीकृति भेज दी। आधा घंटा बीता, एक और डेढ़ घंटा भी बीत गया, पर वे नहीं आए। करीब नौ बजे वे पधारे। हमने उनको देखकर सोचा कि अब वे शास्त्र-चर्चा कब करेंगे और कब सोएँगे। चूंकि वे हमारे लिए गुरुतुल्य रहे, इसलिए हमने उनसे कहा तो कुछ भी नहीं और हम शास्त्र-चर्चा में बैठ गए। करीब एक घंटे बाद उनका हाथ यकायक सिर पर चला गया और उन्होंने सिर को कुछ हल्का-सा दबाया। जब उनका हाथ नीचे आया तो हम यह देखकर दंग रह गए क्योंकि उनका हाथ खून से लथपथ था।

हमने पूछा, 'यह क्या हो गया ?' वे बड़े शांत स्वर में बोले, 'कुछ नहीं, ऐसे ही चोट लग गयी थी।' हमने कहा, 'तब आपने पधारने का कष्ट क्यों किया ?' उन्होंने जवाब दिया, 'इस खून या चोट से अधिक मूल्यवान मेरे लिए आपके आदेश की पालना है। ऐसा कभी हो सकता है कि आप बुलाएँ और मैं न आऊँ !' तब हमने जाना कि सामायिक किसे कहते हैं ? जिस व्यक्ति के सिर पर इतनी गहरी चोट लगी है कि बाद में उसके छह-छह टाँके आए तो भी वह व्यक्ति इतनी समता, शांति और सहजता से हमारे साथ एक-डेढ़ घंटे शास्त्र-चर्चा करता रहा। रात के साढ़े दस बजे के लगभग हमने उनके प्राथमिक उपचार की व्यवस्था की।

हुआ यह कि वे शेविंग कर जब स्नानघर में नहाने गए तो नहाकर जैसे ही ऊपर उठे कि सिर पर लगा हुआ नल, सीधा उनके सिर के भीतर घुस गया। उन्होंने टाँके लगवाने की चिंता नहीं की और सीधे हमारे पास शास्त्रचर्चा के लिए आ गए। उनको मधुमेह की बीमारी थी। वे जब हमारे साथ शास्त्र-अध्ययन और अध्यापन के लिए बैठते तो उनके लिए एक गिलास करेले का रस लाया जाता। वे उस रस को बड़े आराम से पी लेते, गिलास रखते और फिर अध्ययन प्रारंभ। मुँह साफ करने के लिए किसी अन्य चीज की आवश्यकता नहीं, न ही कोई नाक-भौं सिकोड़ी जाती। इतनी सहजता और समता, करेले के रस के प्रति रही। मैं हकीकत कहता हूँ कि हमने अपने जीवन में सामायिक की साधना जिनसे सीखी है, उनमें सागरमलजी भी एक हैं।

जिस व्यक्ति की मति सम्यक्दर्शन से विशुद्ध हो गई है, वह व्यक्ति सप्त व्यसनों का त्याग करने से दार्शनिक श्रावक कहा जाता है। किसी का फिलोसॉफर होना एक अलग पहलू है। वह उसके चिन्तन की परिपक्वता है पर दार्शनिक का श्रावक होना दर्पण होने की तरह है। जैसा दर्पण साफ-सुथरा होता है, ऐसे ही वह व्यक्ति भी भीतर-बाहर साफ-सुथरा होता है। व्यक्ति का जीवन किसी आईने की तरह हो जाए। आईने में किसी ने झाँका तो आईने ने उसे उसका प्रतिरूप दिखा दिया। देखने वाला हटा कि आईना फिर साफ-स्वच्छ। आईने में सौ लोग अपनी छवि देख लें, फिर भी आईना बेदाग रहता है, साफ-स्वच्छ रहता है। कैमरा तो कैच कर लेता है छवि को, पर आईना सबको देखकर भी, सबसे मिलकर भी, सबसे बतिया कर भी निर्मल-निर्लिप्त-मुक्त रहता है। मैं कहूँगा कि हम आईना बनें-सबके साथ सबके बीच, फिर भी निर्लिप्त।

मेरी प्रेरणा है कि हर व्यक्ति गृहस्थ-संत बने। घर में रहे, फिर भी साधु-स्वभावी होकर। साधुता मन में हो, व्यवहार में हो। हर किसी का हृदय साधु होना चाहिए। मैं नाम, वेश, स्थान बदलने की बात नहीं उठाऊँगा। मैं तो कहूँगा कि तुम पैट-कमीज पहनकर भी संत बनो। पैट-कमीज वाले ही सही, पर जीवन संत हो। स्वार्थों का त्याग हो। विकारों का त्याग हो। औरों के काम आने की सद्भावना हो। हमारी ओर से किसी को भी ठेस न पहुँचे। सबसे प्रेम हो और सबकी सेवा।

महावीर का लंछन है -- सिंह। लॉयन्स क्लब का चिह्न है सिंह। मैं कहूँगा कि हम सब सिंह बनें, सिंह-पुरुष। अपना सोया सिंहत्व जगाएँ, अपनी सोई साधुता जगाएँ। महाव्रत अब कौन-कितना पाल सकेगा, यह अलग बात है। हम अणुव्रत ही पालें, पर पूरा जिएँ। चाहे श्रमण हों या श्रावक, वे अपनी परिपूर्णता के साथ अणुव्रत भी जीएँ तो इस स्वार्थी और चकाचौंधमयी दुनिया में काफी होगा। जो हो, पूर्ण हो; निष्ठा से हो। हर हाल में हो। धक्कामार जिंदगी ठोस हो, पूर्ण हो, परिपक्व हो। हम सब सात्विक जीवन जिएँ। अपनी ओर से इतना ही अनुरोध है। सभी के लिए अमृत प्रेम; नमस्कार।

□□□



## व्रतों की वास्तविक समझ

मेरे प्रिय आत्मन् !

यह सारा पृथ्वी-ग्रह हमारा घर है और हम सभी लोग इसके सदस्य हैं। जिस तरह किसी भी घर को सजाने और सँवारने का दायित्व घर के सभी लोगों का होता है, ऐसे ही इस पृथ्वी-ग्रह को सज्जित, श्रृंगारित और सुवासित करने के लिए हम सभी जवाबदेह हैं। कोई भी एक अकेला व्यक्ति किसी देश, समाज और घर को नहीं सँवार सकता। घर तब ही घर रह सकता है जब कि घर का प्रत्येक सदस्य उस घर की सार-संभाल के प्रति प्रतिबद्ध हो। यदि कोई सास, बहू के आने पर यह सोच ले कि अब घर की जिम्मेदारी बहू पर है तो घर सजा-सँवरा नहीं रह सकता और यदि बहू यह सोच ले कि उसे क्या चिन्ता, सास घर को सँभालने के लिए बैठी है तो ऐसे घर की नींव इन हालात में बूढ़ी हो जाएगी। वह घर सुसज्जित, संस्कारित और अखण्डित नहीं रह सकता।

पृथ्वी-ग्रह भी एक घर के ही समान है। यहाँ हम एक मुसाफिर की तरह चार दिन के लिए आते हैं और फिर किसी अन्य ग्रह की तरफ कूच कर जाते हैं। पृथ्वी-ग्रह पर किसी का आगमन जन्म का सुकून हो जाया करता है और इस ग्रह से प्रस्थान मृत्यु की पदचाप बन जाती है। हकीकत तो यही है कि हम किसी मुसाफिर की तरह चार दिन के लिए यहाँ रुकते हैं और फिर अन्तहीन दिशा की ओर प्रयाण कर जाते हैं।

आने वाला समय और पीढ़ियाँ हमारी सभी ऋणी रहेंगी जब हम आने वाले कल के लिए ऐसे दरखत लगाकर जाएँ जिनके फल, फूल और छाया उन्हें लम्बे समय तक मिलते रहें। आज हम भय और आतंक के गंभीर दौर से गुजर रहे हैं। सभी के पास यही प्रश्न है कि आज क्या हुआ और कल क्या होगा ? विश्व की महाशक्ति कहलाने वाला अमेरिका आतंक के भँवर में घिर गया है और उसके द्वारा की जाने वाली जवाबी कार्यवाही की तैयारी देखकर सारा विश्व स्तब्ध है कि कहीं तीसरा विश्व-युद्ध न छिड़ जाए। आज सारी प्रबुद्ध मानवजाति को यह बात समझ में आ गई है कि यह धरती यदि टिकी रहेगी तो वह केवल प्रेम, बन्धुत्व और सहिष्णुता के आधार-स्तंभों पर ही। शस्त्र, भय और आतंक से यह धरती कभी सुरक्षित नहीं रह सकती। जहाँ सारी मानवजाति ने विज्ञान और अध्यात्म के सिद्धान्तों को मानव के लिए कल्याणकारी माना है, वहीं विज्ञान के आविष्कारों का मानवता के विरुद्ध उपयोग करना वास्तव में हमारे लिए खतरे की एक सूचना है।

किसी संस्कृति को पनपने में जहाँ बीस वर्ष लगते हैं, उसी संस्कृति के नष्ट होने के लिए बीस दिन का युद्ध ही पर्याप्त है। यदि इस धरती से आतंक और उग्रवाद मिट जाए और जितना व्यय शस्त्रों के संग्रहण में किया जाता है, उतना यदि मानव कल्याणकारी कार्यों तथा रोजगार के अवसरों, शिक्षा और स्वास्थ्य पर खर्च किया जाए तो इस धरती का स्वरूप शायद कुछ और ही हो। जिन लोगों के पास अपनी कोई बुद्धिजन्य चेतना है, वे आज विश्व के जिस कोने में भी बैठे हैं, इसी बात पर चिंतन कर रहे हैं कि इस आतंकवाद को कैसे समाप्त किया जाए? अतीत में एक युद्ध महाभारत का युद्ध हुआ था, एक युद्ध कृष्ण और कंस के मध्य हुआ था और एक युद्ध राम और रावण के बीच हुआ था। वर्तमान में भी एक ऐसा संग्राम और छेड़ा जाए जो आतंक और भय को मिटाने का लक्ष्य लिये हो।

पिछले पचीस सौ वर्षों में पाँच हजार से भी ज्यादा युद्ध हुए हैं, पर कोई भी युद्ध यह सिद्ध नहीं कर पाया कि युद्ध शान्ति के आधार हो सकते हैं। एकमात्र कलिंग का युद्ध ऐसा हुआ जिसके बाद अयुद्ध की घोषणा हुई, पर शांति युद्ध के द्वारा नहीं बल्कि युद्ध के बाद अयुद्ध की घोषणा से हुई। वह किसी अशोक का समय रहा जहाँ धरती ने अहिंसा और शान्ति के द्वारा अपने अस्तित्व को कायम रखने की कला जानी। तब किसी गांधी द्वारा देश को आजाद करने के लिए अहिंसा और शांति का शंखनाद किया गया और धरती पर फिर से अहिंसा प्रतिष्ठित हुई।

घरती पर रहने वाले धार्मिक लोग अपनी दकियानूसी सोच को छोड़कर विश्वकल्याण के लिए प्रेम, दया, आत्मीयता और करुणा को फिर से रोशन करें। युद्ध किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

युद्ध तो स्वयं समस्या है। युद्ध ने किसी समस्या का समाधान नहीं किया है। फिर वह चाहे रूस और अमेरिका के बीच का युद्ध हो, इजराइल और फिलिपीन्स के बीच का युद्ध या तमिल और श्रीलंका के बीच का युद्ध हो। भारत-पाकिस्तान के युद्ध ने न भारत को कुछ दिया और न पाकिस्तान को।

घर में अंधेरा हो तो चिराग जलाना आवश्यक है, पर अंधेरे को मिटाने के लिए घर को ही जला देना मूर्खता ही है। मैं जानता हूँ कि तुम्हारा 'इगो' बार-बार तुम्हें लड़ने के लिए उकसाता है। पर लड़ना ही है तो अपने भीतर पलने वाले स्वार्थ और कषायों से लड़ो। जो आतंकवाद एक अजगर की तरह अपना मुँह खोलकर सारी मानवजाति को, सारी पृथ्वी को निगलना चाहता है, उससे लड़ो।

कहते हैं : आज देश ही नहीं, सारा विश्व आतंकवाद, उग्रवाद से व्यथित है। गरीबी, बेरोजगारी, अन्याय, अत्याचार, प्रदूषण, कैंसर, एड्स – न जाने, ऐसी कितनी समस्याएँ हैं, जिनके समाधान की वर्तमान विश्व को तलाश है। इन समाधानों के लिए अतीत में भी प्रयास हुए हैं और आज भी हैं। हम वर्तमान और अतीत के बीच सामंजस्य स्थापित करें और अतीत के मूल्यों को वर्तमान में भी लागू करें। राजा चण्डप्रद्योत ने जब मृगावती के रूपसौन्दर्य के बारे में सुना तो वह उससे विवाह करने के लिए लालायित हो उठे। पर मृगावती ने इस शादी के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। बदले में चण्डप्रद्योत ने मृगावती के राज्य पर धावा बोल दिया। मृगावती ने राज्य के परकोटे के सभी दरवाजे बन्द करवा दिये। चन्द्रप्रद्योत की पूरी सेना परकोटे के बाहर डेरा डालकर बैठ गई। इसी इंतजार में कि एक-न-एक दिन तो अन्न और जल के भण्डार समाप्त होंगे और तब तो दरवाजे खुलेंगे ही। उस समय धावा बोल दिया जाएगा। आखिरकार छह महीने बाद ऐसी स्थिति भी आ गई और अगले दिन धावा बोलने की तैयारी करली गई। मृगावती भी अगले दिन होने वाले युद्ध की तैयारी में जुटी थी। तभी उन्होंने एक संदेश सुना कि करुणासागर भगवान महावीर गुणशील चैत्य में पधारे हैं और उनकी कल मंगल देशना होगी। मृगावती और चन्द्रप्रद्योत यह सोचने लगे कि भगवान स्वयं चलकर हम तक पहुँच चुके हैं तो क्या हम एक दिन के लिए भी युद्ध टाल नहीं सकते?

अगले दिन सुबह राज्य के बन्द दरवाजे खुल गये और मृगावती अपने परिवार सहित भगवान की मंगल देशना सुनने पहुँची। इधर राजा चन्द्रप्रद्योत भी प्रभु के दर्शन करने और उनकी अमृतवाणी के श्रवण के लिये पहुँचा। भगवान ने कहा, 'इस अनित्य संसार में अनित्य शरीर के लिए युद्ध कैसा ? दोनों लोगों के बीच युद्ध होने से कितने बेकसूरों की जान जाएगी, कितनी बहिनों की राखी बिखर जाएगी, कितनी माताओं की गोद सूनी हो जाएगी और कितनी महिलाओं की मांग के सिन्दूर से होली खेली जाएगी। तुम इस नश्वर संसार में शांति और अहिंसा का महत्व समझो। अपना अमूल्य जीवन इन युद्धों से व्यर्थ न करो।

भगवान की देशना सुनकर मृगावती उसी समय उठकर बोली, 'भंते ! आपके वचनों को सुनकर मुझे इस नश्वर संसार से तीव्र वैराग्य हो गया है और अब मैं दीक्षित होकर साध्वी-जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ। इसलिए मुझ पर अनुकम्पा कर श्रमणत्व प्रदान करें।' जिन क्षणों में मृगावती ने श्रमणत्व को अंगीकार किया, उन्हीं क्षणों में राजा चन्द्रप्रद्योत उठे और बोले, 'भंते ! मृगावती के इस श्रमण-जीवन के अंगीकरण का मैं अनुमोदन करता हूँ और मैं स्वयं भी कुछ नियम और व्रत आपसे ग्रहण करना चाहता हूँ। तब महावीर द्वारा चन्द्रप्रद्योत को पाँच व्रत दिए गए। वे ही व्रत श्रमण और श्रावक जीवन के आधार-स्तंभ बने।

भगवान की सारी जीवन-दृष्टि इन्हीं पाँच व्रतों पर टिकी हैं। इन्हीं पाँच व्रतों को ही भगवान ने मुक्ति का आधार माना है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के रूप में हम इन पंच महाव्रतों से वाकिफ हैं। ये महाव्रत कल भी सार्थक थे और आज भी समीचीन हैं। जो व्यक्ति इन पाँच व्रतों का प्रतिदिन पालन करता है, वह महावीर द्वारा समर्पित पंचामृत का आचमन कर रहा है। हम महावीर द्वारा प्रतिपादित इन पाँच व्रतों पर कुछ जीवन-सापेक्ष ज्ञान-चर्चा करें।

व्रत का अर्थ होता है 'विरत होना या अलग होना'। रत का अर्थ है 'जुड़ना या मिलना' और विरत का अर्थ है 'दूर होना या अलग होना'। महावीर इन पाँच व्रतों के माध्यम से हमें पाँच साधनों से अलग या मुक्त रखना चाहते हैं। जैसे कमल की पांखुरियाँ कीचड़ से अलग रहती हैं, ऐसे ही महावीर हमें हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और व्यर्थ के संग्रह के कीचड़ से मुक्त रखना चाहते हैं।

हम लें, महावीर के प्रथम व्रत के संबंध में महावीर का सूत्र -

सर्व्वेसिमासमाणं, हृदयं गम्भो व सर्व्वसत्थाणं ।  
सर्व्वेसिं वदगुणाणं, पिंडो सारो अहिंसाहु ॥

भगवान कहते हैं, 'अहिंसा सब आश्रमों का हृदय, सब शास्त्रों का रहस्य तथा सब व्रतों और गुणों का पिण्डभूत सार है।'

भगवान ने प्रथम मार्ग को स्थापित करते हुए कहा कि अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है। चाहे ब्रह्मचर्य आश्रम हो या गृहस्थ, चाहे वानप्रस्थ आश्रम हो या संन्यास, सभी आश्रमों का हृदय, नवनीत या बैकुण्ठ-धाम अहिंसाश्रम ही है। व्यक्ति किसी भी आश्रम में रहे, पर अहिंसा उसकी हर साँस से जुड़ी हो, परछाँई की तरह।

अहिंसा महावीर की आत्मा है। विश्व की अनेकानेक समस्याओं का समाधान महावीर ने अहिंसा में तलाशा है। हिंसा समस्या है। अहिंसा समाधान है। केवल स्वार्थ को मूल्य देना हिंसा का आधार है। दूसरों के भी जीवन को मूल्य देना अहिंसा का आधार है। अपना हित स्वार्थ है। सबका हित परमार्थ है। हिंसा-अहिंसा के पीछे यही मूलभूत दृष्टिकोण है।

अहिंसा का अर्थ है हिंसा नहीं करना। व्यक्ति मन, वचन और काया द्वारा हिंसा करता है। मन द्वारा प्रतिपादित हिंसा मानसिक हिंसा, वचन से की जाने वाली हिंसा वाचिक हिंसा और शरीर द्वारा की जाने वाली हिंसा कायिक हिंसा है। तीनों ही प्रकार की हिंसा व्यक्ति की अवनति का कारण बनती है, उसकी प्रगति में बाधक बनती है। आपने किसी को चाँटा मारा तो यह हिंसा है, किसी को गाली दी तो यह भी हिंसा है और किसी के लिए बुरा सोचा तो यह भी हिंसा है। तीनों में प्रकट और अप्रकट का ही फर्क है। सावधान ! यदि आज आप किसी के बारे में बुरा सोचते हैं तो कल यही सोच बुरा करने का आधार बन जाएगा। आखिर पेड़ तो वैसा ही लहराएगा, जैसा कि बीज बोया गया है। हम अपनी सोच के द्वारा मन के खेत में बीज ही तो बोते हैं। अच्छा सोचोगे तो अच्छी फसल लहराएगी और बुरा सोचकर बुरे बीज-वपन किए तो फसल भी वैसी ही प्राप्त होगी।

जो व्यक्ति यह चाहते हैं कि उनके द्वारा भविष्य में कभी भी गलत कृत्य न हों तो वे अपनी सोच के प्रति सावधान और जागरूक रहें। यदि आज आपने किसी व्यक्ति के बारे में यह सोचा कि इसको तो मैं सबक सिखाकर ही रहूँगा और रात को यही सोचते-सोचते सो गए तो यह बात सपने में आ जाएगी, कल यह बात मुँह

पर आ जाएगी और हो सकता है कि आने वाले कल में यह कार्य आपसे सम्पादित भी हो जाए।

सोच वाणी का आधार बनता है, वाणी व्यवहार का; व्यवहार आदतों का आधार बनता है और व्यवहार चारित्र का। यानी मन की सोच चारित्र की कुंजी है। चारित्र को सुधारने के लिए सोच को सुधारना सर्वश्रेष्ठ मंत्र है।

हम मानसिक हिंसा से बचने के लिए विकृत सोच से बचें। बुरा न बोलें, बुरा न देखें, बुरा न सुनें। यह तो बाद की बात हुई। चौथा बन्दर इन सबसे पहले एक जरूरी हिदायत देता है कि बुरा न सोचें। यह चौराहे पर लगी लाल बत्ती है। इसके प्रति सजग रहें।

हम वाचिक हिंसा से बचें। यह अहिंसा को वाणी के द्वारा चरितार्थ करना हुआ। भले ही हम मन पर उतना अंकुश न रख पाएँ, पर वाणी द्वारा तो किसी की हिंसा न करें। किसी को गाली देना, आलोचना करना, निन्दा करना, व्यंग्य कसना, खिल्ली उड़ाना और किसी को दूसरे के समक्ष नीचा दिखाकर बेइज्जत करना, ये सब वाचिक हिंसा के रूप हैं।

शरीर द्वारा भी हम हिंसा करते ही हैं। वाहन चलाते समय, फैक्ट्री में काम करते समय, अन्य कार्य करते समय भी हमारी लापरवाही के चलते जीव-घात होता ही रहता है।

एक और हिंसा होती है, व्यवहारजन्य हिंसा या कर्मजन्य हिंसा। यदि इस अनावश्यक हिंसा से बचना चाहें तो बच सकते हैं। जैसे आप सुबह उठे और निवृत्ति के लिए शौचालय गए। यदि आप शौच-क्रिया के पहले थोड़ी-सी यतना कर लें, थोड़ा-सा विवेक रख लें तो आपका शौच जाना भी धर्म का आचरण हो जाएगा। आप निवृत्ति के समय यह देख लें कि वहाँ चींटी-मकोड़े या अन्य कोई जीव-जंतु तो नहीं हैं। ऐसे ही जब आप रसोईघर में जाएँ तो गैस के बर्नर को झाड़-पौछ लें। ऐसा करने से गैस के बर्नर पर रात को कोई जीव बैठा होगा तो वह सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी बिना आहत हुए निकल जाएगा।

जैसे आप मंदिर में मोरपंखी रखते हैं, ऐसे ही एक पंखी रसोई के लिए भी हो। जब भी आप गैस का उपयोग करें तो उससे पहले उस पंखी को बर्नर पर फेर लें। इससे वहाँ कोई भी जीव होगा तो वह निकल जाएगा। यदि आप बिना देखे/झाड़े बर्नर जला देती हैं तो थोड़ी-सी अयतना हिंसा का कारण बन जाएगी।

आपने यह तो सुना ही होगा कि सामायिक करना, प्रतिक्रमण करना या फिर मंदिर जाना धर्म है, पर मैं कहूँगा कि यदि आप यतनापूर्वक गैस का बर्नर जलाते हैं तो वह भी धर्म ही है। ऐसे ही हम विवेक रखें कि पानी को छानकर काम में लें। ये छोटी-छोटी विवेकपूर्ण बातें आपको अहिंसक बना सकती हैं। अगर किसी कारणवश आपको रात को खाना या पानी पीना पड़ता है तो विवेक रखें कि बिजली की रोशनी में पानी या खाद्य वस्तु को अच्छी तरह देखकर ही उसे उपयोग में लें अन्यथा कोई जीव-जन्तु भी आपके पानी या खाने के साथ आ सकता है। ये कुछ ऐसे छोटे-छोटे सूत्र हैं जिन्हें अपनाकर हम सहजतया अहिंसक जीवन जी सकते हैं तथा क्रियाजन्य हिंसा से बच सकते हैं।

भगवान की तरफ से दूसरा व्रत समर्पित किया जा रहा है 'सत्य' का। भगवान कहते हैं कि स्वयं अपने लिए या दूसरों के लिए क्रोध, भय आदि के वशीभूत होकर हिंसात्मक वचन बोलना ही असत्य वचन है। सत्य से बड़ा कोई व्रत ही नहीं होता। कोई भी शख्स यदि अपने जीवन में कोई व्रत स्वीकारना चाहे तो मैं कहूँगा कि वह सत्य को स्वीकारे। प्रारम्भ में हमें सत्य बोलने में कुछ दिक्कतें आ सकती हैं, पर अन्त में सत्य ही तुम्हारी रक्षा करेगा। जो सत्य की रक्षा करता है, गलत कृत्य हो जाने पर भी सत्य उसकी रक्षा करेगा।

व्यक्ति झूठ क्यों बोलता है ? झूठ बोलने के तीन ही कारण हैं – पहला क्रोध, दूसरा भय और तीसरा स्वार्थ। प्राचीन समय में एक धार्मिक व्यक्ति का जीवन और उसका वचन इतना प्रामाणिक होता था कि यदि वह अदालत में जाकर किसी की गवाही देता था तो न्यायाधीश भी उसे स्वीकार करते थे। उसे कोर्ट में गीता पर हाथ रखकर शपथ दिलवाने की जरूरत नहीं समझी जाती थी।

पर आज स्थितियाँ बदल गई हैं। आज एक धार्मिक कहलाने वाला व्यक्ति धर्म का बाना पहनकर कितने गलत काम करता है, कितना असत्य और अप्रामाणिक जीवन जीता है, इससे हम सभी परिचित हैं। वस्तुतः जिस व्यक्ति की दृष्टि आत्म-तत्त्व पर स्थिर हो गई है, वह सदैव सत्य का ही आचरण करेगा।

मैं आपसे दो घटनाओं का जिक्र करूँगा। पहली घटना है कलकत्ता की जो मैंने भी बुजुर्गों से सुनी है। कलकत्ता के बड़े मंदिर के अध्यक्ष का कार्यकाल पूर्ण होने को था। परम्परा के अनुसार तीन वर्ष की अवधि पूरी होने पर अध्यक्ष को मंदिर के खजाने के सामान का प्रभार नए अध्यक्ष को सौंपना था। सभी सामान

निकालकर पुरानी सूची से मिलान करके गिनती की जा रही थी, लेकिन एक वस्तु नहीं मिल रही थी। भण्डारगृह को अच्छी तरह देख लिया गया, पर वह वस्तु नहीं मिली। निवर्तमान अध्यक्ष कहने लगे कि जब मैंने अध्यक्ष-पद का भार स्वीकार किया था, तब वह वस्तु खजाने में थी पर इस अवधि में मैंने कभी तिजोरी नहीं खोली। जब भी आवश्यकता पड़ी तो इसे मंत्री और कोषाध्यक्ष ने ही खोला है। यह सुनकर मंत्री और कोषाध्यक्ष नाराज हुए कि हम पर झूठा इल्जाम लगाया जा रहा है। अन्त में जब इस परिस्थिति का कोई समाधान नहीं निकला तो अध्यक्ष महोदय सबके बीच खड़े होकर बोले कि आप सभी लोग उस वस्तु के मूल्य का आकलन करके मुझे बताएँ।

आकलन किया गया। वस्तु का मूल्य साठ हजार रुपए आँका गया। आज से चालीस वर्ष पूर्व साठ हजार का क्या मूल्य हो सकता है, आप अनुमान लगा सकते हैं। उस व्यक्ति ने तत्काल कहा, 'मेरे कार्यकाल में यह वस्तु गुम हुई है, अतः मैं इसके लिए जवाबदेह हूँ। आज मेरा सामर्थ्य इतनी बड़ी रकम चुकाने का नहीं है, पर मैं आप सभी के समक्ष अपनी यह पगड़ी उतारकर मंदिर में रखता हूँ। यह पगड़ी मैं तभी धारण करूँगा जब मंदिर जी को साठ हजार रुपए समर्पित कर दूँगा।'

बुजुर्ग कहते हैं कि वह अपने बच्चों को भी यही बात कहते थे कि यदि मैं अपने जीवनकाल में मंदिर में रुपये जमा नहीं करवा पाऊँ तो तुम अवश्य ही जमा करा देना। कहते हैं कि उस व्यक्ति के बच्चों ने पूरे साठ हजार रुपए ब्याज-सहित मंदिर में जमा कराए। यह है सत्य के प्रति निष्ठा और जीवन में प्रामाणिकता।

हम दूसरी घटना लें जो कि एक बहुत ही प्यारे साधक श्रीमद् रामचन्द्रजी के जीवन से सम्बन्धित है। वे गृहस्थ-संत थे। उनका बम्बई में जवाहरात का व्यवसाय था। एक बार उन्होंने किसी व्यक्ति के साथ पचास हजार रुपए का सौदा किया, पर योगानुयोग से उस वस्तु के दाम एक ही सप्ताह में बहुत ऊँचे चढ़ गए। जिस व्यक्ति ने सौदा किया था, वह अब उस सौदे को पूरा करने में असमर्थ हो गया। वह राजचन्द्र के पास पहुँचा और बोला कि यद्यपि सौदा पूरा करने का समय हो गया है, पर दाम इतने ऊँचे चढ़ गए हैं कि मैंने अपनी पत्नी के जेवर भी गिरवी रख दिए हैं तो भी मैं सौदा पूरा नहीं कर सकता। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरी असमर्थता को समझते हुए मुझे कुछ समय दें।

राजचन्द्र ने गहराई से उस व्यक्ति के चेहरे को पढ़ा और उन्होंने अपने मुनीम को आदेश दिया कि वह कागज निकाला जाए जो कि सौदे का प्रमाण है। कागज निकाला गया और राजचन्द्र को सौंपा गया। राजचन्द्र ने सहजता से उस कागज को फाड़ते हुए कहा कि यही सौदा तुम्हारे तनाव, चिंता और परेशानी का कारण बन रहा है। इसी के कारण तुम्हें अपनी पत्नी के जेवर गिरवी रखने पड़े। मैं इस सौदे को ही समाप्त कर देता हूँ। मैं किसी की कमाई से दूध पी सकता है, पर खून नहीं।

कहा जाता है कि लाख रुपये मुनाफे के वे कागज श्रीमद् द्वारा पल भर में फाड़ दिए गये। हाँ, यही है अहिंसा, यही है सत्य और प्रामाणिकता कि जहाँ व्यक्ति अपने हित के साथ-साथ दूसरों के हितों की भी रक्षा करता है। ऐसे ही व्यक्ति सच्चे श्रावक और सच्चे श्रमण होते हैं।

भगवान तीसरे व्रत के सम्बन्ध में कहते हैं कि ग्राम, नगर या अरण्य में जो दूसरे की वस्तु को देखकर उसे ग्रहण करने के भाव को त्याग देता है, उसका अचौर्य व्रत होता है। भगवान ने केवल चोरी नहीं करने को ही अचौर्य नहीं कहा, बल्कि दूसरे की वस्तु को देखकर उसे मन में भी ग्रहण न करने के भाव को अचौर्य-व्रत की संज्ञा दी। भगवान कहते हैं कि व्यक्ति किसी दूसरे की वस्तु पर बुरी नजर न डाले, चाहे वह अन्य की स्त्री हो, अन्य की सम्पत्ति हो या फिर जमीन-जायदाद। दूसरे की वस्तु को ग्रहण करने के भाव को भी भगवान ने चोरी कहा है।

आज दोनों समय प्रतिक्रमण करने वाला व्यक्ति भी कर-चोरी तो करता ही है। व्यक्ति धन-सम्पत्ति के पीछे इस कदर पागल हो गया है कि वह येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक धन कमाने को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझता है। आज रिश्वत, बेईमानी, चोरी और कालाबाजारी देश को दीमक की तरह खोखला कर रहे हैं। अभी मेरे पास राजस्थान सरकार के मुख्य सचिव बैठे थे। जब चर्चाएँ चल निकलीं तो उन्होंने भी यह स्वीकार किया कि ऊपर से नीचे तक खाने-खिलाने की ऐसी परम्पराएँ बन गई हैं कि कोई भी काम बिना खिलाए-पिलाए होता ही नहीं है। अरे ! खाने के लिए तो रोटी ही चाहिए न, हीरा तो खाओगे नहीं फिर यह व्यर्थ की चोरी, रिश्वतखोरी और कालाबाजारी क्यों?

आज परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गई हैं। सभी राजनेता एक जैसे ही हैं। गाँधी, सरदार वल्लभ भाई और लालबहादुर शास्त्री का युग चला गया, जहाँ संसद

में भी राजनेता पैदल या साइकिल पर जाते थे। उनकी कमीजों या कुर्तों में भी ऐसे ही पैबंद लगे रहते थे जैसे कि हम संत लोग अपनी चदरिया के फटने पर लगा लेते हैं। आज तो हर राजनेता का विदेश में अकाउंट मिलेगा। विश्व में आज जो मंदी है, उसका कारण भी यही चोरी, कालाबाजारी और रिश्वतखोरी ही है।

आपको याद होगा कि स्वर्गीय प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही थी कि केन्द्रीय सरकार किसी कार्य के लिए एक रुपया भेजती है तो उस कार्य तक सिर्फ पन्द्रह पैसा ही पहुँचता है। बाकी के पिच्चासी पैसे रास्ते में ही गायब हो जाते हैं। यह बात कोई साधारण व्यक्ति कहता तो कोई आश्चर्य नहीं होता, पर एक जिम्मेदार प्रधानमंत्री ने यह बात कही। इस बात से आप अंदाजा लगा सकते हैं कि देश में भ्रष्टाचार किस कदर हावी हो गया है।

हमारे ये राजनेता तो इस बात की प्रतीक्षा में रहते हैं कि देश में कोई अकाल, दुर्घटना, भूकंप या ऐसी ही कोई बहुत बड़ी विभीषिका आए ताकि उनके वारे-न्यारे हो सकें। ऐसी दुर्घटनाओं पर मानवकल्याण संस्थाओं द्वारा, विदेशों द्वारा बड़ी रकमों प्रेषित की जाती हैं पर जरूरतमंदों के पास कितनी मदद पहुँच पाती है, यह तो शायद वही जानता है। अब इन नेता लोगों द्वारा एक-दो लाख का नहीं बल्कि करोड़ों का घोटाला होता है। जब आज से पन्द्रह साल पहले आम आदमी तक पन्द्रह फीसदी पैसा ही पहुँचता था तो आज कितना पहुँचता होगा? इस हालत में सुधार की फिर गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है?

जब समय के हिसाब से आदमी की संख्या बढ़ी है तो देश की अर्थ-व्यवस्था के इन दीमकों की तादाद भी तो बढ़ी होगी। इसीलिए भगवान अपनी ओर से अचौर्य व्रत का निवेदन कर रहे हैं ताकि देश की अर्थव्यवस्था सुचारु रूप से चल सके।

इस देश को आर्य देश कहा जाता है। आर्य देश अर्थात् जहाँ के लोगों का आचरण आर्य (श्रेष्ठ) हो, पर आर्यत्व है कहाँ? यहाँ तो कोई भी कार्य बिना पेपरवेट रखे होता ही नहीं है। एक बार किसी ट्रस्ट को कुछ काम करवाना था। उस ट्रस्ट से जुड़े हुए एक सज्जन मेरे पास आए और उन्होंने मुझे बताया कि वे मानवकल्याण के कार्यों में जुटे हैं। ट्रस्ट का रजिस्ट्रेशन हो जाए और ८० जी की छूट सरकार की तरफ से तुरन्त मिल सके, इसके लिए वे मेरी सहायता चाहते हैं। चूंकि कार्य मानव-सेवा से जुड़ा था, इसलिए मैंने आयकर आयुक्त को ट्रस्ट को

पंजीकृत कराने और ८० जी की छूट दिलाने के लिए कह दिया। आयुक्त ने सब काम करवाकर कागज साइन करके बाबू को भेज दिए। पर एक दो तो क्या दस-बीस दिन बीत गए, फिर भी पंजीकरण और छूट की अनुमति की फाइल ट्रस्ट के पास नहीं पहुँची। हमने आयुक्त को फिर यह बात कही। वह बोला, 'मैंने तो उसी दिन सारा कार्य करके फाइल बाबू को भेज दी थी। आप बाबू के पास से फाइल मंगवा लें।' वे लोग बाबू के पास गए और बोले कि आयुक्त महोदय ने वह फाइल मंगवाई है।

उसने कहा, 'हाँ, वह फाइल मेरे पास आई जरूर थी, पर मिल नहीं रही है। जब मिलेगी तब भिजवा दूँगा।' इस तरह से दस दिन और बीत गए, पर फाइल का कोई अता-पता ही नहीं लगा। अन्त में आयुक्त को ही यह कहना पड़ा कि आप उस बाबू को सौ दो सौ रुपये खिलाइए, तभी वह आपकी फाइल देगा। जब ट्रस्ट के सदस्यों ने उस बाबू के सामने उसके एक महीने के चाय पानी के खर्च का बिल केन्टीन को चुका दिया तो थोड़ी ही देर में फाइल भी सामने आ गई।

आज हर काम करवाने के लिए पेपरवेट रखना ही पड़ता है। पेपर वेट भी दो तरह के हैं, एक तो वह जो इसलिए रखा जाता है कि पेपर उड़े ही नहीं और दूसरा वह जो इसलिए रखा जाता है ताकि पेपर हिल सके और फाइल आगे खिसक सके। दूसरे वाले पेपर वेट का उपयोग तब किया जाता है जब पेपर उड़ता नहीं है या उठता नहीं है। तब पेपर वेट तो बाबू के पास रह जाता है और कागज हमारे हाथ में आ जाते हैं। बेईमानी करने वाला ही नहीं, उसका साथ देने वाला भी बेईमान होता है।

व्यक्ति अपनी कमाई पर विश्वास रखे, दूसरों की सम्पत्ति पर अपना स्वामित्व न जमाए। यदि व्यक्ति शुद्ध श्रावकत्व या श्रमणत्व का जीवन जीना चाहता है तो वह चोरी से स्वयं को बिलकुल अलग रखे।

भगवान चौथे व्रत 'अपरिग्रह' के सम्बन्ध में अपनी ओर से कहते हैं कि व्यक्ति अनावश्यक परिग्रह न करे। महावीर ने वस्तु के परिग्रह को ही परिग्रह नहीं कहा है, बल्कि उन्होंने वस्तु के प्रति ममत्व को, मेरेपन के भाव को भी परिग्रह कहा है। परिग्रह का अर्थ है ग्रहण करना या पकड़ लेना। ऐसा नहीं है कि परिग्रह का अर्थ लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति जमा कर लेना ही है, जबकि एक छोटा-सा रूमाल भी परिग्रह हो सकता है।

यदि परिग्रह का सम्बन्ध वस्तु की मात्रा से ही होता तो फिर राजा जनक और चक्रवर्ती भरत के पास तो अकूत खजाना था। फिर भी उन्हें विदेह और अपरिग्रही कहा गया। श्रीकृष्ण के तो बत्तीस हजार रानियाँ थीं, फिर भी उन्हें अनासक्त योगी कहा गया। परिग्रह का सम्बन्ध तो व्यक्ति का वस्तु के प्रति ममत्व या मूर्च्छा-भाव से है। जहाँ-जहाँ पर भी व्यक्ति ने 'मेरे' का आरोपण कर दिया है वह सब परिग्रह है। और तो और, भगवान ने तो देह को भी परिग्रह कहकर देहातीत-भाव रखने को कहा है।

दो साड़ियाँ भी परिग्रह हो सकती हैं और संभव है सौ महल भी परिग्रह न हों। मुख्य बात है व्यक्ति का वस्तु के साथ रागात्मक सम्बन्ध। एक भिखारी भिखारी की तरह से परिग्रह करता है और एक करोड़पति करोड़पति की तरह से। एक भिखारी भी सड़क के जिस कोने में बैठेगा, वहाँ वह दूसरे को कभी नहीं बैठना देगा। वह कहेगा कि यह जगह तो मेरी है।

कहते हैं : एक बार एक भिखारी जिस जगह पर बैठता था, वहाँ न बैठकर किसी नई जगह पर बैठा था। एक आदमी जो रोज उसको उस जगह पर बैठा देखता था, उसने भिखारी से पूछा, 'तू आज यहाँ कैसे बैठा है? क्या उस पुरानी जगह से तुझे किसी ने धक्का देकर हटा दिया है? वह मौहल्ला तो धनीमानी लोगों का है और वहाँ के लोग तो तुझे भीख भी बहुत देते थे।' भिखारी बोला, 'नहीं साहब, वहाँ से मुझे किसी ने धक्का देकर नहीं निकाला है। दरअसल कल मैंने अपनी लड़की की शादी कर दी है इसलिए वह जगह दहेज में मैंने अपने जमाई को दे दी है। अब उस जगह पर मेरा जमाई बैठकर भीख मांगेगा।'

यह है मूर्च्छा, जहाँ भीख माँगने की जगह पर भी व्यक्ति अपना अधिकार समझता है। भला, जब 'सबै भूमि गोपाल की' है, फिर व्यर्थ की मूर्च्छा क्यों?

विचार करें कि हमारे साथ क्या जाने वाला है ? जब एक सूर्य या तिनका भी हमारे साथ नहीं जा सकता तो यह व्यर्थ की माथापच्ची और आसक्ति कैसी ?

इन व्यर्थ के संग्रहों से क्या होगा ? आपके दादा ने जोड़ा, वे खाली हाथ चले गये। पिताजी ने जोड़ा, वे भी खाली हाथ गये और आप भी खाली हाथ ही जाएंगे। कभी आपने पूणिया के बारे में मनन किया कि उसकी गिनती भगवान की पर्षदा के मुख्य श्रावकों में क्यों होती है? पूणिया नगर सेठ था। एक नगर सेठ के पास कितनी सम्पत्ति होती है, इसका अनुमान आप लगा सकते हैं। पर उसने ऐसा

अपरिग्रह व्रत लिया कि वह मात्र एक आने में पूरा एक दिन गुजारा करता था। आज आवश्यकता है ऐसे महान् व्यक्तियों के जीवन के बारे में चिंतन-मनन की। केवल बखानबाजी करना तो लीक को पीटना ही है।

पूणिया की ही तरह बुद्ध के प्रमुख श्रावकों में एक था अनाथपिण्डिक। अनाथपिण्डिक भी नगर सेठ था। उसने बुद्ध के लिए इतने चैत्य-विहार बनाए कि बुद्ध जिस जगह पर भी पहुँचते, उनके पहुँचने से पहले ही उनके लिए चैत्य-विहार यानी ठहरने की जगह बनी मिलती। जब अनाथपिण्डिक मृत्यु के निकट पहुँचा तो वह बुद्ध के चरणों में उपस्थित हुआ और बोला, 'भंते! कुछ समय पश्चात् मेरा शरीर छूट जाएगा। मेरे पास जितना भी धन था, वह मैंने इस धर्मसंघ को समर्पित कर दिया। मेरे मन में यह गिला है कि मेरे पास और अधिक धन नहीं है अन्यथा मैं इस धर्मसंघ की कुछ और सेवा कर सकता और आपके लिए कुछ और चैत्य-विहार बना सकता।' तब बुद्ध ने कहा, 'अनाथपिण्डिक तुम्हें कोई गिला नहीं होना चाहिए। तुमने धर्म-संघ के लिए जो कुछ किया है, वह स्तुत्य है। तुम अपनी उच्च भावदशा के कारण इतिहास में अमर हो गए हो। यह धर्म-संघ तुम्हारा सदा-सदा के लिए ऋणी रहेगा। तुम्हारे त्याग ने तुम्हें अमृत बनाया है।' वाराणसी के आस-पास बने स्तूप, चैत्य-विहार और स्तम्भ आज भी अनाथपिण्डिक की यशोगाथा गा रहे हैं।

एक कहावत है – 'पूत कपूत तो क्यों धन संचै, पूत सपूत तो क्यों धन संचै।' पूत यदि कपूत है तो तुम कितना भी धन संचय कर लो वह सब उड़ा देगा और यदि पूत सपूत है तो चाहे तुम कंगाल भी हो, वह महल खड़ा कर देगा।

घर या दूकान के बाहर केवल शुभ-लाभ ही नहीं लिखें, वरन् शुभ-खर्च भी लिखें जिससे आप जब भी उसे देखें तो आप की चेतना लौट आए कि मुझे शुभ खर्च भी करना है। कमाने के लिए कलेजा चाहिए तो खर्च करने के लिए उससे बड़ा कलेजा चाहिए। बोली और चढ़ावे बोलते समय कुछ नहीं लगता, पर जब पैसा चुकाना होता है, तब पता लगता है।

आज महावीर द्वारा प्रदत्त संदेश 'जियो और जीने दो' में एक संशोधन की आवश्यकता है। 'जियो और जीने दो' से ही काम नहीं चलेगा बल्कि आवश्यकता है कि समाज का प्रत्येक सदस्य अन्य सदस्य के जीने में सहायक बने। अब हर व्यक्ति को 'Live & Let Live' की जगह 'Live & Help For living' स्वीकार

करना ही होगा। आपने किसी को थप्पड़ नहीं मारा, पर आपने किसी को सहलाया भी तो नहीं। आपने किसी को डाँट नहीं पिलाई, पर किसी से प्रेम भी तो नहीं किया। अपरिग्रही वह है जो अपनी सम्पत्ति का उपयोग दूसरों के कल्याण और सहायता के लिए करता है।

आप शाम को बैठकर अपनी रोकड़ का हिसाब लगाते हैं कि कितना लाभ या कितनी हानि हुई। ऐसे ही हर शाम व्यक्ति यह भी देखे कि आज उसने कितना धन दूसरों के कल्याण और सहयोग में खर्च किया। पर्यूषण के आठ दिनों में आप नगरवासी अपने व्यवसाय बंद रखते हैं और अपने लेखे मिलते और देखते हैं। ये आठ दिन मिले तो थे कि व्यक्ति इनमें अपने कर्म के लेखे देखे। वह यह देखे कि उसने अब तक कितने शुभ कार्य किये, कितने शुभ खर्च किए, पर व्यक्ति आराधना के इन दिनों में भी धन, धन और बस धन के पीछे पागल बना रहता है।

मैं यह नहीं कहता कि आप आय पर ध्यान न दें। आखिर आप वणिक हैं। बुद्धि तो भगवान ने पहले से ही आपको बहुत दी है। कमाएँ, पर कमाने के साथ-साथ उस धन के सद्व्यय पर भी ध्यान दें। यह समाज उन्हीं को याद करता है, उन्हीं का अभिनन्दन करता है जो समाज के हित में अपने धन का सदुपयोग करते हैं। गरीबों के लिए अस्पताल बनवाएँ, कुएँ-बावड़ियाँ, मंदिर और विद्यालय बनवाएँ। अगर ऐसा नहीं किया तो ये मोटी-मोटी सोने की जो सांकले आपने गले में डाल रखी हैं, वे किसी दिन गले का फंदा बन जाएँगी। कुछ साथ नहीं जाएगा। अगर सोना जड़ा हुआ एक दाँत भी है तो बेटा चिता जलाने से पहले उसे हथौड़े से तोड़कर निकाल लेगा ताकि दो ग्राम सोना भी व्यर्थ क्यों जाए? अगर तुम्हारे पास तीन मकान हैं तो कम-से-कम एक मकान तो सद्कार्यों के लिए समर्पित कर दो।

ये सामने हंस की तरह उज्ज्वल जो साध्वियाँ बैठी हैं, क्या इनके हाथ नहीं हैं जिनमें ये चूड़ियाँ पहनें? क्या अंगुलियाँ नहीं हैं जिनमें अंगूठी पहनें और क्या गला नहीं है जिसमें सुन्दर हार पहनें? इन्होंने इन सब वस्तुओं का समाज के लिए त्याग कर दिया है। हाँ, जो औरों के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग कर देता है, वह वन्दनीय और पूजनीय हो जाता है। तुमने सोने के ये मोटे-मोटे कड़े, चैन और बाली पहन रखी हैं। इन्हें देखकर तो तुम ही खुश होते होगे पर यदि इनका सदुपयोग किया जाए तो ये अन्य कई लोगों के चेहरों पर खुशियाँ ला सकते हैं। क्या फर्क पड़ेगा यदि तुम अपनी सौ साड़ियों में से दस साड़ियाँ निकाल कर, पड़ोस में किसी

गरीब लड़की की शादी में दे आओ। यह मत सोचो कि सामने वाला माँगे, तब मदद करूँगा। तुम अपनी तरफ से पहल करके उसे ये साड़ियाँ आशीर्वाद-स्वरूप उपहार में दे दो। तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ा और गरीब को सहारा मिल गया। इसलिए अपनी तरफ से रोजाना कुछ-न-कुछ सत्कार्य में खर्च करें। आपकी पुण्यवानी थी जो आपने कमाया। अब अपनी तरफ से समाज को भी कुछ समर्पित करें। इससे आपको कई फायदे होंगे। पहला, आपको आत्म-संतोष मिलेगा, दूसरा, आप व्यर्थ के परिग्रह और संचय से बचेंगे और तीसरा आपकी पुण्यवानी और बढ़ेगी।

भगवान पाँचवें और अंतिम व्रत के सम्बन्ध में कहते हैं, 'वृद्धा, बालिका और युवती स्त्री के इन तीन प्रतिरूपों को देखकर उन्हें माता, पुत्री और बहिन के समान मानना चाहिए तथा स्त्रीकथा से निवृत्त होना चाहिए।' भगवान प्रत्येक व्यक्ति को निर्मल दृष्टि का स्वामी बनाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि हर स्त्री किसी की माता, किसी की बहिन या किसी की पुत्री होती है। जब हमें यह अच्छा नहीं लगता कि कोई हमारी माँ, बहिन या बेटा को बुरी नजर से देखे तो औरों को भी तो तब बुरा लगता होगा जब हमारी कुदृष्टि किसी स्त्री पर पड़ती है।

पुरुष अधिक बेईमान होते हैं। शीलवान तो नारी ही होती है। एक पुरुष साठ वर्ष की उम्र में भी दूसरा ब्याह कर लेगा, पर किसी स्त्री का पति छः महीने बाद ही मर जाए तो भी वह बिना दूसरी शादी किये अपना गुजारा कर लेगी। स्त्री जैसे-तैसे अपने मन के भावों को नियन्त्रित कर लेगी। स्वयं मेरे पास पुरुष का शरीर है, पर इसके बावजूद मैं कहूँगा कि नारी के पास पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक सतीत्व होता है। नारी जल्दी से किसी पर बुरी नजर नहीं डालेगी, किन्तु पुरुष ऐसा संयम नहीं रख पाएँगे। जरा ईमानदारी से अपने आपको देखें। हालांकि शास्त्रों में कहा गया है कि नारी नरक की खान होती है, पर मैं कभी इस बदसलूकी भरे वाक्य को नहीं कहूँगा।

यदि पुरुष नरक में जाता है तो उसका कारण वह स्वयं है। किसी मेनका में वह ताकत नहीं कि वह किसी विश्वामित्र को विचलित कर सके। यदि कोई विश्वामित्र गिरता है तो वह अपनी ही कमजोरी से, अपने मन में रहने वाले बुरे भावों और आसक्ति से। तभी तो किसी भी धर्म के शास्त्र में यह बात नहीं कही गई कि नारी पुरुष पर बुरी नजर न डाले क्योंकि शास्त्र रचने वाले इस बात को भली-

भाँति जानते थे। तभी तो सातवीं नरक भी स्त्री के लिए नहीं बताई गई है। पुरुष तो अपने कृत्यों से सातवीं नरक से भी आगे बढ़ जाते हैं। नारी नजर नीचे करके चलती है या फिर अपनी नजरें झुका लेती हैं, लेकिन पुरुष अपनी निगाहें ऐसी ऊँची करके चलेंगे जैसे सारा संसार ही उनकी मिलकियत है। स्त्रियों की जगह पुरुष के लिए घूँघट की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि कोई पुरुष स्थूलिभद्र की तरह दृढ़ हो जाए तो उसे एक कोशा गणिका तो क्या, हजार गणिकाएँ भी उसे उसके पथ से विचलित नहीं कर सकतीं। हम नागिला श्राविका की एक छोटी-सी, बड़ी प्यारी कहानी लें।

कहते हैं भवदेव और भवदत्त दो भाई थे। बड़े भाई भवदत्त ने वैराग्यवासित होकर चारित्र-जीवन स्वीकार किया। एक बार भवदत्त भ्रमण करते हुए अपने भाई के घर भिक्षा के लिए पहुँचा। आहार देने के पश्चात् भवदेव उन्हें पहुँचाने के लिए उनके साथ चल पड़ा। उस समय की यह व्यवस्था थी कि गुरु महाराज को कुछ आगे तक पहुँचाने के लिए लोग जाते थे और गुरु के पास यदि कोई पात्र या झोली होती तो उसके साथ चलने वाला व्यक्ति उसे थाम लेता था। भवदेव ने सोचा कि थोड़ी देर चलने के बाद उनके अग्रज उन्हें घर जाने की अनुमति दे देंगे, पर भवदत्त ने कुछ नहीं कहा।

चलते-चलते दोनों उस स्थान पर पहुँच गए जहाँ भवदत्त के गुरु और अन्य साधुजन विश्राम के लिए ठहरे हुए थे। भवदेव को भी जब उन्होंने भवदत्त के साथ देखा तो सभी साधु खुश हुए। गुरु ने कहा, 'भवदत्त ! तुम धन्य हो जो तुमने अपने भाई को भी प्रेरणा देकर वैराग्यवासित कर दिया। अब यह भी चारित्र-जीवन स्वीकार कर अपनी आत्मा का निस्तार करेगा।' भवदेव अभी भी हाथ में भवदत्त द्वारा दी गई झोली लिए खड़ा था। पहले के लोग बड़ों के सामने बोलते नहीं थे। भवदेव पशोपेश की स्थिति में पड़ गया कि एक तरफ उसकी विवाहिता नागिला है जिसने उसे जाते समय कहा था, स्वामी ! मैंने अभी स्नान किया है। मेरे बाल सूखें, उससे पहले आप आ जाना और दूसरी तरफ बड़े भाई की इज्जत !

वह कुछ बोल न सका। गुरु महाराज ने उसी समय शुभ मूर्त देख भवदेव को दीक्षित कर दिया। वह बाहर से तो दीक्षित हो गया, पर उसका मन तो अभी भी नागिला में ही अटका था। वह सोते-बैठते, खाते-पीते और यहाँ तक कि प्रतिक्रमण के पाठ बोलते समय भी नागिला की याद में खोया रहता। आखिर यह तो व्यक्ति

का मन ही है जहाँ किसी की रोक-टोक नहीं होती। बाहर तो धूँघट निकाला जा सकता है, पर मन पर तो कोई परदा नहीं डाल सकते। यह तो व्यक्ति की 'प्राइवेट प्रोपर्टी' है, जिसे वह जहाँ चाहे, उसे ले जा सकता है।

वह लगातार बारह वर्ष तक इसी तरह नागिला की याद में खोया-खोया चारित्र का बाहरी पालन करता रहा। बारह वर्ष बाद जब भवदत्त का स्वर्गवास हो गया तो भवदेव ने विचार किया कि जिस भाई की लाज की खातिर मैंने साधुवेश स्वीकार किया, वह भाई ही अब नहीं रहा तो मुझे अब अपनी प्राणप्रिय पत्नी नागिला के पास चल देना चाहिए।

भवदेव अपने ग्राम की तरफ रवाना हो गया। वह रास्ते में सोचता चल रहा था कि क्या नागिला अब भी वैसी ही सुन्दर और कमनीय होगी? क्या अब भी उसके चेहरे पर वैसी ही गुलाबी आभा होगी? क्या अब भी उसकी हँसी ऐसी लगती होगी मानो चमेली के फूल खिले हों? यह सोचते-सोचते भवदेव गाँव में पहुँच गया। वह सोच ही रहा था कि नागिला का पता किससे पूछूँ, उसे सामने पनघट पर दो स्त्रियाँ पानी भरती नजर आई।

वह उनके समीप पहुँचा और एक स्त्री से पूछा, 'क्या तुम नागिला का पता जानती हो?' वह स्त्री बोली, 'तो स्वामी आप आ ही गए। जिस नागिला के लिए आप इतनी दूर चल कर आए हैं, वह नागिला मैं ही हूँ।' भवदेव नागिला का यह साधारण रूप रंग देखकर चकित हो गया। नागिला बोली, 'स्वामी, ये बारह वर्ष मैंने निरन्तर आपके चिन्तन में बिताए हैं। मैं एक क्षण के लिए भी आपको भूल न सकी। हर पल आपका स्मरण बना रहता था।' भवदेव ने कहा, 'मैं भी तुम्हें एक क्षण के लिए भी न भुला पाया। आओ, अब हम अपने स्थान पर चलें जहाँ हम सुखपूर्वक रह सकें।' भवदेव का यह वाक्य सुनते ही नागिला चौंकी और दो कदम पीछे हट गई। उसे अहसास हुआ कि संतप्रवर के मन में कुछ और बात है।

वह दृढ़तापूर्वक बोली, 'संतप्रवर ! इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ आप और मैं एक साथ रह सकें। मैं नहीं चाहती कि मेरे हृदय में आपका जो स्थान है, वह खत्म हो जाए। मैंने इन बारह वर्षों में आपके अतिरिक्त किसी का स्मरण नहीं किया है। मेरा स्मरण, प्रेम, श्रद्धा, पूजा और अर्चना सब आपके इस चारित्र-जीवन के प्रति समर्पित रहे। मैं आपको अब्रती, व्रतरहित या व्रत से गिरा हुआ कभी नहीं देख सकती। पत्नी तो वही होती है जो पति को पतन से बचाए।'।

तब कहते हैं कि भवदेव पत्नी के ये वचन सुनकर वास्तविक संत बन गये। वे कहने लगे, 'नागिला, तुम धन्य हो। आज से तुम मेरी गुरु हो क्योंकि तुमने मुझ गिरते हुए को उठाया है।' तब भवदेव जिस पगडंडी से आए थे, उसी पगडंडी की तरफ फिर मुड़ गये। जो पगडण्डी उनके पतन का कारण बनकर उन्हें नीचे धकेल रही थी, वही पगडंडी उनके उत्थान और कल्याण का आधार बन गई।

नारी, तुम महान् हो जो गिरते हुए पुरुषों को ऊँचा उठाती हो। इस तरह नागिला के कारण भवदेव का वास्तविक ब्रह्मचर्य सधता है। सुधरना है पुरुषों को। हाँ, यदि महिलाओं में भी कुछ अंश तक खोट है तो वे भी सुधरें। सारा संसार सुधरे, हर व्यक्ति ब्रह्मरस में निमग्न हो, निर्मल दृष्टि, निर्मल जीवन और निर्मल चेतना का स्वामी बने। जैसे भगवान ने कभी चण्डप्रद्योत को पाँच व्रत प्रदान कर श्रावक जीवन दिया था और रानी मृगावती को श्रमणत्व का मार्ग प्रदान किया था, वैसा ही पुण्योदय हमारे जीवन में भी आए और ऐसा सूर्योदय हमारे जीवन में भी एक बार हो।





## विवेक : अहिंसा को जीने का गुरु

मेरे प्रिय आत्मन् !

आज हम कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सूत्रों की गहराई में उतरेंगे जो हमारे जीवन में अहिंसा को साकार और मूर्त करने में सहायक बनेंगे। अहिंसा विश्वधर्म की धुरी है। यह अध्यात्म का अनुष्ठान और मानवता की माँ हैं। एक अहिंसा से जुड़ना धर्म के समस्त पहलुओं से जुड़ जाना है। एक अहिंसा की इबादत समग्र इन्सानियत की इबादत है। अहिंसा की पराकाष्ठा को छूना धर्म और अध्यात्म की ऊँचाई को छूना है।

अहिंसा मानवता की मुंडेर पर मोहब्बत का जलता हुआ चिराग है। अब तक न जाने कितनी सदियों ने अहिंसा को जीने और उसे अधिक परिष्कृत करने की कोशिश की है। अहिंसा न तो वर्तमान की देन है और न ही किसी व्यक्ति विशेष की विरासत है। हजारों हजार वर्ष बीते हैं अहिंसा के वर्तमान रूप को विकसित होने में। अहिंसा ने अनगिनत उतार-चढ़ाव देखे हैं। अहिंसा की शुरुआत में भले ही हिंसा और युद्ध की भूमिका रही हो, पर अहिंसा का उपसंहार सदैव शांति और अयुद्ध की घोषणा से ही हुआ है। लोगों में लड़-मर कर भी अन्ततः यही जाना है कि शांति की स्थापना युद्ध और आतंक से नहीं बल्कि प्रेम, मैत्री और पारस्परिक सौहार्द से ही संभव है। हम तो उस संस्कृति के संवाहक और दूत हैं जिसने यह सिखाया है कि यदि किसी शरणागत कबूतर की रक्षा के लिए तुम्हें अपने शरीर का

मांस भी देना पड़े तो ऐसे क्षणों में तुम अपनी संस्कृति का पालन कर लेना। हमने वह युग भी देखा है जहाँ कोई राजकुमार शादी के लिए जाता है और बारातियों के स्वागत और सत्कार के लिए पशुओं को बाँध रखा होता है जिनका ताजा मांस अतिथियों को परोसा जाना था। उन पशुओं की करुण चीत्कार सुनकर वह राजकुमार अपना रथ मोड़ लेता है और संसार का मार्ग छोड़कर संयम का मार्ग अंगीकार कर लेता है।

हमने वह युग भी देखा है जहाँ पानी की एक बूंद को व्यर्थ करना अस्तित्व के साथ खिलवाड़ करना माना जाता था। हमने वह युग भी देखा है जहाँ एक पेड़ को उगाना एक नए जीवन को मूर्त रूप देना है और पेड़ की एक पत्ती को तोड़ना एक सम्पूर्ण जीवन का अपहरण है। हमने वह युग भी देखा है जहाँ आदमी ही आदमी के खून का प्यासा है। हमने वह युग भी देखा है जहाँ आदमी आदमी से प्यार करता है।

राजा शिवि ने शरणागत कबूतर की रक्षा के लिए बाज के आगे अपने आपको ही समर्पित कर दिया था। नेमि ने जीव-दया से प्रेरित होकर विवाह का त्याग कर दिया। कृष्ण तो गौ-प्रेम के चलते प्रेम के अवतार माने जाते हैं। जीसस क्रॉस पर लटक कर भी गुनहगारों को माफ करने की उदारता दिखाते हैं। अहिंसा ने जहाँ ये सारे दृश्य देखे हैं, वहीं नारी के शील की रक्षा के लिए राम-रावण के बीच भयंकर संग्राम भी देखे हैं।

अधिकारों की रक्षा के लिए कौरव-पांडवों के बीच हमने महाभारत भी झेला है। पिछले पच्चीस सौ सालों में पांच हजार से भी अधिक युद्ध हुए हैं। मानवता आज भी हिंसा और उग्रवाद से घिरी हुई है। विश्व की महानतम शक्तियों को भी अब इस बात का अहसास होने लग गया है कि विश्व के अस्तित्व की रक्षा हिंसा से नहीं बल्कि अहिंसा से ही होगी। आज नहीं तो कल हर किसी को अहिंसा माता की शरण में आना होगा। अहिंसा को अक्षुण्ण रखने के लिए सबको अपनी पवित्र आहुतियाँ देनी होंगी।

अहिंसा अपने आप में सदियों-सदियों का विकास है। खिला हुआ फूल आज हमारे हाथों में है। वह सृष्टि के महापुरुषों द्वारा अनवरत किए गए चिंतन, मनन और परिष्कार का ही परिणाम है। आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, उन क्षणों में भी व्यक्ति विवेक कर रहा है। यह देश जो सारे विश्व के लिए महाशक्ति के

रूप में है, यहाँ आतंकवादियों द्वारा क्रूर हमले किए जाने पर भी देश का धैर्य धन्यवाद का पात्र है। यदि वह चाहता तो यहाँ बैठे-बैठे मिसाइल और रॉकेट दाग कर दुश्मन के देश का सफाया कर सकता था, पर उसने अपना धैर्य बनाए रखा।

यह वह देश है जो नहीं चाहता कि किसी एक या कुछ उपद्रवी लोगों के कसूर की सजा, हजारों बेकसूर व्यक्तियों को भुगताए और उन्हें भी मुसीबत में डाले। यहाँ इस बात के भरसक प्रयास किए जाते हैं कि अशान्ति के चौराहों से भी शान्ति की कोई गली खोज ली जाए। कोशिश की जाती है कि युद्ध की विभीषिका को टाला जा सके तो श्रेयस्कर है। भगवान महावीर न केवल वर्ग विशेष या देश-विशेष में वरन् सम्पूर्ण विश्व में अहिंसा की उसी प्रकार प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, जैसे कि आज हम भगवानों की प्रतिमाओं की किन्हीं मन्दिरों में प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। भगवान के अनुयायियों ने जितना पुरुषार्थ, उनके जगह-जगह मन्दिर बनाने में किया है, उसका आधा पुरुषार्थ भी यदि वह भगवान महावीर के संदेशों के प्रचार-प्रसार करने में और सारे विश्व में उनके अहिंसा-केन्द्रों को बनाने में करते तो आज विश्व का कुछ और ही रूप नजर आता और सारा विश्व शांति और अहिंसा के लिए इस धर्म का ऋणी रहता।

भगवान अहिंसा के जिन सूत्रों की चर्चा करना चाहते हैं, उसका कारण यह है कि व्यक्ति अहिंसा को बारीकी से जी सके और उसके व्यावहारिक रूप को आत्मसात कर सके। अहिंसा धर्म का जो स्वरूप आज बचा है, वह इतना क्लिष्ट है कि अहिंसा, स्वयं ही अपने सिद्धान्त के दायरों में घिर गयी है। अहिंसा जो प्राणिमात्र के लिए वरदान साबित होनी चाहिए थी, वह न हो पाई।

भगवान ने अहिंसा के साथ अनेकान्त का आयाम भी जोड़ा और उस अहिंसा पर अचौर्य एवं अपरिग्रह का अवलेह भी लगाया। पर हमने अनेकान्त को तो दरकिनार कर दिया, अचौर्य एवं अपरिग्रह को किसी तल-भवैर में उतार दिया। एक अकेली बच गई अहिंसा। लेकिन अकेली उस माँ भगवती अहिंसा को भी अपना लिया जाए तो ऐसा कर के धर्म को आचरित और आत्मसात् किया जा सकता है।

अहिंसा को व्यावहारिक तरीके से जीने के लिए महावीर ने एक बहुत ही छोटा-सा शब्द दिया। वह शब्द है – जयणा या यतना। यतना अर्थात् विवेक। जैन वह नहीं जो जैन कुल में जन्म ले, जैन वह है जो जयणा से जिए। जिसने

जयणा की ऊँची मंजिलों को छू लिया है, वही तो जिन है। महावीर के समस्त शास्त्रों और सिद्धान्तों को यदि दो शब्दों में व्यक्त करना हो तो मैं कहूँगा कि संसार की नदिया के दो किनारे हैं – अहिंसा और विवेक। अहिंसा को उसके व्यावहारिक तरीके से जीने का गुर है विवेक।

विवेक मार्ग है तो अहिंसा उसकी मंजिल। विवेक गति है तो अहिंसा उसका गंतव्य। विवेक यदि साधना है तो अहिंसा साध्य। अहिंसा को साधने के लिए विवेक की साधना तो करनी ही पड़ेगी। विवेक, किसी व्यक्ति की हथेली पर रखा हुआ वह दीपक है जो अहिंसा के मार्ग को आलोकित और प्रदर्शित करता है। विवेक व्यक्ति का नेत्र है। जैसे व्यक्ति नेत्रों के द्वारा अपने कार्य सम्पादित करता है और अपनी मंजिल को प्राप्त करता है, वैसे ही विवेक के नेत्रों के द्वारा व्यक्ति जीवन की मंजिल तक पहुँचता है। व्यक्ति की तीसरी आँख या शिवनेत्र भी विवेक ही है।

कोई अगर मुझसे पूछे तो मैं कहूँगा कि विवेक मेरा गुरु है। मैंने संन्यास लेने के बाद अपने असली गुरु की खोज प्रारम्भ की। एक ऐसे गुरु की जो केवल चोटी ही न ले या केवल संन्यास का वेश ही प्रदान न करे वरन् जो अन्तरात्मा में भी परिवर्तन ला दे। एक ऐसे गुरु की तलाश प्रारम्भ की जो मेरे अन्तस्म में छाए हुए अज्ञान के तमस् और अशान्ति के कोहरे को छाँट सके और मुझे मेरे सहज स्वरूप और शान्ति का स्वामी बना सके। उस गुरु की तलाश में, मैं हिमालय की ऊँची चोटियों तक पहुँचा। वहाँ की कन्दराओं में रहने वाले ऋषियों- मुनियों से भी मिला। पर वहाँ जाकर भी अन्ततः जिस तत्त्व को गुरु माना, भगवत्-तुल्य शास्ता माना, जीवन का शिव-नेत्र जाना, वह है आदमी का अपना विवेक।

संसार में कोई तीर्थ, कोई मन्दिर, कोई तीर्थकर और कोई गुरु विवेक से बड़ा नहीं हो सकता। व्यक्ति को उसके लक्ष्य या गंतव्य तक पहुँचने के लिए एक अकेला मार्ग है – विवेक। अहिंसा और विवेक के दो फूल ही जीवन में मुक्ति की सुरभि प्रकट करने में पर्याप्त हैं।

भगवान के जिन सूत्रों को आज हम छूने की कोशिश कर रहे हैं उनमें महावीर ने मनुष्य के जीवन को मर्यादित करने के लिए उसे दो किनारों से बांध दिया है। पहला किनारा है अहिंसा और दूसरा किनारा है विवेक।

जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।  
तव्वुड्ढीकरी जयणा, एगंत सुहावहा जयणा ॥

समग्र जिनशासन का सार इस सूत्र में समा गया है। महावीर ने इस एक सूत्र के द्वारा बहुत बड़ा खजाना दे दिया है। किसी संजीवनी बूटी के समान यह सूत्र है। भगवान कहते हैं — 'यतनाचारिता धर्म की जननी है।' यतनाचारिता धर्म की पालनहार है। यतनाचारिता धर्म को बढ़ाती है। यतनाचारिता एकान्त सुखावह है। हम भगवान की प्राचीन भाषा को आज की अपनी भाषा में समझें। महावीर कहते हैं — 'अहिंसा धर्म की माँ है। विवेक धर्म का जनक है।' विवेक पिता है और अहिंसा माता। जिसके 'जयणा' जीवन पर माता-पिता की छत्रछाया है, वह अपने साथ हजारों आशीष लिये चलता है। जिसके जीवन में विवेक और अहिंसा है, वह स्वयं भी सुरक्षित है और उससे अस्तित्व भी सुरक्षित है। जैसे किसी व्यक्ति के लिए अपनी माँ का मूल्य होता है, वैसे ही धार्मिक या मानवीय व्यक्ति के लिए अहिंसा का महत्त्व होता है।

जैसे कोई व्यक्ति माता के ऋण से उऋण नहीं हो सकता, वैसे ही धार्मिक व्यक्ति भी अहिंसा माँ के ऋण से उऋण नहीं हो सकता। क्योंकि अहिंसा ही तो उसके अस्तित्व को बनाए रखने का आधार है। जिसने 'यतना' को समझा है, वह यतनाचारिता से कभी उऋण नहीं हो सकता।

संसार या सम्पूर्ण सृष्टि में यह संभव ही नहीं है कि कोई व्यक्ति अहिंसा का पूर्ण जीवन जी सके। यदि यह संभव हो सकता है तो मात्र एक यतना तथा विवेक के द्वारा ही संभव है। भगवान से उनके ही शिष्यों के द्वारा प्रश्न किया गया, 'भन्ते ! आपने अहिंसा को परम धर्म बताया है, पर इस धर्म का पूर्ण पालन तो अत्यंत दुष्कर है; क्योंकि यदि हम भोजन खाते हैं तो उसमें भी हिंसा है। बोलते हैं तो उसमें भी हिंसा है, चलते हैं तो उसमें भी हिंसा है। यहाँ तक कि साँस लेते और छोड़ते हैं तो उसमें भी हिंसा है। किसी में वायु से जुड़ी हिंसा है तो किसी में अग्नि से जुड़ी हिंसा है तो किसी में पृथ्वी से जुड़ी हिंसा। किसी क्षण हम किसी को सता देते हैं तो किसी क्षण हम किसी के द्वारा सता दिये जाते हैं। जब हर ठौर हिंसा अवश्यम्भावी है तो फिर हम कैसे चलें, कैसे जाएँ ताकि हम पापकर्म के बन्धन से बच सकें?'

भगवान ने एक ही शब्द द्वारा उनके सभी प्रश्नों का समाधान कर दिया। भगवान ने कहा, 'यतना (विवेक) से चलो, यतना से बैठो, यतना से सोओ

यतना से खाओ और यतना से बोलो। जीवन का हर कदम यतना से, योग से, विवेक से जियो। 'यतनाचारी पापकर्म के हर बन्धन से मुक्त रहता है वरना संसार में यह सम्भव ही नहीं है कि व्यक्ति पूर्ण अहिंसक बन सके। हमारा अगला कदम हिंसा के दोष, उसकी छाया से घिरा रहता है। यतना अर्थात् विवेक के द्वारा ही धर्म और अध्यात्म को उसके व्यावहारिक रूप में जिया जा सकता है। यतना का अर्थ है कि हम दूसरों के सुखों का भी ध्यान रखें। जैसे कोई आदमी हमें पैर लगाए तो क्या हमें अच्छा लगता है? अच्छा नहीं, बुरा लगता है। कोई हम पर थूके तो हमें बुरा लगता है और कोई हमें साइकिल की टक्कर मार दे तो भी हमें बुरा लगता है। जो व्यवहार हमें बुरा लगता है, वह व्यवहार दूसरों को भी अच्छा नहीं लगता। भगवान कहते हैं कि जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहो और जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, वह दूसरों के लिए भी मत चाहो। यही जिनशासन का सार है।

यदि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ बुरा व्यवहार न करें तो हमें भी उनके सामने अच्छा व्यवहार पेश करना चाहिए। आखिर यह सारा संसार प्रतिध्वनि का ही तो रूप है। जैसा हम बोलेंगे, वैसी ही आवाज तो गूजेगी ही और वह पलटकर हम पर बरसेगी। जैसा बीज बोया जाएगा, वैसा ही तो फल निकलेगा। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हें बुरी फसलें प्राप्त न हों तो उन फसलों के बीज बोते समय ही सावधान रहो। यदि तुम प्रेमपूर्ण व्यवहार चाहते हो तो तुम भी दूसरों के साथ मधुरता से पेश आओ।

ध्यान रखो कि क्रोध के बदले क्रोध लौटता है और प्रेम के बदले प्रेम। क्रोध के बदले प्रेम लौटकर आए, यह कम सम्भव है। ऐसे ही किसी के कुवचन के बदले आप सुवचन बोलें, यह भी कठिन है। अगर आप ऐसा करते हैं तो सचमुच यह आपकी सहनशीलता और सौहार्द ही कहलाएगी।

जो तोको कांटो बुवै, ताहि बोहि तू फूल।

ताको फूल तो फूल है, वाको है तिरसूल ॥

व्यवहार हो तो ऐसा ! महावीर का धर्मसूत्र है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।

जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥

जो व्यक्ति इस यतना के रहस्य को समझ लेता है, उसके लिए अहिंसक बनना और अहिंसा जैसे महत्व को जीना उतना ही सरल और सहज हो जाता है

जितना किसी राम और कृष्ण के लिए रामलीला और कृष्णलीला करना सहज और आनन्ददायक होता है। धर्म का सार सूत्र है – विवेक से चलो। विवेक से बैठो। विवेक से बोलो। विवेक से सोओ। विवेक से खाओ। सब कुछ विवेकपूर्वक संपादित करो। जहाँ जीवन की हर गतिविधि पर विवेक का अंकुश, विवेक का प्रकाश रहता है, वहाँ कहीं भी पापानुबंध नहीं होते। गीता कहती है, 'तुम कर्ताभाव से मुक्त होकर कार्य करो। तुम निष्पाप रहोगे। सदैव ध्यान रखो कि विवेक ही वह सच्चा गुरु और अंतरंग मित्र है जो हर फिसलन से व्यक्ति को बचा लेता है। विवेक है तो क्रोध भी बुरा नहीं है। अगर आपको दाम्पत्य-जीवन जीना है, जिएँ, पर विवेक बनाए रखें। अगर आपको कहीं जाना है, तो विवेक को भी साथ ले जाएँ। अगर आपको आजीविका के साधन जुटाने हैं, तो जरूर जुटाइये पर इस बात का विवेक सदा रखें कि कितना त्यागूं और कितना रखूँ ?

अगर आपमें विवेक है तो क्रोध आ ही नहीं सकता। विवेक के अभाव का नाम ही तो क्रोध है। आपको क्रोध करने की पूरी अनुमति है पर शर्त यह है कि आपका विवेक उन क्षणों में भी बना रहे। अगर विवेक है तो तुम क्रोध कर ही न सकोगे। विवेकपूर्वक किया गया क्रोध, क्रोध नहीं बल्कि जीवन का अनुशासन कहलाएगा। अगर आप तम्बाकू खाते हैं, गुटखा खाते हैं या शराब पीते हैं तो बड़े आराम से अपने शौक फरमाइए। आखिर यह सब तुम अपने बलबूते पर ही तो करते हो। पर मैं यह निवेदन करना चाहूँगा कि तुम अपने विवेक को, अपने होश को हर क्षण कायम रखो। आत्मनियंत्रण को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति यदि किसी बुरे मार्ग पर भी चलने लग जाए तो आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, एक न एक दिन वह अपनी सभी बुराइयों से मुक्त हो जाता है। उसका विवेक उसे गर्त में गिरने से बचा लेगा। विवेक उसे थाम लेगा। यदि व्यक्ति में विवेक है तो वह आज भले ही भांग पीकर बेसुध हो जाए, पर जैसे ही वह अपने विवेक का उपयोग करेगा, एक न एक दिन भांग उससे छूट ही जाएगी।

विवेक ही तो व्यक्ति की हंसदृष्टि है जो उसे अच्छे और बुरे का बोध कराती है। हंसदृष्टि अर्थात् हंस की ऐसी दृष्टि होती है कि वह दूध और पानी को अलग अलग कर देता है। यद्यपि मैंने कभी ऐसे हंस को नहीं देखा और आपने भी नहीं देखा होगा। यह तो प्रतीक है। हंसदृष्टि अर्थात् विवेक प्राप्त हो जाने पर ही तो व्यक्ति जड़ और चेतन, आत्मा और देह, सत्य और झूठ में अन्तर कर उन्हें

अलग-अलग देख सकता है। इसीलिए भगवान ने कहा, 'विवेक ही धर्म का जनक है। विवेक ही धर्म को बढ़ाने वाला है, विवेक ही धर्म का पालन करने वाला है और विवेक ही एकांत सुखावह है।'

इसी सन्दर्भ में अगला सूत्र है -

मरदु व जियदु व जीवो, अयदारस्स णिच्छिदा हिंसा।

पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसा मेत्तेण समिदीसु॥

जीव मरे या जिये, अयतनाचारी को हिंसा का दोष अवश्य लगता है, किन्तु जो समितियों में प्रयत्नशील है, उससे बाह्य हिंसा हो जाने पर भी उसे कर्मबन्ध नहीं होता। भगवान ने कहा कि जो विवेक से अथवा यतना से जीते हैं उनके द्वारा पाप होने पर भी उन्हें पाप नहीं लगता जबकि अविवेकी यदि बाह्यदृष्टि से पाप न भी करे तो भी उसके द्वारा दिन-रात पाप का अनुबंध जारी रहता है। पाप का सम्बन्ध जीव के मरने या जीने से नहीं है, वरन् पाप का सम्बन्ध जीव के प्रति रहने या ना रहने वाली करुणा और दया की भावना से है। यदि आप किसी कार्य को विवेकपूर्ण ढंग से करते हैं और फिर भी कोई जीवहिंसा होती है तो आप महावीर की दृष्टि से पाप के भार से मुक्त हैं। जीव तो प्रतिपल पैदा हो रहे हैं और मर रहे हैं। अनन्तान्त जीव इस पृथ्वी पर भरे पड़े हैं। मूल्य जीव के जीने या मरने का नहीं है, वरन् महत्त्व तो हमारा उस जीवन के प्रति रहने वाले दृष्टिकोण का है।

गीता में जब भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि यह जो अधर्म के द्वार पर खड़े हैं, इन्हें मार पटक। तो क्या यह हिंसा नहीं थी? यह हिंसा थी, पर इस सूत्र के द्वारा भगवान यही तो संदेश दे रहे हैं कि मूल्य व्यक्ति के मरने या जीने का नहीं अपितु मूल्य है उसके प्रति रहने वाले भावों का। यदि कोई हमारी बहिन-बेटियों की इज्जत पर हाथ डाले तो क्या हम अहिंसा का नारा लगाकर चुपचाप खड़े रहेंगे? या फिर हमारे मंदिर-मस्जिद और इबादतगाहों पर हमले किए जाएँ तो भी क्या हमारी चेतना दुबकी रहेगी? ध्यान रखें, अहिंसा कायरता का मार्ग नहीं बताती वरन् अहिंसा को तो वही जी सकता है जिसके पास वीरत्व और पुरुषत्व हैं। ऐसा समझें कि जैसे कोई न्यायाधीश है और वह यदि चोर को दण्डित करता है तो वह अहिंसा अपने जीवन में कैसे जी सकता है? वह अहिंसा निश्चित रूप से जी सकता है।

न्याय करना, किसी अपराधी या चोर को दण्डित करना तो न्यायाधीश-पद के साथ इंसफ करना है जबकि अहिंसा, दया और करुणा उसके व्यक्तिगत और

सामाजिक जीवन के पहलू हैं। वह यदि किसी चोर को फाँसी की सजा सुनाता है तो यह उसके न्यायाधीश पद के न्याय का परिणाम है और यदि वह राह चलते किसी कुत्ते को कार की चपेट में आने से बचाता है तो यह उसकी दया, करुणा और अहिंसा का परिणाम है।

अहिंसा की भी एक सीमा होती है। जैसे एक देश यदि दूसरे देश पर आक्रमण करता है तो उसकी भी सीमा होनी चाहिए। भारत तो अहिंसाप्रधान देश है जहाँ अहिंसा पर ही आस्था रखी जाती है। लेकिन जब अन्य देश भारत पर आक्रमण करें तो देश की सुरक्षा व अस्मिता बनाए रखने के लिए जवाब में युद्ध करना ही पड़ता है। यह हिंसा नहीं वरन् अहिंसा का पालन और उसको गौरव प्रदान करना हुआ।

कहते हैं कि एक बार बुद्ध अपने शिष्यों के बीच बैठे थे। अचानक एक मक्खी आई और बुद्ध के कंधे पर बैठ गई। उस मक्खी ने इस कदर डंक मारा कि बुद्ध ने उस संवेदना में बड़ी तेजी से हाथ का झपट्टा अपने कंधे पर मारा। मक्खी उड़ गई। अचानक बुद्ध को होश आया और वह अपना हाथ धीरे से कंधे पर उस जगह ले गए जहाँ पर मक्खी बैठी थी। उन्होंने धीरे से उस जगह को सहलाया और हाथ वापस नीचे लेकर आए।

उनके शिष्य भी यह सब देख रहे थे। आनन्द से रहा न गया। वह बोला, 'भंते! मैं इस घटना को समझ न पाया। जब मक्खी थी तब तो आपने हाथ से झपट्टा मारा और मक्खी उड़ गई, लेकिन अब जब मक्खी नहीं है तो आपने मक्खी हटाने का यह कैसा उपक्रम किया?'

बुद्ध बोले, 'वत्स ! जब मैंने हाथ का बड़ी तेजी से झपट्टा देकर मक्खी को उड़ाया उस समय मैं क्षण भर के लिए अपने होश से स्वलित हो गया था। लेकिन जैसे ही मुझे होश आया, मेरा बोध और विवेक जागा तो मैं अपने हाथ को बड़े धीरे से उठाकर उस जगह तक ले गया और प्यार से सहलाया ताकि फिर ऐसी गलती मुझसे न हो सके। पुनरावृत्ति के दोष से बचने के लिए मैंने ऐसा किया। अब यदि कभी मक्खी बैठे तो मेरा व्यवहार अयतनापूर्ण न हो इसीलिए मैंने यतनापूर्वक मक्खी हटाने का उपक्रम किया।

मक्खी का मरना या उड़ जाना महत्व की बात नहीं है, मूल्य है जागरूकता और सजगता का। प्रमाद में ही हिंसा है। अप्रमाद ही अहिंसा की आत्मा है। मूर्च्छारहित होकर, प्रमाद से उपरत होकर, अप्रमत्त होकर चर्या करना ही अहिंसा

यानी आत्म-जागरूकता है। अहिंसा यानी बोधपूर्ण प्रवृत्ति। इस बोध-दशा या जागरूकता का नाम ही अहिंसा है। संत लोग अपने कपड़ों का प्रतिलेखन करते हैं। प्रतिलेखन अर्थात् कपड़ों को अच्छी तरह से देखा जाए कि उनमें कोई जीव तो नहीं है। यह मेरे हाथ में जो रूमाल जैसा कपड़ा है जिसे पारम्परिक भाषा में मुँहपत्ति कहा जाता है, इसका भी प्रतिलेखन किया जाता है। इसे खोलकर अच्छी तरह से देखा जाता है कि इसमें कोई जीव न हो। यदि वह ऐसे-वैसे ही खोलकर बंद कर दिया जाता है तो यह तो हुई मूढ़ता। यदि यतना और विवेक से इसे खोल कर देखा जाता है ताकि किसी जीव का घात न हो तो यह हुआ अहिंसा का पालन।

नहीं थी कबीर की चादर में  
 कहीं कोई गाँठ;  
 खुले थे चारों छोर,  
 फिर भी संध्या-भोर।  
 टटोलती रही भक्तों की भीड़  
 कि होगा कहीं चिंतामणि-रतन  
 नहीं तो बाबा  
 काहे को करते इतना जतन !

कबीर की चादर में कोई गाँठ नहीं थी जिसमें कि रतन छुपे हुए हों या कोई हीरा या जवाहरात बँधे हों। उनकी चदरिया में कुछ था तो वह था विवेक जो किसी जीव को बचा सके और उससे प्रेम कर सके। लोग उनकी चदरिया को टटोलते और देखते कि इसमें जरूर कोई रत्न होगा तभी तो कबीर इसकी इतनी यत्न से रखवाली करते हैं। कबीर जैसे लोग तो अपनी चादर को आगे-पीछे सब तरफ से देखते ही रहते हैं कि इसमें कहीं कोई क्रोध-कषाय का, हिंसा का, अभिमान का तथा अविवेक का दाग तो नहीं लग गया है। इसीलिए तो कबीर ने कहा –

ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया,  
 झीनी झीनी बीनी रे चदरिया।  
 राम-नाम रस पीनी रे चदरिया।  
 झीनी-झीनी बीनी रे चदरिया।  
 ध्रुव प्रह्लाद-सुदामा ने ओढ़ी शुकदेव ने निर्मल कीनी चदरिया,  
 दास कबीर ने ऐसी ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।  
 झीनी झीनी बीनी रे चदरिया।

कबीर अपने अंतिम समय में देह रूपी चदरिया को छोड़ते हुए कहते हैं, 'इस चदरिया को जैसा गुरु ने या ईश्वर ने दिया था, वैसा ही इस चदरिया को मैं छोड़ रहा हूँ। मैंने इस पर किसी भी तरह की हिंसा का अपराध या बेईमानी का दाग नहीं लगाया है।'

हम इसीलिए देखते हैं कि चदरिया में कोई जीव तो नहीं है। अगर बैठते हैं तो पहले यह देखकर ही बैठते हैं। जैसे किसी व्यक्ति को सिगरेट पीने की आदत होती है तो वह तलब उठते ही सिगरेट जला लेता है। या यों समझें जैसे कि हमारे सामने कुछ महिलाएँ मुँहपत्ती बाँधे बैठी हैं, कोई जीव आ गया तो मुँहपत्ती सामने है और यदि कोई जीव न आया तो यह धर्म या परम्परा का पालन है। ऐसे ही व्यक्ति जब बैठता है तो बैठने से पहले तुरन्त अपने रजोहरण, चरवले या अन्य किसी कपड़े आदि को चला देगा, चाहे उस स्थान पर जीव हो या न हो। मूल्य आपके चरवले या रजोहरण से भूमि के प्रमार्जन का नहीं है, अपितु महत्व इस बात का है कि व्यक्ति यह विवेकपूर्वक देखे कि वहाँ जीव हैं या नहीं। यदि कोई जीवजन्तु है तभी उस स्थान की प्रमार्जना की जाए, अन्यथा अगर हम यों ही चरवले या ओधे को बिना देखे फिरा देते हैं तो ऐसा करने से उस स्थान के वायुकायिक जीवों का घात हो जाता है। मूल्य है सजगता, जागरण और बोध का।

इस यतना को पालने के लिए भगवान अपनी ओर से एक महत्वपूर्ण सूत्र दे रहे हैं—

*इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।*

*मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अडुमा ॥*

भगवान कहते हैं, 'ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उच्चार ये पाँच समितियाँ और मन-वचन व काय नामक तीन गुप्तियाँ हैं।' भगवान ने अपने पहले सूत्र में फरमाया कि यतना ही धर्म की माँ है। भगवान दूसरे सूत्र में कहते हैं कि अयतनाचारी को हिंसा न होने पर भी हिंसा का दोष अवश्य लगता है। तीसरे सूत्र में भगवान यतना को व्यावहारिक रूप में किस प्रकार जिया जा सके, इसके लिए कुछ सोपान, कुछ मील के पत्थर या कुछ दीपशिखाएँ स्थापित कर रहे हैं।

अहिंसा और यतना के मार्ग को व्यावहारिक रूप से जीने के लिए भगवान ने अपनी ओर से आठ सोपान निर्दिष्ट किये हैं। भगवान ने श्रमण या श्रावक के एक हाथ में समिति और दूसरे हाथ में गुप्ति का दीप प्रज्वलित किया है। समिति अर्थात्

सम्यक् प्रवृत्ति। विवेक और जतनपूर्वक कार्य करना ही समिति कहलाता है। गुप्ति का अर्थ है गोपन करना, नियंत्रण करना या निवृत्ति करना।

भगवान एक तरफ सम्यक् प्रवृत्ति का मार्ग दिखलाते हैं तो दूसरी तरफ सम्यक् निवृत्ति की राह रोशन कर रहे हैं। विवेकपूर्वक कार्य किया जाए और फिर भी यदि कुछ अमर्यादित कृत्य हो जाए तो स्वयं पर नियंत्रण स्थापित कर लिया जाए। जैसे कोई व्यक्ति किसी को गाली न दे, लेकिन क्रोध या अन्य किसी कारणवश मुँह में गाली आ भी जाए तो 'नालायक' शब्द के निकलते ही व्यक्ति स्वयं को नियन्त्रण में ले आए। वह तुरन्त अपने ऊपर नियन्त्रण स्थापित कर ले और नालायक शब्द उच्चारित ही न हो पाए। गाली न बकना यह तो हुई समिति और गाली मुख पर आते ही उसे रोक देना, यह हुई गुप्ति।

जैसे कोई कछुआ सामान्य रूप से तो अपने हाथ, पाँव, सिर आदि अंगों को बाहर निकाल कर चलता है लेकिन जैसे ही किसी गीदड़ का संकट उसके सामने आता है, वह तत्काल अपने सभी अवयवों को अपने भीतर समाहित कर लेता है, अपने अंगों को समेट लेता है। कछुए का अंगों को बाहर निकाल कर चलना यह तो हुई प्रवृत्ति और संकट या खतरा आते ही अंगों को अंदर कर लेना यह हुई गुप्ति।

पाँचों ही समितियों को हम संक्षेप में समझें। पहली समिति है ईर्या समिति अर्थात् गमनागमन में विवेक रखना। व्यक्ति विवेकपूर्वक चले, इसी का नाम है ईर्या समिति। आप यदि भली भाँति देखकर चलते हैं तो आप ऐसा करके भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म के उत्कृष्ट रूप 'समिति' का पालन करते हैं।

धर्म कितना सरल है, पर हसने धर्म को आज कितना क्लिष्ट और कठिन बना दिया है। मैं यह कहना चाहूँगा कि धर्म का पालन करना उतना ही सरल और आसान है जितना कि दूध या पानी पीना अथवा आँखें होने पर किसी को देखना। जो जटिल और दुरूह हो जाए तो वह धर्म कहाँ और कैसे हो सकता है?

भगवान कहते हैं कि व्यक्ति विवेकपूर्वक चले। आप यदि देख कर चलते हैं तो पहला फायदा तो आपको यह होगा कि कोई काँटा आपके पाँव में न चुभेगा और न ही आपको काँटे चुभने का दर्द सहना होगा। यदि आप देख कर चलते हैं तो दूसरा फायदा आपको यह होगा कि आपको किसी ठोकर की पीड़ा नहीं सहन

करनी पड़ेगी। तीसरा फायदा यह होगा कि अगर किसी गटर का ढक्कन खुला हुआ है तो आप उसके अंदर गिरने से बच जाएँगे।

एक भाई ने मुझे बहुत ही अजीब किस्सा सुनाया। वह कह रहे थे कि आज तो बहुत ही गजब हो जाता। मैंने पूछा, 'भई ! ऐसा भी क्या हो जाता?' वह बोले, 'अरे! आज तो मेरी बीवी गटर में बह ही जाती।' मैंने पूछा, 'वह कैसे?' वह बोले, 'वह फिल्म देखने की तो बहुत शौकीन है। हम जिस रास्ते से आ रहे थे, वहाँ चार-पाँच सिनेमा हॉल पड़ते थे। अतः अपने स्वभावानुसार वह ऊपर लगे हुए फिल्म के पोस्टर देखती हुई चल रही थी। दस कदम दूर पर ही गटर का ढक्कन बरसाती नाले की वजह से खुला पड़ा था। वह देख तो रही थी ऊपर करिश्मा कपूर को और नीचे करिश्मा हुआ कि उसका पाँव सीधे खुले गटर में पड़ गया। वह तो उस गटर में बह ही जाती क्योंकि बरसाती नाले की वजह से बहाव बहुत तेज था, पर संयोग से उसके हाथ ऊपर थे और वह किसी जगह अटक गए। वह बहने से बच गई। गनीमत है कि उसकी चप्पल ही गटर में बही और वह बच गई।

सावधान ! तुम्हारा असावधानी से चलना गटर में गिरना हो सकता है। ईर्या समिति का पालन तुम्हें भावी खतरे से बचा सकता है। चौथा और बहुत ही महत्वपूर्ण फायदा यह है कि अगर आप देखकर चलते हैं तो राह में चलते किसी टिड्डे, मकोड़े, बिच्छू, चींटी या किसी अन्य जीवजन्तु को पाँव के नीचे आकर मरने से बचा सकते हैं। अभी तो आप ऐसे चल रहे हो कि आपके पाँव के नीचे आकर कोई चींटी आदि मर भी जाती है तो आपको कोई परवाह नहीं रहती लेकिन जिस दिन ऐसे ही सौ चींटियाँ मरकर साँप बन गईं और आपके पाँव को उसने काट खाया, तब क्या होगा ? गनीमत है कि आपका पाँव अब तक किसी बिच्छू पर न पड़ा। हम देखकर चलें, बोध और विवेकपूर्वक चलें, यही अहिंसा की ईर्या समिति है।

दूसरी समिति है भाषा समिति। भाषा समिति यानी सम्यक् वाणी। बुद्ध ने इसे अष्टांगिक आर्य मार्ग का एक चरण माना है। बोलना एक बहुत बड़ी कला है। जो मन में आया सो बोल दिया, यह बोलना नहीं, बकना है। क्या बोलना, कब बोलना, कैसे बोलना, यह समझ जरूरी है। जितनी जरूरी यह है उतनी ही यह भी जरूरी है कि क्या न बोलना, कब न बोलना, कैसा न बोलना, वाणी के विवेक के लिए यह भी एक अनिवार्य पहलू है।

वाणी तो सरस्वती का अनुष्ठान है। तुम वाणी का इस तरह उपयोग करो कि हर शब्द का उपयोग अपने आप में माँ सरस्वती के चरणों में फूल समर्पित करने के

समान हो। यदि वाणी का उपयोग करना आ जाए तो वाणी किसी संजीवनी औषधि का काम कर जाए। जैसे वैद्य की दवा काम करती है वैसे ही आपकी वाणी भी काम कर सकती है। आप जितने मृदु, मधुर और बेहतर वाणी का उपयोग करेंगे, आप उतने ही लोकप्रिय होंगे। लोगों के दिलों में आपकी जगह बनेगी। कटुवाणी का वक्ता किसी के दिल को आघात ही पहुँचाता है। ऐसा करना सरासर हिंसा है। क्योंकि हिंसा तो हिंसा है ही, किन्तु वाचिक हिंसा भी हिंसा ही है। जब भला वचन आपकी जिह्वा से फूल और अमृत बरसा सकता है तो फिर कैची क्यों चलाई जाएँ, काँटे क्यों बोए जाएँ और जहर क्यों उगला जाए ?

हम भाषा समिति का उपयोग करें। वाणी-व्यवहार में समिति, सम्यक् प्रवृत्ति का विवेक रखें। किसी को गाली देकर क्यों तो अपनी जबान गंदी की जाएँ और क्यों ही किसी और के दिल को दूषित किया जाए ? गाली चाहे दुश्मन को भी क्यों न दी जाए, यह भले आदमी का लक्षण नहीं है। हम क्रोध से, असत्य से, निंदा से, उपहास से बचें। सदा सौम्य रहें, मृदु बोलें। बोलें तो हम मिठास घोलें। कोई और कटु बोल दे तो सह लें। महावीर ने तो कानों में कीलें सहीं, जीसस ने क्रॉस को भी सह लिया तो क्या हम किसी के दो शब्दों को भी नहीं सह सकते ?

भगवान महावीर को संगम देवता ने भीषण कष्ट दिये। एक दिन संगम ने महावीर से पूछा, 'आप मुझे कैसा समझते हैं?' महावीर ने कहा, 'अच्छे मुनाफे से माल बिकवाने वाले दलाल के समान उपकारी।' यानी किसी के द्वारा गलत व्यवहार किये जाने के बावजूद अपनी ओर से शान्त सकारात्मक रवैया अपनाना, यही तो अहिंसा और विवेक है।

ऐसा ही बुद्ध के साथ हुआ। एक ब्राह्मण बुद्ध का शिष्य बना। उसका भाई बुद्ध को गालियाँ देने लगा। बुद्ध शांत रहे। बुद्ध ने इतना ही कहा, 'तुम्हारा माल मेरे यहाँ नहीं खपता।' गालियों को ग्रहण करने वाला न हो तो गालियाँ आखिर उसी के पास ही लौट कर जाएँगी जिसने अपनी ओर से दी हैं।

भगवान जीसस को जब सूली पर चढ़ाया गया तब भी उस महापुरुष ने समता, धैर्य और मृदुता रखी। जीसस ने तब प्रार्थना की थी – फॉरगिव देम फादर ! दे डू नॉट नो, ह्वार्टे डू' अर्थात् हे प्रभु ! उन्हें माफ करो क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं ?

हर हाल में मन में शांति रखना और सबके प्रति सदैव शांत सम्मानजनित मृदु मधुर वाणी का उपयोग करना भाषा-समिति है। ऐसी वाणी का उपयोग करना भी अहिंसा की ही उपासना है।

तीसरी समिति है – एषणा समिति। अर्थात् सम्यक् भोजन। जैसे वाणी से विवेकपूर्वक बोलना चाहिये वैसे ही भोजन भी विवेकपूर्वक करना चाहिए। इस सन्दर्भ में कुछ बिन्दुओं पर ध्यान दें –

(१) वही भोजन स्वीकार करें जो आपको प्रेम और आदरपूर्वक परोसा गया है।

(२) भोजन उतना ही लें जितना आप खा सकें। जूठन न छोड़ें, किसी को जूठा भोजन भी न खिलाएँ।

(३) अजीर्ण के समय भोजन न करें। अजीर्ण के समय किया गया भोजन विष के समान होता है।

(४) सदा हितकारी और परिमित भोजन करना चाहिए। हितकारी भोजन करने वाला सौ वर्ष का दीर्घ आयुष्य प्राप्त करता है।

(५) भूख लगने पर ही भोजन करें। बेमन से खाना न खाएँ।

(६) यदि तबीयत खराब है तो सबसे पहले अपना आहार सुधारिये। आहार सुधरेगा तो स्वास्थ्य स्वतः सुधर जाएगा।

(७) ध्यान रखें, 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन्न। जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी।' इसलिए खानपान के प्रति पूरा विवेक रखना चाहिए। चाणक्यनीति तो कहती है कि जो जैसा अन्न खाता है, उसके वैसी ही संतान पैदा होती है। दीपक काले अंधेरे का भक्षण करता है तो उसकी संतान भी काले काजल जैसी ही होती है।

(८) नाखून काटकर साफ रखें। नाखूनों में मल समाहित रहता है। जब भी भोजन करें, पहले हाथ अवश्य धो लें। भोजन जितनी आवश्यकता है उससे दो ग्रास कम खाएँ। जूठे मुँह न बोलें। मौनपूर्वक भोजन लें। भोजन के स्वाद में थोड़ा तीखा-फीकापन हो तो उद्विग्न न होएँ। भोजन करते समय शान्त और प्रसन्न रहना आहार-ग्रहण की सम्यक् विधि है।

(९) कम खाओ, गम खाओ। अतिभोजी और अतिभोगी दोनों ही अतिरोगी होते हैं। एक बार भोजन करने वाले महात्मा होते हैं, दो बार भोजन करने वाला

बुद्धिमान होता है और बिना विवेक के दिन भर खाने वाला पशु होता है।

(१०) हमेशा ताजा भोजन करें। बासी भोजन से परहेज रखें। कहावत है, 'ठंडो न्हावे, तातो खावै उणरे बैद कदे नहीं आवै। ऊभो मूतै, सूतो खावै, तिणरो दलदर कदै न जावै।'

ये जो कुछ मूलभूत बातें हैं, एषणा समिति के पालन के लिए उपयोगी हैं। अन्न को अच्छी तरह चुन-बीन कर, धोकर उसका उपयोग करें। शाकाहार तो करें ही, पर उसमें भी सात्विकता का विशेष विवेक रखें। श्रेष्ठ भोजन और श्रेष्ठ जीवन को किसी मंत्र की तरह अपना लें।

चौथी समिति है आदान-निक्षेपण समिति अर्थात् विवेकपूर्वक किसी भी वस्तु को उठाना-रखना। हर वस्तु को व्यवस्थित रखें ताकि अंधेरे में भी ढूँढना चाहो तो तुम्हें तुम्हारी वस्तु मिल जाए। जो अव्यवस्थित होते हैं, वे जरूरत पड़ने पर अपनी चीजों को पाने के लिए पागलों-सी हरकत करने लगते हैं। 'उतावला सो बावला।' ज्यादा जल्दबाजी ही व्यक्ति को अव्यवस्थित करती है। हर वस्तु को व्यवस्थित रखना एक प्रकार से जीवन में मर्यादा और अनुशासन को स्वीकार करना है।

घर को साफ-स्वच्छ रखिये, सजा-सँवार कर रखिए। सुबह जगने पर सबसे पहले अपने बिखरे घर को सजाइये। यह एक अच्छी एक्सरसाइज भी होगी और योगाभ्यास भी।

पाँचवीं समिति है परिष्ठापनिका समिति। विसर्जन भी विवेकपूर्वक हो, यह धर्म की सिखावन है। मल, मूत्र, थूक, कफ, पीक, गंदगी इत्यादि जिस भी चीज का विसर्जन करना हो, विवेकपूर्वक कीजिए। हो सकता है आप शौच के लिए गए। जहाँ मल-मूत्र का विसर्जन कर रहे हैं, वहाँ चींटी-मकोड़े चल रहे हों। सावधान ! आपकी यह निवृत्ति भी आपके लिए हिंसा का अर्जन कर रही है। देख-सम्हलकर विसर्जन करें।

बड़े शहर में तो लोग नौ तल्ले से ही कचरा नीचे फेंकते हैं। सम्भव है, नीचे से कोई भला आदमी गुजर रहा हो। वह सीधा उसके सिर पर गिरेगा। ऐसा करके तुम अपने लिए थूका-फजीती मोल ले रहे हो। जरा सोचिये कोई आप पर ऐसे ही गंदगी गिराए तो क्या होगा ?

ये छोटी-छोटी बातें हैं जो आपके जीवन में हिंसा और अहिंसा का विवेक निर्धारित करती हैं। काम कोई भी क्यों न हो, विवेकपूर्वक, बोधपूर्वक, मर्यादापूर्वक हो। ऐसा कोई कार्य न हो जिससे स्वयं का या किसी और का अहित हो, अमंगल हो, कष्टकर हो।

अहिंसा की पालना के लिए ही समिति की ये बातें कही गई हैं। यदि सम्यक् प्रवृत्ति करते हुए भी कभी अतिक्रमण होता लगे आप कृपया तत्काल गुप्ति का उपयोग करें। अपने आप पर अंकुश लगाएँ। यह प्रतिक्रमण कहलाएगा।

गलती किसी से भी हो सकती है। गलती करना कोई नहीं चाहता फिर भी हो ही जाती है। आपको जब कभी ऐसा लगे, आप अपनी गलती को स्वीकार करें, उसके लिए खेद प्रकट करें, भविष्य में वैसा न करने का संकल्प ग्रहण करें। यही बोधमूलक जीवन-शैली है। जीवन को जीना एक बहुत बड़ी कला है और यह कला प्राप्त करने के लिए ही इतनी सारी बातें कही गई हैं। धर्म उसका है जो उसे जीवन में जिये। बाकी सब कुछ उन्माद है, नशा है। बोध और होश में ही धर्म है, उदात्त जीवन है, मुक्ति का मार्ग भी इसी से ही प्रशस्त होता है।

विवेक से जिएँ, इतना-सा ही सार-संदेश है।



## धार्मिक जीवन के छह सोपान

मेरे प्रिय आत्मन् !

जीवन में कुछ कृत्य ऐसे होते हैं जिनका संबंध हमारे व्यक्तित्व-विकास के साथ होता है। कुछ कृत्य ऐसे होते हैं जो हमारे आत्म-विकास, आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-समृद्धि के आधारस्तंभ होते हैं। भगवान ने ऐसे ही कृत्यों को आवश्यक कृत्यों की संज्ञा दी है। यदि व्यक्ति दृढ़ मनोयोग के साथ इन आवश्यक कृत्यों को संपादित करता है तो वह अनिवार्यतः आत्मश्रेय को उपलब्ध होता है।

इस संदर्भ में मैं तारीफ करना चाहूँगा उन मुस्लिम महानुभावों की जो अपने कृत्यों को संपन्न करने में हर हाल में सजग और तत्पर रहते हैं। वे अपनी नमाज अदा करने के लिए रेलवे स्टेशन, दूकान या फिर सड़क पर भी चढ़ बिछाकर तत्पर हो जाते हैं। जब खुदा की इबादत का वक्त होता है तो वे किसी मस्जिद की तलाश नहीं करते, बल्कि जहाँ, जिस हालत में खड़ा है, वहीं झुककर सज़दा कर लेते हैं। उसको याद करने के लिए तिलक-छापे की तथा दरो-दीवारों की क्या जरूरत ?

मैं मानता हूँ कि मुसलमानों में अपने मजहब के लिए एक जुनून होता है, पर यह भी सत्य है कि धरती पर कोई भी धर्म या उसके अनुयायी अपने कृत्यों को संपादित करने में इतने दृढ़ और सजग नहीं होते जितने कि मुस्लिम लोग होते हैं।

मैं एक ऐसे घटनाक्रम का जिक्र करना चाहूँगा जो मेरी गंगोत्री-यात्रा से संबद्ध है। हिमालय की यात्रा के दौरान मुझे एक ऐसी महिला मिली जो मूलतः

अंग्रेज थी पर उसने हिन्दू परंपरा में संन्यास स्वीकार किया था। उसका नाम था नानी। उसने हरिद्वार में दीक्षा ली थी।

यह योग की बात रही कि उसके संन्यस्त होने के मात्र दो दिन बाद ही उसके गुरु का देहावसान हो गया। पर गुरु ने उसे साधनात्मक जीवन को कैसे जिआ जाए, यह बात बता दी थी। गुरु ने उसे बताया था कि सुबह ब्रह्म मुहूर्त में उठकर गंगा में डुबकी लगाने के बाद उन गीले कपड़ों में ही भगवान की प्रार्थना एवं अभ्यर्थना की जाए और उसके बाद योग-आसन आदि किये जाएँ। गुरु ने संभवतः सोचा होगा कि जब यह दस-पन्द्रह दिन इस मार्ग को जी लेगी तब उसे आगे के साधनापथ के बारे में बताया जाएगा, पर गुरु की तो दूसरे या तीसरे दिन ही मृत्यु हो गई।

वह साधिका कुछ समय हरिद्वार के आश्रम में बिताने के पश्चात् हिमालय की कन्दराओं में चली गई। जिस सदी में त्रिदण्डी संतों या बड़े-बड़े ऋषियों की भी हिम्मत नहीं होती, उस भयंकर सदी में भी वह सुबह चार बजे उठकर अपने हाथ में कुल्हाड़ी लिए गंगोत्री की तरफ खाना हो जाती।

सदी में गंगोत्री का पानी बर्फ के रूप में जम जाता है। वह उस कुल्हाड़ी से बर्फ की तह को चीरकर हटाती और उसमें डुबकी लगाती और गीले कपड़ों में ही अपने आवास तक पहुँचती और प्रार्थना प्रारंभ कर देती।

जहाँ लोग चिलम फूँककर, गाँजा पीकर या आग की आँच से अपनी सदी को दूर करने का प्रयत्न करते, वहीं वह महिला गीले कपड़ों में ही प्रार्थना में तल्लीन हो जाती। गंगोत्री में रह रहे साधकों में से वही एक अकेली ऐसी साधिका थी जो प्रतिदिन गंगा-स्नान करती थी।

वहाँ पर सदी इतनी थी कि यदि आग एक बार बुझा दी जाए तो वह लकड़ी घंटों तक आग न पकड़े। उस महिला के हाथ इतने कट-फट चुके थे जितने सदी में किसी के पाँव भी न फटते हों। उनमें से हर समय खून रिसता रहता था।

मूल्य इस बात का नहीं है कि उसको इस मार्ग से क्या मिला? महत्त्व तो इस बात का है कि उसने अपने गुरु द्वारा सुझाए गये मार्ग को हर हालत में कितनी तत्परता से जिया। यदि कोई व्यक्ति उतनी ही तत्परता से भगवान द्वारा बताए मार्ग को जीता है तो निश्चित रूप से वह महामार्ग उसके आध्यात्मिक सौन्दर्य और सुषमा को बढ़ाने में सहायक बनता है। हम भगवान के आज के सूत्रों को लेते हैं—

सामायिकं चउवीसत्थओ, वंदणयं।  
पडिक्कमणं काउरसगो पच्चक्खाणं ॥

भगवान कहते हैं, 'सामायिक, चतुर्विंशति जिनस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छह आवश्यक कर्म हैं।'

वे कर्म 'आवश्यक' कहलाते हैं जिन्हें अवश्यमेव करना चाहिए और जिन कृत्यों को करने की भगवान द्वारा निरन्तर प्रेरणा दी गई है। ये आवश्यक कर्म, गृहस्थ हो या संत, दोनों के लिए हैं। प्रतिदिन श्रावक और साधु को इन छः आवश्यक कृत्यों का आचरण करना चाहिए।

आज मैं इन छः सन्दर्भों पर इसलिए भी चर्चा करना चाहूँगा कि हम लोग इन छः बातों को जीने की कोशिश करते हैं। सामायिक या प्रतिक्रमण करते समय हमारी यह कोशिश रहती है कि ये छः आवश्यक कर्म हमारे द्वारा सम्पादित हो जाएँ। मैं चाहूँगा कि आज इन छह सोपानों या आवश्यक कार्यों के बारे में हम सहजता से थोड़ा समझने का प्रयास करें।

पहला आवश्यक कृत्य है सामायिक। महावीर की समस्त साधना का केन्द्र बिन्दु सामायिक है। सामायिक ही वह धरातल है जहाँ महावीर की साधना का महल खड़ा है। सामायिक शब्द की उत्पत्ति समय से हुई है। समय का अर्थ होता है सिद्धांत, समता या आत्मा। आम मनुष्य का जीवन जहाँ ममता पर टिका रहता है, वहीं महावीर समता की प्रेरणा देते हैं। ममता और समता दोनों ही सहायक बन जाते हैं, पर विषमता तो तब पैदा होती है जब दोनों में अन्तर्द्वन्द्व छिड़ता है। यदि ममता, ममता रहे और समता, समता रहे यानी दोनों अपने-अपने स्थान पर कायम रहें तो विषमता का जन्म ही न हो पाएगा।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन ने इस समग्र अस्तित्व के निर्माण में जिस पहलू को सहायक माना है, उनमें दो तत्त्व शामिल रहे हैं। पहला तो 'समय' और दूसरा 'आकाश' अर्थात् उनकी सभी व्याख्याएँ टाइम और स्पेस से जुड़ी रहीं।

आज की दुनिया का वह महान् वैज्ञानिक जिसने सृष्टि की सारी व्यवस्था को अपने हिसाब से, अपने सिद्धांतों, अपने वैज्ञानिक या गणितीय सूत्रों और आविष्कारों से प्रतिपादित और निरूपित किया, वे दो बातें ही अर्थात् समय और आकाश प्रमुख रहीं।

समय में स्थित होना समग्र अस्तित्व से जुड़ जाना है। समय में स्थित होना सिद्धांत-चक्रवर्ती बन जाना है, समत्व-योग और श्रमणत्व-योग को जीना है।

भगवान ने सामायिक के दो स्वरूप बताए। एक तो द्रव्य या बाह्य सामायिक और दूसरा तत्त्वतः की जाने वाली निश्चय सामायिक।

द्रव्य सामायिक वह है जहाँ व्यक्ति दो घड़ी अथवा पाँच घड़ी अपने आपको एक जगह स्थित करके उस समय के लिए सभी सावद्य व्यापारों का, आरम्भ-समारम्भ और हिंसाजनित कार्यों का त्याग कर देता है। यह सामायिक का बाह्य स्वरूप है जो आसन बिछाकर, मुँहपत्ती बाँधकर या हाथ में रखकर और चरवला लेकर की जाती है। यह सामायिक तो सामायिक का अभ्यास मात्र है जहाँ व्यक्ति ने स्वयं को हिंसाजनित क्रियाओं से बचाते हुए दो घड़ी के लिए स्थापित किया है। लेकिन वास्तविक सामायिक तो तब होती है जब व्यक्ति राग, द्वेष, काम, क्रोध या कषायजनित किसी भी विपरीत परिस्थिति से स्वयं को मुक्त रखता है और स्वयं के चित्त में समता और सहजता रखता है।

तिनके या सोने में, पाने या खोने में, लाभ या हानि में, मिट्टी या हीरे में, संयोग या वियोग में, जहाँ प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति अपने चित्त में समता, शान्ति और समभाव बनाए रखता है, उसे ही भगवान शुद्ध सामायिक कहते हैं।

सृष्टि के हर प्राणी के प्रति समदर्शिता और समवृत्ति ! विपरीत परिस्थितियाँ अवश्य बनती हैं, पर व्यक्ति उन परिस्थितियों पर कितनी सहजता से विजय पाता है, यही बात सामायिक की कसौटी है। अनुकूलता या प्रतिकूलता दोनों में ही व्यक्ति की समता की परख होती है।

अनुकूलता जहाँ व्यक्ति के चित्त में अहंकार पैदा करती है, वहीं प्रतिकूलता व्यक्ति को खिन्न और उद्विग्न बना देती है। यदि कोई तारीफ करे या गुणों की यशोगाथा गाए तो यह अनुकूलता व्यक्ति के चित्त में अहंकार ला देती है। वह व्यक्ति यह सोचकर खुश होता है कि अहो ! मेरी कितनी प्रशंसा हो रही है।

दूसरी तरफ यदि किसी की निन्दा की जाए, उसकी टीका-टिप्पणी, आलोचना या समालोचना की जाए तो वह व्यक्ति मन में सोचता है कि 'अरे! यह कौन-सा दूध का नहाया है जो मेरी बुराई करता है?' इस प्रकार प्रतिकूलता ने चित्त में आवुलता पैदा कर दी, आक्रोश, खिन्नता और वैर-विरोध की भावना को जन्म दे दिया।

जहाँ अनुकूलता को पाकर व्यक्ति के चित्त में अहंकार न जगे और प्रतिकूलता खिन्नता, खेद, आक्रोश और वैर-विरोध को पैदा न कर सके, वही व्यक्ति की सामायिक है।

जो लोग प्रतिदिन व्यावहारिक सामायिक सम्पादित करते हैं, वे दो घड़ी के लिए सावध व्यापारों एवं हिंसाजनित क्रियाओं से परहेज रखकर स्वयं को किसी एक जगह स्थित करते हैं। मैं निवेदन करूँगा कि वे सामायिक के वास्तविक स्वरूप को भी समझने एवं जीने का प्रयास करें।

अगर आप को क्रोध आता है तो तब एक ऐसी सामायिक शुरू की जाए जो आपके क्रोधी स्वभाव को बदल सके और आपको समता दे सके। अगर चित्त में समता आ गई तो सामायिक स्वयं ही हो जाएगी और अगर चित्त में ही अभी भी विषमता बनी हुई है, क्रोध, चिड़चिड़ापन और अहंकार जगता है तो सामायिक के लाखों-लाख अनुष्ठान कर लो, तब भी वह जीवन के आध्यात्मिक सौन्दर्य और सुषमा को निखारने में समर्थ नहीं हो पाएगी।

मैं जिक्र करना चाहूँगा एक ऐसे भावभीने प्रसंग का जिसे याद कर-करके मैं अभिभूत होता हूँ। यह प्रसंग जुड़ा है राजा उदायी के जीवन से। कहते हैं : एक बार राजा उदायी अपने राजमहल के झरोखे में बैठे हुए आकाश में बनते-बिगड़ते बादलों को देख रहे थे। बादलों की बनती और बिगड़ती स्थिति ने उनके चित्त में ऐसा परिवर्तन ला दिया कि वे उसी क्षण वैराग्यवासित हो गए। चूँकि उनके कोई पुत्र तो था नहीं, उन्होंने अपने एक दूर के परिचित व्यक्ति को सिंहासन सौंपकर संन्यास ग्रहण कर लिया। वे राजमहलों को छोड़कर जंगलों की तरफ चल दिए। कुछ दिनों बाद वहाँ उन्हें भगवान महावीर का सान्निध्य मिला जिससे उनका वैराग्य भाव और भी अधिक दृढ़ हो गया।

एक बार राजर्षि उदायी ने भगवान महावीर से निवेदन किया, 'प्रभु ! मैं आपके शान्ति, अहिंसा, करुणा और दयामार्ग के प्रचार-प्रसार के लिए मैं इन्हें उस राज्य में ले जाना चाहता हूँ जहाँ का कभी मैं राजा हुआ करता था। आपके संदेश को वहाँ प्रचारित करने में मुझे सुविधा रहेगी क्योंकि वहाँ सभी लोग मेरे पूर्व परिचित हैं। भगवान ने उदायी की बात सुनकर साधुवाद दिया और अपनी अनुमति प्रदान की। राजर्षि उदायी भगवान महावीर का सान्निध्य छोड़कर अपने राज्य की तरफ चल पड़े। जब उस राज्य के राजा को इस बात का पता चला कि राजर्षि

उदायी उसके राज्य की तरफ आ रहे हैं तो वह बहुत ही खुश हुआ। उसने उनके स्वागत और अगवानी के लिए जोर-शोर से तैयारियाँ प्रारंभ करवा दीं।

राज्य के गणमान्य व्यक्ति राजर्षि के दर्शन और वन्दन के लिए पहुँचने लगे। जब उदायी ने यह सब देखा तो वे इस बात से अभिभूत हो गये कि मेरे राज्य के लोग अब भी मेरा इतना सम्मान करते हैं। पूरा राज्य राजर्षि के आगमन की तैयारियों में जुटा था, पर बात बिगाड़ने वालों की और चुगलखोरों की भी कहाँ कमी होती है? दुनिया में विदुर कम मिलेंगे, शकुनि ज्यादा होते हैं। महाराणा प्रताप कम, जयचन्द्र ज्यादा मिलेंगे।

एक ऐसा ही जयचन्द्र राजा के पास पहुँचा और बोला कि यह सारा राज्य एक व्यक्ति की अगवानी के लिए इतना व्यस्त है जो एक बहुत बड़ा आश्चर्य है। राजा ने कहा, 'इसमें आश्चर्य की क्या बात है? राजा उदायी स्वयं इस राज्य में पधार रहे हैं। हमें उनका स्वागत तो करना ही चाहिए।' वह व्यक्ति बोला, 'राजन्, आपको पता भी है कि पूर्व महाराज इतना लम्बा और उग्र विहार करके और महावीर जैसे भगवत् और दिव्य पुरुष का सान्निध्य छोड़कर यहाँ आपसे अपना राज्य वापस लेने आ रहे हैं अन्यथा महावीर जैसे वीतराग पुरुष का सान्निध्य छोड़ने और ऐसे उग्र विहार करने का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।'

कहते हैं कि तीन लोगों के पास अक्ल नहीं होती। एक तो है बंदर जिसे बस नकल करना आता है। दूसरा है बाजा जिसे दूसरों ने बजाया तो बजा अन्यथा चुप-चाप पड़ा रहा और तीसरा है राजा जिसे मंत्रियों, सलाहकारों और चाटुकारों ने जैसा सुझाया या समझाया, वैसे ही वह चलता और समझता है।

उस व्यक्ति की बात सुनकर राजा विचलित हो उठा। राजा ने कहा, 'मुझे तुम्हारी बात में कुछ तो सच्चाई लगती है अन्यथा उदायी इतना उग्र विहार करके इस ओर क्यों आते, पर उदायी मुझ तक पहुँच कर राज्य माँग सके, उसके पहले ही मैं ऐसी व्यवस्था करूँगा कि वह मेरे करीब ही न पहुँच सके।'

राजा ने दूसरे राज्य में यह घोषणा करवा दी कि 'कोई भी व्यक्ति संत उदायी की अगवानी न करे। न उन्हें अन्न-जल दे और न ठहरने का स्थान ही। जिस व्यक्ति ने भी राजाज्ञा का उल्लंघन किया, उसके घर को जला दिया जाएगा। उसके हाथ-पाँव जंजीरों से बांधकर उसे कारागृह में डाल दिया जाएगा। उसके बाद भी उसे सख्त से सख्त सजा दी जाएगी।' सारी प्रजा यह घोषणा सुनकर

स्तब्ध रह गयी, पर राजाशा के विरुद्ध कोई कैसे बोल सकता था? राजाशा के आगे तो सबको अपना सिर नवाना ही पड़ता है।

उदायी विहार करते-करते नगर तक आ पहुँचे। उनको देखते ही लोग अपने-अपने घरों के दरवाजे और खिड़कियाँ बन्द करने लगे। रास्ते में चलने वाले लोग उन्हें देखकर किसी ओट में छिपने लगे। हर व्यक्ति यह कोशिश कर रहा था कि उदायी की नजर उस पर न पड़ जाए। यदि सिपाहियों ने उदायी से बात करते हुए उन्हें देख लिया तो उन्हें जेल में सड़ना पड़ेगा। उदायी नीची नजरें किये चले जा रहे थे। वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि आखिर क्या कारण है जिससे उनके साथ यह व्यवहार किया जा रहा है? तभी उनकी नजर राह चलते एक आदमी पर पड़ी। उन्होंने उसे आवाज लगाई और कहा, 'अरे भाई, बात तो सुनो।' वह व्यक्ति उदायी का पूर्व दीवान ही था। वह भी उनकी बात अनसुनी करके निकल गया।

उदायी एक लम्बा और थकान भरा विहार करके आ रहे थे। उन्हें चलते-चलते दोपहर हो गई। धरती अंगारे की तरह तप रही थी। भूख के मारे उनकी आँतें चिपक रही थीं और कण्ठ प्यास से सूख रहा था, पर उन्हें किसी घर से न तो आहार मिला और न ही आश्रय।

साँझ ढलने को थी और वे चलते-चलते ठेठ नगर की अन्तिम सीमा तक पहुँच गए, जहाँ से बस्ती खत्म होती थी। उन्हें वहाँ एक झोपड़ी दिखाई दी जिसके बाहर एक कुम्हारिन बैठी थी। कुम्हारिन ने सन्त उदायी को देखकर कहा, 'वंदन, महाराज। किधर से पधार रहे हो?' संत उदायी बोले, 'शहर से आ रहा हूँ।' कुम्हारिन बोली, 'इतने बड़े नगर में आप क्यों नहीं ठहरे?' संत ने जवाब दिया, 'स्थान न पा सका इस नगर में।' कुम्हारिन बोली, 'अरे! इतना बड़ा शहर, इतने सम्भ्रांत लोग और आप स्थान न पा सके!' संत शांत स्वर में बोले, 'मैं नहीं जानता कि इसका कारण क्या है? मेरे साथ वहाँ ऐसा व्यवहार क्यों किया गया? पर यह सत्य है कि मैं वहाँ अन्न, जल और स्थान तीनों ही न पा सका।'

कुम्हारिन बोली, 'आग लगे ऐसे नगर को जहाँ आप जैसे दिव्य संत के लिए जगह और अन्न-जल न हो। आप थोड़ा ठहरें। मैं अन्दर जाकर अपने पति से कहकर आपके रहने और खाने का प्रबन्ध कराती हूँ।' कुम्हारिन अन्दर जाकर कुम्हार से कहती है, 'अरे! देखो, अपने झोपड़े के बाहर एक संत आए हैं। तुम जल्दी से बाहर जाओ और उनसे आहार-पानी का अनुरोध करो तथा उनके ठहरने की व्यवस्था करो।'

कुम्हार ने घड़े बनाते-बनाते ही कहा, 'अरे ! इन पाखण्डियों से कौन माथा लड़ाए ? काम-धाम तो कुछ करते नहीं और महाराज बनकर घर-घर भीख माँगते फिरते हैं।' कुम्हारिन गुस्से से बोली, 'वे बड़े दिव्य संत हैं। तुम उन्हें पाखण्डी मत कहो। यदि तुम यहाँ से उठकर उन संत के पास नहीं गये और उनकी आहार आदि की व्यवस्था नहीं की तो आज शाम को तुम्हारा भी हुक्का-पानी बंद समझो।'

कुम्हार अपनी कुम्हारिन के स्वभाव को जानता था। वह उठा और बोला, 'तू इतनी नाराज क्यों होती है? एक-दो रोटी मैं उनको भी दे दूँगा।' यह कहते हुए कुम्हार बाहर गया। वहाँ उसने देखा कि एक संत खड़े थे। कुम्हार ने कहा, 'महाराज! क्या नाम है आपका?' संत ने जवाब दिया, 'उदायी।' संत का नाम सुनते ही कुम्हार काँपने लगा। उसे राजाज्ञा याद हो आई। वह वहीं से चिल्लाया, 'अरे कुम्हारिन, जानती भी है कि ये कौन हैं? ये संत उदायी हैं। तू तो मेरे हुक्के-पानी को बंद करने की बात करती थी, पर यदि इनको आहार या स्थान दिया गया तो हमारा झोपड़ा ही जला दिया जाएगा।' कुम्हारिन बोली, 'अहो ! तो क्या ये राजर्षि उदायी हैं? हमारा अहोभाग्य है कि एक राजा चलकर खुद हमारी झोंपड़ी तक आये हैं और तुम अपने द्वार पर आए एक राजर्षि को यों ही लौटा रहे हो? राजा हमारी झोपड़ी ही जलवा देगा ना। अच्छा है कि इस झोंपड़ी की खाक उसके भभूत रमाने के काम आएगी। ज्यादा से ज्यादा वह मुझे उठा ले जाएगा ना ! ले जाए; मुझे ले जाएगा तो क्या करेगा, गुलाम ही तो बनाएगा। मुझसे अपनी गुलामी ही तो करवाएगा। मुझे यह मंजूर है। और तो हमारे पास कुछ है नहीं। सामान के नाम पर ये टूटे-फूटे ठीकरे हैं। ये भी ले जाए तो अच्छा ही है। यदि उसे भी कोई उसके जैसा राजा मिल जाए और उसे राज्य से निष्कासित कर दे तो ये ठीकरे उसके भोजन के काम आएँगे। और क्या ले जाएगा, यह गधा ? ले जाए। उसके बैठने के काम आएगा। ऐसा राजा गधे पर नहीं बैठेगा, तो किस पर बैठेगा।'

कुम्हारिन की इतनी दृढ़ता और साहस को देखकर कुम्हार अभिभूत हो उठा। वह बोला, 'कुम्हारिन, तुम ठीक कहती हो। हमें अपने द्वार पर आए राजर्षि को नकारना नहीं चाहिए। हम इनके आहार और आश्रय की व्यवस्था अवश्य करेंगे, चाहे इसके बदले हमें सूली पर ही क्यों न चढ़ना पड़े !' तब कुम्हार और कुम्हारिन, संत उदायी से निवेदन करते हैं। 'महाराज, आप हमारी इस झोंपड़ी में पधारें। यह आपको समर्पित है और हमारी यह रूखी-सूखी रोटी स्वीकार करें।' कुम्हारिन ने कुम्हार को निर्देश दिया कि जब तक महाराज झोंपड़ी के भीतर अपनी आहार-

चर्या पूर्ण करें, तब तक तुम यहीं खड़े रहो और यदि तुम्हें झूठ भी बोलना पड़े तो वह भी बोल देना लेकिन बीच में व्यवधान न आने पाए।

राजर्षि उदायी अभी भी उतने ही शान्त, सहज और प्रसन्नचित्त थे जितना कि वे नगर में प्रवेश करते समय रहे थे। उनके चित्त में रूखी रोटी को खाते हुए भी वैसी ही प्रसन्नता और समता थी। भगवान कहते हैं कि जिस चित्त में समता की ऐसी स्थिति बनी रहती है, वहीं सामायिक चारित्र होता है और वहीं वास्तविक सामायिक सधती है।

धन्य हैं ऐसे लोग जो अपने द्वार पर आए किसी संत को खाली हाथ नहीं लौटाते, चाहे इसके लिए उन्हें राजाज्ञा को भी नकारना पड़े और तब कहते हैं कि राजर्षि उदायी जब महावीर के पास पहुँचते हैं तो स्वयं महावीर उनके सम्मान में खड़े हो जाते हैं और कहते हैं, 'धन्य है तुम्हारी समता और सहजता, धन्य है तुम्हारा सामायिक चारित्र !

यही है, चित्त की हर हालत में रहने वाली समतावृत्ति जिसकी महावीर ने प्रथम आवश्यक के रूप में अपनी ओर से निरंतर प्रेरणा दी।

भगवान ने दूसरे 'आवश्यक' के रूप में जिसे प्रतिपादित किया, वह है स्तवन या संस्तुति।

स्तवन का अर्थ है, 'तीर्थकरों के नामों की निरुक्ति तथा उनके गुणों का कीर्तन करना।' गंध-पुष्प-अक्षत आदि से पूजा-अर्चना करके मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक उन्हें प्रणाम करना स्तवन नामक 'आवश्यक' है।

धन्य हैं वे हाथ जो प्रतिदिन परमात्मा की पूजा-अर्चना किया करते हैं। धन्य हैं वे कान जो प्रतिदिन परमात्मा की वाणी और परमात्मा के गुणों का श्रवण किया करते हैं। धन्य हैं वे कण्ठ जो परमात्म-स्तुति-कीर्तन के लिए मुखरित होते हैं और धन्य हैं वे नेत्र जो परमात्म-पुरुष के दर्शन को तत्पर रहते हैं। जो न केवल किसी मंदिर की प्रतिमा में, वरन् प्रत्येक प्राणी में ही उस प्रभु के दर्शन किया करते हैं, ऐसे नेत्रों का बाजार में विचरण भी मंदिर में परिक्रमा लगाने के समान होता है।

मैं बाबा फरीद के जीवन की एक असाधारण घटना का उल्लेख करना चाहूँगा। बाबा फरीद हिन्दू और मुस्लिम – दोनों ही संप्रदायों में समान रूप से प्रिय थे। वे कहा करते थे कि 'खुदा मुझ में है, मैं खुदा में हूँ। सत्य मुझमें स्थित है, मैं सत्य में स्थित हूँ।' उनकी ईश्वर के प्रति अटूट आस्था थी।

बाबा फरीद की बातों से वहाँ का बादशाह नाराज हो गया। उसने बाबा फरीद को मृत्युदंड की सजा सुनाई। सजा भी ऐसी कि भरी सभा में बाबा फरीद की चमड़ी को सिपाहियों द्वारा खींचा गया। जब बाबा के शरीर के नाम पर केवल माँस के लोथड़े रह गए तो उन्हें देश-निकाले की सजा सुनाई गई।

बाबा फरीद उसी हालत में दरबार से बाहर निकले। चमड़ी उनके शरीर से ऐसे ही नोंच ली गई थी जैसे किसी भरे हुए बैल या बकरी की चमड़ी खींच-खींच कर उतारी जाती है। माँस के उन लोथड़ों में से खून रिस रहा था। उन्हें देखकर लोग भी ग्लानि से भर उठे, पर वे अब भी अपने खुदा की इबादत में लीन थे।

बाबा फरीद चलते-चलते गाँव के बाहर आ पहुँचे जहाँ उनकी शिष्य-मंडली उपस्थित थी। जब शिष्यों ने बाबा फरीद की यह हालत देखी तो उनकी आँखों से आँसू निकल पड़े।

बाबा फरीद की हिम्मत अब चलने या बैठने की न रही। वे घड़ाम से जमीन पर गिर पड़े। माँस के लोथड़ों को देखकर कौए और गिद्ध उन पर टूट पड़े। दूर-दूर से कौओं के झुण्ड उन लोथड़ों को नोचने के लिए आने लगे। तब उस अंतिम घड़ी में आकाश की तरफ आँखें गड़ाते हुए बाबा फरीद के हृदय से जो दो पंक्तियाँ फूटीं, वे हमें आज भी अभिभूत कर देती हैं। उनके भावों की गहराइयों में खोते हुए, हमारी हृदय की आँखें गीली हो जाती हैं। उन्होंने कहा –

*कागा सब तन खाइयो, चुन-चुन खाइयो मांस।*

*दो नैना मत खाइयो, मोहे पिया मिलन की आस ॥*

ये पंक्तियाँ सुनने जैसी नहीं, हृदय में उतारने जैसी हैं। बाबा फरीद जब अपने शरीर के उन माँस के लोथड़ों को कौओं के द्वारा नोचते देखते हैं तो वे कहते हैं- 'अरे कौओ ! तुम मेरा सारा तन, सारा माँस नोंच-नोंच कर खा लेना, पर तुमसे मेरी इत्तिजा है कि मेरी इन दो आँखों को मत खाना, क्योंकि ये अभी तक उस परमात्मा से, उस खुदा से मिलन की आस संजोए हैं।'

ऐसी गहरी प्रार्थना, स्तवना या संस्तुति कि जहाँ व्यक्ति अंतिम समय में भी अपने नेत्रों की रक्षा इसलिए चाहता है कि जब कभी उसका प्यारा परमात्मा साकार हो तो नयन उसके दर्शन कर सकें।

भगवान कहते हैं कि ऐसे शुद्ध हृदय से वीतराग पुरुषों की, परमात्मा और भगवत् पुरुषों की भक्ति तीर्थकर नामककर्म का बंध करती है। कितना सरल उपाय है

तीर्थकर पद पाने का। ज्ञानी बनने के लिए ज्ञान चाहिए, तपस्वी बनने के लिए शरीर की शक्ति अपेक्षित है, पर भक्ति करने के लिए तो मात्र 'बाल हृदय' चाहिए। भक्त तो वही बन सकता है जो अपने आप को हर तरह से प्रभु का मानता है।

रावण ने भी इस स्तवना के द्वारा, इस भक्तियोग के द्वारा ही तीर्थकर नाम-कर्म बाँधा। परमात्मा की भक्ति, उनका स्तवन तो स्वयं के रूप, और शक्ति को जानने में सहायक होता है। देवचन्द्र कहते हैं—

*अज कुलगत केसरी लहे रे निज पद सिंह निहाल।*

*तिम प्रभु भक्ति भवि लहे रे आतमशक्ति संभाल ॥*

बड़ा अच्छा पद और बड़े ही गहरे भाव हैं। परमात्मा या वीतराग पुरुषों के दर्शन और उनकी संस्तुति चेतना को जागृत करने में कैसे सहायक होती है, इसके लिये बड़ा ही अच्छा उदाहरण दिया गया। कहते हैं, एक शेर का बच्चा अपने परिवार से बिछुड़ गया और वह भेड़ के टोलों में ही पला और बड़ा हुआ। भेड़ के टोले में रहने के कारण वह भी उनकी तरह मिमियाता। वह अपना सिंहत्व भूल ही गया। एक दिन जब वह भेड़ के टोले के साथ नदी में पानी पीने गया तो उसने अपने अक्स को, अपने वास्तविक रूप को देखा। उसे ध्यान आया, 'अहो ! मैं तो सिंह हूँ, मैं भेड़ नहीं हूँ। मुझमें अपार बल और शक्ति है। मैं इस भेड़ के टोले में क्या कर रहा हूँ ?' अपनी शक्ति का भान होते ही सिंह का बच्चा जोर से गर्जना करता है। उसका सिंहनाद सुनकर सभी भेड़ें डर कर भाग जाती हैं।

जैसे शेर के बच्चे को पानी में अपनी छवि देखकर अपना सिंहत्व याद आ गया, वैसे ही जब हम परमात्मा की प्रतिमा, उनकी वीतराग मुद्रा देखते हैं तो हमें भी यह ध्यान आता है कि ये भी मेरी तरह पूर्व में संसारी थे, कर्म के आवरण से घिरे थे, पर इन्होंने पुरुषार्थ कर वीतराग और परमात्म-पद को पा लिया। मैं भी यदि अपनी शक्ति का उपयोग करूँ तो परमात्मा बन सकता हूँ। मैं स्वयं सिद्धों की संतान हूँ।

परमात्मा की भक्ति, उनके दर्शन व्यक्ति को उसकी वास्तविक शक्ति, अपार सामर्थ्य, उसके निजत्व और जिनत्व का बोध कराते हैं। जैसे ही सुबह आँख खुले, दो मिनट के लिये ही सही, प्रिय प्रभु की स्तुति में जुट जाओ। यह प्रार्थना तुम्हारे पूरे दिन को स्फूर्त कर उसे ऊर्जा देती रहेगी और तुम्हारे चित्त को प्रसन्नता के अहसास से भर देगी। रात को जब सोने के लिए जाओ, तब सोने से

पहले उस परमात्मा को धन्यवाद दो, उसके गुणों का कीर्तन और स्तुति करो। यदि तुम ऐसा करके सोते हो तो तुम्हारी रात भय-मुक्त होगी।

भगवान ने जो तीसरा 'आवश्यक' कहा, वह है 'प्रतिक्रमण'। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारों स्थितियों में किसी भी तरह का अपराध हो जाए तो उस अपराध की निंदा करना, उस अपराध की गह्रा या आलोचना करना और उस अपराध को मिथ्या करने का प्रयास करने का नाम ही 'प्रतिक्रमण' है।

अपराध या गलती हो जाना स्वाभाविक है। मनुष्य तो क्या देवताओं से भी गलती हो जाया करती है, पर उस गलती पर पश्चात्ताप करना और उस गलती को फिर कभी न दुहराने का संकल्प करना ही प्रतिक्रमण है।

सुबह-शाम बैठकर प्रतिक्रमण के पाठों को दोहराना तो मात्र द्रव्य प्रतिक्रमण ही है, पर सच्चा प्रतिक्रमण तो तब होता है जब व्यक्ति सुबह-शाम एकांत में बैठकर यह चिंतन करता है कि मुझसे अब तक क्या-क्या पाप, अपराध या गलतियाँ हुई हैं? उसकी चेतना में पश्चात्ताप के अंकुर प्रस्फुटित होते हैं। उसका हृदय इस दृढ़ संकल्प से भर जाता है कि अब मैं इन गलतियों को किसी भी परिस्थिति में नहीं दोहराऊँगा। प्रतिक्रमण के ऐसे भाव व्यक्ति की चेतना को परम उत्कृष्ट स्थिति तक पहुँचा देते हैं।

आप लोगों को मृगावती के केवलज्ञान प्राप्त करने की घटना का स्मरण होगा। मृगावती, भगवान के सभामंडप में उनकी देशना सुन रही थी। वहीं सूर्य और चन्द्र दोनों एक साथ देशना सुनने आए थे, इसलिए प्रकाश इतना अधिक था कि कब सूर्यास्त हो गया, पता ही नहीं चल सका। मृगावती वहीं बैठी हुई देशना सुनती रहीं। अचानक सूर्य और चन्द्र, दोनों भगवान की देशना सुनकर अपने-अपने स्थान पर लौटने लगे। जैसे ही वे अपने स्थान पर लौटे, मृगावती ने देखा तो वह चौंकी कि बाहर तो घटाटोप अंधेरा छा गया था। अमावस्या की सघन काली रात्रि ने अपना पहरा चारों ओर जमा दिया था। मृगावती तुरंत अपने रहने के स्थान की तरफ खाना हुई।

वह जैसे ही अपने स्थान पर पहुँची कि चन्दनबाला ने उसे उपालंभ दिया और देर से लौटने के कारण डाँटा भी।

वह प्रतिक्रमण के लिए बैठ गई और उसके हृदय में बार-बार प्रायश्चित्त के भाव आने लगे कि 'अहो ! मेरी नासमझी के कारण, मेरे द्वारा मर्यादा भंग के

कारण आज मेरी गुरुणी को ऊँचे स्वर में बोलना पड़ा। मैंने अपराध किया है। मेरे द्वारा गलती हो गई है। मुझसे बड़ी भारी भूल हुई है।' वह पश्चात्ताप के भाव में इतनी भर गई कि प्रतिक्रमण करते-करते उसे केवल ज्ञान, परम ज्ञान, परमदर्शन प्राप्त हो गया।

पता तब चला जब रात्रि को साध्वी मृगावती ने अपनी गुरुणी के हाथ के पास से साँप को गुजरते देखा। उन्होंने धीरे से महासती चन्दनबाला का हाथ खिसका दिया ताकि साँप को रास्ता मिल सके। जैसे ही चन्दनबाला का हाथ मृगावती ने खिसकाया, उनकी नौद खुल गई। उन्होंने मृगावती से इसका कारण पूछा तो उसने कहा, 'वस्तुतः इधर से एक साँप गुजर रहा था। उसे जाने का रास्ता आराम से मिल सके, इसीलिए मैंने आपका हाथ खिसकाया।

महासती चन्दनबाला चौंक उठी और बोली, 'क्या इस अमावस्या की सघन काली रात्रि में भी तुम्हें साँप दिखाई दे गया?' मृगावती बोली, 'यह सब आपकी ही कृपा है।' चन्दनबाला बोली, 'तो क्या तुम केवलज्ञान, केवल दर्शन की स्वामिनी बन गई हो? मृगावती बोली, 'यह सब आपकी ही कृपा है।'

चन्दनबाला पश्चात्ताप के भावों में भर गई, 'अहो, मुझसे कितना बड़ा दुष्कृत्य हो गया। मेरे द्वारा एक केवली की आशातना हुई है।' कहते हैं कि प्रतिक्रमण के भावों में एक ही रात में दो साध्वियों को केवलज्ञान उपलब्ध हुआ। यह है प्रतिक्रमण का प्रभाव।

हम भी कोई ऐसा प्रतिक्रमण करें। जब तुम मंदिर जाओ तो परमात्मा को फूल मत चढ़ाना बल्कि शाम को तुमने एकांत में बैठकर जो अपने द्वारा अतीत में हुए, वर्तमान में हो रहे पापों और अपराधों की गठरियाँ बनाई हैं, उन्हें परमात्मा को पुष्पों की जगह समर्पित कर देना। तुम परमात्मा से प्रार्थना करना, 'प्रभु! मेरे पास तुझे समर्पित करने के लिए अपने दुष्कर्म ही हैं, क्योंकि तू ही मुझे उनसे मुक्त कर सही मार्ग प्रदान कर सकता है। मेरे पास पुण्य तो थोड़े ही हैं, पर यदि मैं तुझे पश्चात्ताप के भाव से अपराध भी सौंपता हूँ तो मैं जानता हूँ कि तू प्रतिफल में मुझे पुण्य ही प्रदान करेगा। तू मेरे पापों को क्षमा कर प्रभु! क्षमा कर।'

जहाँ ऐसी भावदशा आ जाती है, वहीं चेतना को वास्तविक प्रतिक्रमण के भाव उपलब्ध होते हैं। केवल प्रतिक्रमण के पाठ दोहरा लेने से कुछ फायदा नहीं होने वाला है। हम प्रतिक्रमण को थोड़ा व्यावहारिक बनाएँ। एक कॉपी बना लें और उसमें स्वयं द्वारा होने वाला हर एक अपराध, एक-एक गलती लिखें। इस

भावना के साथ अपने अपराध स्वीकार करें कि जो गलत हुआ, उसके लिए मैं 'मिच्छामि दुक्कडं' लेता हूँ। अपने उस पाप को मिथ्या मानकर उसकी क्षमा चाहता हूँ और आगे के लिए यह संकल्प लेता हूँ कि मैं इन अपराधों से सदा बचा रहूँगा।

जब तक प्रतिक्रमण के साथ ये भाव नहीं जुड़ेंगे, तब तक व्यक्ति सुबह-शाम बैठकर सूत्रों को ऐसे ही पढ़ता रहेगा जैसे किसी रेस में घोड़े दौड़ाए जाते हैं। उसे उन सूत्रों के पीछे छिपे सम्यक् अर्थ का न तो कोई बोध होता है और न ही प्रतिक्रमण के भावों का कोई अता-पता ही लगता है। बस, प्रतिक्रमण के पाठ बोलने वाला बोलता जाता है और बाकी के लोग तो उसमें तब जुड़ते हैं जब कोई नवकार का कायोत्सर्ग आए। इसके अलावा उन्हें कुछ समझ में नहीं आता। मैं नहीं जानता कि इसे प्रतिक्रमण कहा जाए भी या नहीं, जहाँ पापों के प्रायश्चित्त के कोई भाव नहीं होते।

मेरे अनुसार तो प्रतिक्रमण के पाठ दोहराना उतना जरूरी नहीं है, जितना प्रतिक्रमण की भावदशा को उपलब्ध होना है। व्यक्ति एकान्त में बैठकर अपनी भूलों को न दोहराने का संकल्प स्वीकर कर ले और वह यदि इन सूत्रों को न भी बोले तो भी उसका सच्चा प्रतिक्रमण हो जाता है।

हम प्रतिक्रमण में 'छह आवश्यक' संपादित करते हैं, पर क्या हममें प्रतिक्रमण में पूरे समय यह सजगता बनी रहती है कि अभी मेरे द्वारा अमुक आवश्यक पूरा किया जा रहा है ? हमें यह भान ही नहीं रहता कि कब हमने प्रथम 'सामायिक आवश्यक' किया, कब स्तवन किया और कब वन्दन। हम तो इसे भी एक काम, एक भार समझ कर तुरन्त निपटाते जाते हैं और पता भी नहीं चलता कि हमारा प्रतिक्रमण क्या-क्या बोलते और क्या-क्या सोचते हुए पूर्ण हो गया।

हमारी आदत तो वही बनी रहती है, शाम को प्रतिक्रमण और सुबह वे ही पाप। लोग सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं, पर प्रतिक्रमण करने के बाद भी वे वैसे ही बने रहते हैं जैसे कि वे प्रतिक्रमण करने से पहले थे। तो फिर क्या फायदा ऐसे प्रतिक्रमण का?

*मक्का गया, हज किया, बनकर आया हाजी।*

*आजमगढ़ में जब से लौटा फिर पाजी का पाजी ॥*

यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति धर्म के सौ-सौ कार्य करे। वह केवल एक-दो ही धार्मिक कार्य करे, पर वे कृत्य ऐसे हों कि वे जीवन में परिणाम प्रदान कर सकें। हमारे जीवन में, हमारे व्यवहार और स्वभाव में परिवर्तन ला सकें।

यह आवश्यक नहीं कि सौ मालाएँ फेरी जाएँ। माला एक ही फेरी जाए, पर वह पूर्ण मनोयोग के साथ। कोई भी कार्य यदि मनोयोग के साथ किया जाता है तो वह अवश्य ही फलदायी होता है।

आप प्रतिक्रमण के पाठ बोलते समय एक सूत्र बोलते हैं— 'सिद्धाणं-बुद्धाणं।' उसमें एक पंक्ति आती है 'इक्कोवि णम्मक्कारो जिणवर वसहस्स वद्धमाणस्स संसार सागराओ तारेइ नरं वा नारि वा।' यदि एक बार भी जिनेश्वर देव को भावपूर्वक नमस्कार किया जाता है तो वह एक नमस्कार ही व्यक्ति को संसार-सागर से पार लगा देता है।

हमने तो हजार-हजार बार नमस्कार कर लिए, पर हम तो संसार-सागर के पार नहीं पहुँचे। कारण यही है कि हमने भावपूर्वक नमस्कार ही नहीं किया। मूल्यवान है व्यक्ति की भावदशा। हम बाहर तो बोलते हैं 'तिक्खुत्तो' और अन्दर चलता है 'तू कुत्तो'। यदि बाहर और भीतर दोनों स्थितियों में समानता न हुई तो व्यक्ति जीवन में परिणाम को उपलब्ध नहीं कर पाएगा। हम भावपूर्वक प्रतिक्रमण करें, अपने पापों का संकल्पपूर्वक, स्मरणपूर्वक प्रायश्चित्त करें ताकि वे पाप हमसे फिर-फिर न हो सकें।

अगला 'आवश्यक' कर्म है 'वंदन'। पहले लोग भगवान के पास, अपने गुरु के पास या अपने किसी परमोपकारी के पास जाते तो सर्वप्रथम उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ लगाई जाती थीं। मैं आपको यह भगवान महावीर के समय की वंदन-प्रक्रिया बता रहा हूँ। आज तो लोग तीन बार माथा झुका देते हैं और हो गई उनकी परिक्रमा। तीन प्रदक्षिणा भगवान या गुरुजनों को देने के पश्चात् उनका पंचांग प्रणिपात वंदन किया जाता था।

आज स्थानकवासी या तेरहपंथी समाज में फिर भी वंदन की परंपरा है। वे तिक्खुत्तो का पाठ बोलकर वंदन करते हैं, पर मंदिरमार्गी तो इस मामले में शिथिल हो गए हैं। वे सिर्फ चरण-स्पर्श कर लेंगे और हो गई उनकी वन्दना पूर्ण।

मैं एक शहर में चातुर्मास कर रहा था। वहाँ घुटनों को धोक लगाई जाती थी। अब तो यह परंपरा भी शायद खत्म होने को है, क्योंकि घुटनों तक भी कौन झुके, इसलिए बस अपने हाथ जोड़कर थोड़ा-सा सिर झुका लेंगे और हो गया प्रणाम। लोगों की कमर इसलिए दुखती है क्योंकि वे झुकना नहीं जानते। याद रखें कि कच्ची केरी ही ऊँची चढ़ी रहती है। आम तो जैसे-जैसे रसीला होता है वैसे-वैसे झुकता जाता है।

हमारे द्वारा प्रणाम समर्पित करने से गुरुजनों को कुछ नहीं मिलता, वरन् प्रणाम करके हम अपने ही कर्मों की निर्जरा करते हैं। हमारे पास लोग आते हैं और विनीत भाव से वन्दन करते हैं। यह उनका सौभाग्य है कि किसी संत को देखकर उनके हाथ जुड़ते हैं, माथा झुकता है। वे हमसे मंगल पाठ देने को कहते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि एक ही दिन में दो सौ-तीन सौ बार मंगल पाठ का उच्चारण हो जाता है। कभी-कभार लोग पूछते हैं कि 'क्या आपको बार-बार मंगल पाठ देने में कोई तकलीफ नहीं होती? मैं कहता हूँ कि 'अरे ! तकलीफ कैसी, बल्कि मुझे तो आपका शुक्रिया अदा करना चाहिए कि आप लोगों ने मुझे परमात्मा के नाम-स्मरण और उनके मंत्र के उच्चारण का मौका दिया। आप तो परमात्मा की स्तुति की स्मृति दिलाने में मेरे सहायक बने।' मंगल पाठ में नवकार मंत्र ही तो बोला जाता है। जिस महामंत्र के लिए कहा जाता है - 'अडसठ अक्षर एहना जाणो अडसठ तीर्थ सार।' इन अडसठ अक्षरों के स्मरण मात्र से अडसठ तीर्थों की वंदना का लाभ मिल जाता है। एक नवकार के स्मरण से पाँच महान पदों की, पंच परमेष्टि की वंदना हो जाती है।

वन्दन करने से व्यक्ति अपने कर्मों की निर्जरा कर लेता है, उनका क्षय कर लेता है। अहंकार को तोड़ने का, ईगो को खत्म करने का एक ही माध्यम है और वह है 'वन्दन'। हम याद करें बाहुबलि को, जो वन्दन न कर पाने के कारण चौदह साल तक वनों में उग्र तपस्या करते रहे फिर भी केवलज्ञान को प्राप्त न कर सके। जब उनकी अपनी ही बहिनों ने उन्हें वन में इस तरह उग्र तपस्या करते देखा तो उन्होंने बाहुबलि के अभिमान को तोड़ने के लिये कहा था : 'वीरा म्हारा, गज थकी नीचे उतरो।' अभिमान के गज पर चढ़कर किसी को केवलज्ञान नहीं मिलता है।

केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिए अहंकार को विगलित करना प्रथम आवश्यक है। सरलता और निरभिमानता ही व्यक्ति को आगे के सोपानों तक पहुँचाती है। आप सुबह उठते हैं तो भगवान की प्रार्थना के बाद घर के सभी सदस्यों का अभिवादन करें। बेटा बाप के, बाप बेटे के, बहू सास के और सास बहू के सब एक-दूसरे के प्रति अभिवादन करें। यह मत सोचें कि ऐसा करने की तो हमारे घर में परंपरा ही नहीं है। परंपरा तो आप डालेंगे तो पड़ जाएगी।

अगर बेटा सुबह उठकर आपको नमस्कार न करे तो आप ही अपनी तरफ से कह दें - 'बेटा, नमस्कार।' उसको भी आपके अभिवादन का जवाब देना ही होगा और वह अगले दिन से स्वयं ही आपको पहले नमस्कार कर देगा।

जिस घर के सभी सदस्यों द्वारा ऐसे विनय का और ऐसी निरभिमानता का पालन किया जाता है, वहाँ का वातावरण सदैव मधुर और सौम्य रहता है। जब बेटा या बहू अपनी मर्यादा-शिष्टता को रखते हुए सुबह उठते ही बुजुर्गों के पाँव छूते हैं तो बड़ों के हृदय से उनके लिए आशीष ही निकलता है – 'खुश रहो'। उन शब्दों का आभामंडल घर के सारे वातावरण को सौम्य और निर्मल बना देता है।

भगवान ने विनय को धर्म का मूल बताया है। जहाँ भी गुरुजन मिल जाएँ, जो भी गुरुजन मिल जाएँ, उन्हें बड़े प्यार से वन्दन करें। रास्ते में आप जा रहे हैं और आपको अपने गुरु दिख जाते हैं, चाहे उनसे आपने बारहखड़ी ही सीखी हो, स्कूटर रोकें, उन्हें प्रणाम करें और अपने रास्ते चल दें। आपको ऐसा करने में शायद आधा मिनट ही लगेगा पर आपके द्वारा समर्पित किया गया प्रणाम गुरु के हृदय में वह जगह बना जाएगा कि वे आधे घंटे तक आपको दुआएँ देते रहेंगे कि उसका विद्यार्थी आज इतना बड़ा व्यक्ति बन गया है पर वह अब भी अपने 'प्राइमरी टीचर' का इतना सम्मान करता है।

यह सदैव स्मरण रखो कि चाहे तुम विश्वविद्यालय के कुलपति भी हो जाओ, पर जिससे तुमने बारहखड़ी सीखी है, उसके आदर और सम्मान में कभी कमी मत आने दो।

पाँचवाँ आवश्यक कर्म है 'कायोत्सर्ग'। देह के प्रति ममत्व के त्याग का नाम ही कायोत्सर्ग है। हम प्रतिक्रमण के दौरान कायोत्सर्ग की क्रिया संपादित करते हैं। कायोत्सर्ग का आज क्या स्वरूप है? आज तो कायोत्सर्ग के नाम पर चार या आठ नवकार गिन लिए जाते हैं और समझते हैं कि कायोत्सर्ग हो गया। कायोत्सर्ग ऐसे नहीं होता।

मूलतः धर्म ने यह सीख दी थी कि सत्ताईस श्वासोश्वास तक अर्थात् सत्ताईस बार श्वास का आना और सत्ताईस बार श्वास का जाना, देह को शिथिल करके, पूरी तरह विश्राम की स्थिति में पहुँचाने का नाम ही कायोत्सर्ग है। यानी अपने ध्यान को साँस पर केन्द्रित करके शरीर-भाव को पूरी तरह शिथिल करना।

जब लोगों से यह स्थिति नहीं सध पाती तो वे बैठे-बैठे झपकियाँ लेते हैं। इससे अच्छा तो यह है कि वे चार-आठ नवकार ही गिन लें। इसीलिए उन्हें नवकार गिनने की प्रेरणा दी जाती है।

व्यक्ति सत्ताईस श्वासोश्वास तक यह चिन्तन कर सके कि मेरे द्वारा क्या-क्या अपराध हुए, क्या गलत कृत्य हुए हैं, मुझे उनका प्रायश्चित्त कैसे करना है ?

इन सब बातों के मनन के लिए ही यह समय रखा गया था।

आप प्रतिक्रमण के दौरान भगवान महावीर के छहमासी तपचितन निमित्त कायोत्सर्ग करते हैं। वस्तुतः यह कायोत्सर्ग का समय छह नवकार गिनने के लिए नहीं होता वरन् इसलिए होता है कि व्यक्ति उस समय भगवान के तप के बारे में और अपनी शक्ति के बारे में विचार करे। वह यह चिंतन करे कि प्रभु ने तो छह माह तक उपवास किया, पर क्या मैं छह मास तक निराहार रह सकता हूँ? क्या मैं पाँच, चार, तीन, दो या एक माह तक भी उपवास कर सकता हूँ? जब व्यक्ति को लगे कि उसका शरीर एक उपवास करने में भी समर्थ नहीं है तो वह नवकारसी या पोरसी का प्रत्याख्यान ले।

हर चीज की समझ होनी चाहिए कि हम क्यों कर रहे हैं? देह के प्रति मूच्छा के त्याग का नाम ही कायोत्सर्ग है। बुद्ध के पास यदि कोई दीक्षा लेने आता तो वे उसे सबसे पहले यह कहते, 'तुम तीन महीने तक श्मशान में रहो, उसके बाद मेरे पास आना।' वे ऐसा इसलिए कहते ताकि वह व्यक्ति श्मशान में रहकर जान सके कि देह का उपसंहार क्या होता है और देह का वास्तविक रूप क्या है? जब वह यह जान लेता है कि यह शरीर तो दो मुट्टी राख भर है तो वह संन्यास लेकर देह के पोषण, श्रृंगार और पालन में ही नहीं लगा रहता, वरन् वह देह की अनित्यता को जानकर नित्यता की तरफ अपने कदम बढ़ाता है। बुद्ध ने देह की मूच्छा को तोड़ने के बाद ही ध्यान करने की सीख दी थी।

अब छठा और अंतिम 'आवश्यक' लें - 'प्रत्याख्यान'। प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग, छोटे-छोटे नियमों द्वारा व्यक्ति मर्यादित रहे। आप से उपवास नहीं होता तो कोई बात नहीं। दो दिन के लिए रात्रि-भोजन का त्याग कर दें। आपको मिल गया एक उपवास का फल। उपवास में चौबीस घण्टे का त्याग किया जाता है। आपने एक रात्रि का भोजन त्याग करके बारह घण्टे का व दूसरी रात्रि का भोजन का त्याग करके फिर बारह घण्टे का त्याग कर दिया। इस प्रकार आपका चौबीस घण्टे का त्याग हो गया। आप पूरा दिन भर ही खाते हैं, रात को न खाया तो क्या फर्क पड़ेगा! यह शरीर कोई फैक्ट्री थोड़े ही है जो पूरे दिन चलाते रहो। आप सुबह छः बजे तक उठते हैं और सात बजे तक आप कुछ नहीं खाते तो आपका नवकारसी का पचचक्खाण हो सकता है। छोटे-छोटे त्याग आपको तप की गहराइयों में उतारने में सहायक होंगे। जैसे अभी आप यहाँ बैठे हैं, आपने बारह बजे खाना खा लिया है तो आप यह प्रतिज्ञा कर सकते हैं कि मैं बारह से पाँच बजे तक पानी के

अतिरिक्त कुछ ग्रहण नहीं करूँगा। आपको कुछ करना भी नहीं पड़ा और हो गया आपका पाँच घण्टे का त्याग। इस तरह यदि आप चौबीस घंटे एकत्र कर लेते हैं तो हो गया आपका एक उपवास। कितने सरल और छोटे-छोटे त्याग हैं !

इसी प्रकार सुबह दूध-नाश्ता कर लेने के बाद आप खाना जब तक नहीं खाते, उतने घण्टे तक का त्याग कर सकते हैं। यह तो हुआ बाह्य त्याग, पर आप आभ्यन्तर त्याग भी कर सकते हैं। आप यह नियम ले सकते हैं कि मैं प्रतिदिन दो घण्टे तक हर परिस्थिति में मौन रहूँगा।

आप सुबह उठकर यह प्रतिज्ञा ले सकते हैं कि आज चौबीस घण्टे में चाहे कैसी भी परिस्थिति बने, पर मैं क्रोध नहीं करूँगा। क्रोध का प्रत्याख्यान ही वास्तविक प्रत्याख्यान है। यह ऐसा त्याग, ऐसा पच्चक्खाण है जो जीवन में परिणाम देगा। भूखा तो हर किसी से नहीं रहा जा सकता, पर क्रोध का त्याग तो किया ही जा सकता है। भगवान ने कहा है इस प्रकार छोटे-छोटे त्याग करना, सीमा तथा मर्यादा में रहना श्रावक-धर्म का पालन करना है।

समग्रतः भगवान ने छह आवश्यक कहे। पहला 'सामायिक' जिसका अर्थ है कि हर परिस्थिति में समता रखी जाए। दूसरा 'स्तवन', जहाँ श्वास-प्रतिश्वास में परमात्मा की स्मृति बनी रहे, हर क्षण परमात्मा की संस्तवना होती रहे। तीसरा 'प्रतिक्रमण', जहाँ व्यक्ति स्वयं द्वारा किए गये उचित-अनुचित कार्यों की समीक्षा करे और अपने अपराधों, भूलों एवं गलत कृत्यों का प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप करे। चौथा 'वंदना', अर्थात् गुरुजनों को वन्दन समर्पित किये जाएँ। पाँचवा 'कायोत्सर्ग', यानी देह के प्रति मूर्च्छा-भाव का त्याग कर आत्मा का ध्यान किया जाए और छठा 'प्रत्याख्यान' अर्थात् व्यक्ति छोटे-छोटे त्याग के नियम ग्रहण करे।

भगवान ने ये जो छः 'आवश्यक' बताए हैं, प्रत्येक सदगृहस्थ और प्रत्येक श्रमण को उनका पालन करना चाहिए। ज्यों-ज्यों ये छह आवश्यक आत्मसात् किए जाएँगे, त्यों-त्यों व्यक्ति आध्यात्मिक सत्य, आध्यात्मिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक कल्याण को उपलब्ध करता जाएगा। आवश्यक कृत्य शाब्दिक नहीं, आत्मिक हों। मनोविकारों से छूटने का प्रयत्न करना ही सच्चा और आत्मिक त्याग है। अपनी ओर से आज इतना ही निवेदन है। नमस्कार !





मेरे प्रिय आत्मन् !

जिस किसी महानुभाव को सत्य और साधना की तरफ कदम बढ़ाने हों, महावीर उनके लिए प्रेरणा के प्रकाश-स्तम्भ का काम कर सकते हैं। अगर जीवन में शांति की सुवास चाहिए और मुक्ति का माधुर्य, तो महावीर हमारे लिए वैसे ही काम कर सकते हैं जैसे कि अन्धकार को मिटाने के लिए चिराग काम करता है।

महावीर के सूत्र उन लोगों के लिए तो काम के हैं ही, जिन्हें साधना के मार्ग पर किसी दीपशिखा की आवश्यकता है, पर ये सूत्र उन लोगों के लिए भी रामबाण का काम कर सकते हैं जो सांसारिक पदार्थों की गहन मूर्च्छा और प्रगाढ़ प्रमाद में खोए पड़े हैं। जैसे कोई व्यक्ति प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ है और किसी आदमी द्वारा छिटके जाने वाले चुल्लू भर पानी के छींटे गहरी निद्रा से जगा देते हैं, महावीर के सूत्र ऐसे ही किसी कीमिया का, आत्म-जागरूकता के शंखनाद का काम कर सकते हैं।

दुनिया में दो तरह के मूर्च्छित व्यक्ति हैं। पहले तो वे, जिन्हें मोह-माया से उपरत होने के लिए कोई मार्गदर्शक ही नहीं मिलता और दूसरे वे, जो साधना के पथ पर कदम तो बढ़ा देते हैं, पर उन्हें मंजिलें मकसूद नहीं होतीं। साधना के पथ पर कदम बढ़ा देने पर भी यदि व्यक्ति को मंजिल नहीं प्राप्त होती है तो वह स्वयं को

ऐसे कोहरे से घिरा पाता है जहाँ उसे किसी ऐसे गुरु या मार्गदर्शक की आवश्यकता अनुभव होती है जो उस कोहरे को छाँट सके, उस गहन तमस् को मिटा सके, आत्मा पर लगी सींखचें और काराएँ बिखेर सकें। महावीर ऐसे ही सूर्य-पुरुष साबित हो सकते हैं।

लोग कदम बढ़ाने के बावजूद मंजिल प्राप्त नहीं कर पाते क्योंकि पता नहीं माया कब हावी हो जाए। लेकिन माया जब भी हावी होगी तब-तब महावीर के सूत्र आत्म-जागरण के लिए शंखनाद साबित हो सकते हैं।

बात तब की है, जब अतीत में किसी ने ऐसे ही अपने कदम बढ़ाए थे। वह रात को सो चुका था, पर रात को आने-जाने वाले सन्तों के पाँवों की आहट अथवा लगने वाली ठोकर के कारण कभी कोई सन्त मेघ विचलित होकर यह संकल्प कर बैठता है कि संयम की डगर मेरे लिए नहीं है, मेरा अतीत ही मेरे लिए श्रेष्ठ है।

सूर्योदय होने पर सन्त मेघ जैसे ही राजमहल जाने के लिए तत्पर होते हैं, उन्हें भगवान की वाणी सुनाई देती है। भगवान मेघकुमार को सम्बोधि देते हुए, उसे झकझोरते हुए कहते हैं—'क्या तुम एक ही रात में लगने वाली ठोकरोँ से इतने विचलित हो गए? अरे मेघ ! स्मरण तो कर जब अतीत में तुझे आत्मबोध नहीं था और मनुष्यत्व की पर्याय भी नहीं थी। जंगल में आग लग जाने पर तूने गजराज के भव में एक खरगोश के प्राणों की रक्षा के लिए तीन दिन-तीन रातें एक पाँव पर खड़े होकर बिताईं। एक जन्तु को बचाने के लिए जब तूने इतना कष्ट सहन कर लिया और आज तू मानव-भव में एक ही रात में लगने वाली ठोकरोँ से इतना विचलित हो गया कि स्वीकार किया गया मार्ग छोड़ने को तत्पर हो रहा है ?

मेघ मुनि अन्तर्मन में उतर गए और उनके सामने अतीत का परिदृश्य साकार हो गया। तभी उसने अपना संकल्प महावीर के समक्ष दोहराया—'प्रभु ! आज तो मुझे दो-चार सन्तों के पाँव की ठोकर लगी है, पर अब से मैं अपना सम्पूर्ण जीवन सब सन्तों की सेवा में ही बिताऊँगा। अरे दो-चार तो क्या, अब तो हजार-हजार ठोकरोँ भी मुझे जन्म-जन्म तक इस मार्ग से विचलित न कर सकेंगी।

महावीर के सूत्र उस हर शख्स के काम आ सकते हैं जो इस तरह से विचलित हो जाया करते हैं। ये सूत्र उस हर व्यक्ति के लिए उपादेय हो सकते हैं जो कि सत्य की बातें तो करते हैं पर सत्य की तरफ कदम नहीं बढ़ाते हैं। मैं महापुरुषों के सूत्रों

और अनुभवों में वर्तमान का समाधान देखता हूँ। ऐसा नहीं है कि ये सूत्र सदा सार्थक ही रहे हों। अतीत में इन सूत्रों का उपयोग करने वाले भी रहे हैं और इन सूत्रों को व्यर्थ करने वाले भी रहे हैं। बात लगने की है। योग्य पात्र में योग्य वस्तु रख दी जाए, तो दोनों ही सार्थक हो जाते हैं। अयोग्य पात्र में योग्य बात उतार भी दी जाए, तो भी अर्थहीन ही है। स्वाति की जल-बूँद सर्प के मुँह में उतरकर जहर बन जाती है, जबकि सीप में पहुँचकर वही मोती बन जाती है। ये सूत्र, सूत्र ही क्यों, इनके माध्यम से कही जाने वाली बातें जिनकी भूमि उर्वरा होगी, उनके लिए सार्थक बीजों का काम करेंगी। भूमि ही अगर बंजर है, तो बीजों का व्यर्थ जाना स्वाभाविक है। मैं तो माँझी हूँ, जो फिर भी नौका लिये खड़ा रहूँगा, इस आशा में कि शायद किसी को नौका की तलाश हो।

कहते हैं : भगवान के सान्निध्य में परस्पर चर्चा चल रही थी। भगवान के कुछ भिक्षु, दूसरे भिक्षुओं से बात करते हुए कह रहे थे कि अमुक गाँव बहुत ही सुन्दर और अच्छा है। तभी दूसरा भिक्षु बोला, 'अरे ! मैं जिस गाँव में गया, वह तो बहुत ही बेकार और गन्दा है।' तीसरा बोला, 'मैं जिस गाँव में गया वहाँ के लोग बहुत ही उज्जड़ और बेवकूफ हैं।' चौथा बोला, 'अमुक गाँव के लोग बहुत अच्छे हैं, राह भी साफ-सुथरी है और वहाँ बहुत ही सुन्दर उद्यान भी है।

भगवान कुछ देर मौनपूर्वक उनकी बातें सुनते रहे। भगवान के सान्निध्य में रहकर भी जरूरी नहीं है कि भगवत्ता के फूल खिलाए जा सकें। लोग ऐसी बातों में फँस जाते हैं कि अमुक अच्छा अथवा अमुक बुरा। इसी की चर्चा में अपना समय बिता देते हैं। भगवान ने कुछ देर बाद उन्हें सावचेत करते हुए कहा, 'मेरे प्रिय वत्स ! तुम लोग किस सौन्दर्य और माधुर्य की बात कर रहे हो? तुम किस उज्जड़पन, बेवकूफी और गन्दगी की चर्चा कर रहे हो? तुम किन राहों के बारे में बतिया रहे हो? जरा तुम यह सोचो तो सही कि तुम यहाँ किसलिए आए थे और क्या करने लग गए।'

भगवान की बात उनके जिगर तक पहुँची और बाहर की बातों में मशगूल, अपने समय और श्रमणत्व का दुरुपयोग करने वाले लोग, तब-तब किन्हीं महावीर जैसे महापुरुषों द्वारा कही जाने वाली बातों से फिर-फिर सावचेत हुए हैं। उनमें मुक्ति का कमल खिला है।

वे भव्य प्राणी रहे होंगे इसलिए भगवान की वाणी उनके जिगर तक पहुँच

गयी। भगवान ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, 'वत्स ! एक गाँव तुम्हारे अन्तरमन में भी है, उस गाँव की राहें भी कुछ ऊबड़-खाबड़ और कुछ सुन्दर हैं। जरा उस अन्तरमन के गाँव में उतर कर तो देखो, उसके सौन्दर्य, माधुर्य और महक का अनुभव तो करो। अपने अन्दर बसे उस सुन्दर राज-उद्यान को तो देखो।'

महावीर जानते हैं कि वह जिस मार्ग पर ले जाना चाहते हैं, वह ऊबड़-खाबड़ भी है तो सुन्दर भी है। उस मार्ग पर सुन्दर उद्यान हैं तो गहरे दर्रे और खाइयाँ भी हैं। कभी मोह-माया अपने आगोश में भर लेती है तो कभी राग-द्वेष के निमित्त इतने बलवान बन जाते हैं कि महामार्ग पर कदम बढ़ाने के बावजूद व्यक्ति मुक्त नहीं हो पाता वरन् उस मार्ग पर भी वह किसी संसार का ही निर्माण करता है। वह किसी देवत्व या स्वर्गत्व को भले ही उपलब्ध कर ले, पर वह मुक्त चेतना का स्वामी नहीं बन पाता।

महावीर उस मार्ग के हर पथिक के हाथ में आत्म-जागरण का दीप थमाना चाहते हैं। वे जानते हैं कि जब तक आत्म-जागरण का दीप प्रज्वलित न हुआ, तब तक व्यक्ति द्वारा की जाने वाली सब क्रियाएँ राख पर लीपा-पोती के समान होंगी। धार्मिक लोगों के द्वारा की जाने वाली प्रार्थनाएँ, प्रतिक्रमण और अन्य कोई भी धार्मिक अनुष्ठान तब ही सार्थक हो सकते हैं, जबकि उनके हाथ में आत्म-जागरण, आत्म-सजगता, अप्रमत्तता का दीप हो।

जीवन में बस, सजगता/जागरूकता चाहिए। अगर मुझसे कोई पूछे कि महावीर के धर्म का सार एक शब्द में क्या होगा? तो मैं कहूँगा कि महावीर के समस्त शास्त्रों का, समग्र जीवन-दृष्टि का सार और रहस्य मात्र एक शब्द में छुपा है और वह है सजगता-जागरूकता।

सजगता या अप्रमत्ततापूर्वक किया गया हर कार्य व्यक्ति के गुणस्थान के विकास में सहयोगी होता है। जन्म-जन्म हम धर्म की दहलीज तक पहुँचे, हमने श्रावक और श्रमण-धर्म भी स्वीकार किया, पर प्रगाढ़ मूर्च्छा और प्रमादवश हम आगे न बढ़ पाए, इसलिए बात सध न पाई। श्रमण बनना कठिन नहीं है तो सरल भी नहीं है, पर भीतर लगी मूर्च्छा और प्रमाद की जंजीरों को तोड़ना अवश्य ही कठिन है।

गुणस्थानों में छठा गुणस्थान है प्रमत्त विरत और सातवाँ गुणस्थान है अप्रमत्त विरत। छठे गुणस्थान प्रमत्त विरत तक तो हमने सौ-सौ दफा कदम रखे होंगे, पर

बात आगे की नहीं सध पाई। क्योंकि व्यक्ति अप्रमत्तता न ला पाया। मैं फिर कहता हूँ विरति होना सरल है, पर अप्रमत्तता आनी और मूर्च्छा टूटनी कठिन है।

महावीर के सूत्र हर व्यक्ति के हाथ में अप्रमत्तता, जागरूकता और सजगता के दीप की तरह हैं। जिसके हाथ में दीप है, कंदील या लालटेन है, वह चाहे कैसे ही धुप्प अंधेरे में हो, पर अपना मार्ग प्राप्त कर ही लेता है। ऐसे ही दीप को रोशन करने के लिए महावीर के आज के सूत्र हैं।

भगवान कहते हैं—

*सीतंति सुवंताणं, अत्था पुरिसाण लोगसारत्था  
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोरणयं कम्मं।*

भगवान कहते हैं—‘जो पुरुष सोते हैं उनके जगत में सारभूत अर्थ नष्ट हो जाते हैं। तुम सतत जागृत रहकर पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करो।’

भगवान का सूत्र है— जो सोते हैं उनके जगत में सारभूत तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। मार्ग तो उनके लिए है जो मार्ग का अनुसरण करें। जो मार्ग को जानने के बाद भी सुप्त पड़े रहते हैं उन्हें मार्ग-फल कहाँ से प्राप्त हो सकता है? उपलब्धियाँ उन्हें ही प्राप्त होती हैं जो आत्म-जागृति का अलख आठों याम जगाए रखते हैं। जो व्यक्ति सुप्त और मूर्च्छित हैं, उन्हें कभी कोई उपलब्धि प्राप्त नहीं होती। उनके पास तो जो होता है वह भी नष्ट हो जाता है।

सोए रहने का अर्थ यहाँ शरीर को आराम देने के लिए किए जाने वाले विश्राम से नहीं है, वरन् यहाँ सोए रहने का अर्थ है व्यक्ति का प्रगाढ़ मूर्च्छा में फँसे रहने से है। व्यक्ति की चेतना के सुषुप्त होने से है। पतंजलि ने चित्त की तीन अवस्थाएँ कहीं— पहली सुषुप्ति, दूसरी स्वप्न और तीसरी जागृति। इन तीनों के पार जो चित्त की अवस्था है, वह है परा। परा अर्थात् परम।

पहली स्थिति है सुषुप्ति। आज दुनिया में सुषुप्ति और मूर्च्छा का ही अधिक प्रभाव है। इसी के चलते व्यक्ति चाहते हुए भी कीचड़ से नहीं निकल पाता। वह दलदल में और अधिक धँसता जाता है, पर निकल नहीं पाता। वह यदि किसी पशु-भाव योनि में घिर चुका है तो वह उस भाव से मुक्त नहीं हो पाता। जब तक जीवन में मूर्च्छा के लंगर न खुलें तो मैं फिर वही कड़वी बात दुहराऊँगा कि व्यक्ति द्वारा की जाने वाली सब क्रियाएँ राख पर लीपापोती के समान होंगी।

जैसे कोई आदमी शराब के नशे में अपना भान खो देता है, उसे माँ और बहिन का विवेक भी नहीं रहता, ऐसे ही जिस व्यक्ति पर मूर्च्छा की मदहोशी छाई हुई हो वह अपना बोध, अपना ज्ञान और अपना विवेक खो बैठता है। व्यक्ति रोज-ब-रोज अपने ही लोगों से, अपने ही परिवार से धोखा और ठोकरें खाता है, पर मूर्च्छा उसे इन सबसे अलग नहीं होने देती। जीवन में पग-पग पर आने वाली समस्याएँ और दुःख देखकर कई दफे व्यक्ति का मन होता है कि इससे अच्छा तो आत्महत्या ही कर ली जाए। व्यक्ति को जन्म-जन्म की उस मूर्च्छा के चलते आत्महत्या करना तो याद आ जाता है, पर उस मार्ग की याद नहीं आती जो उसे जन्म-मरण से ही मुक्त कर सके।

भर्तृहरि जैसे मनीषी कितने होते हैं, कि उन्हें ठोकर लगी और सम्हल गये। सौदागर ने लाकर अमृतफल दिया। कहा कि यह वह फल है, जिसे जो ग्रहण कर लेगा, वह अधिक सुन्दर, स्वस्थ और युवा हो जाएगा। भर्तृहरि को यह अद्भुत फल समर्पित है।

भर्तृहरि का प्रेम महारानी से अधिक होता है। भर्तृहरि वह फल महारानी को उपहार रूप देते हैं। महारानी महावत के सुडौल शरीर पर मुग्ध होती है। फल महावत तक पहुँच जाता है। महावत गणिका के नाज-नखरों पर फिदा होता है। महावत वह उपहार गणिका को दे देता है। गणिका यह सोचकर कि इस फल को पाने का असली हकदार तो राजा है, फल भर्तृहरि के पास लौट आता है। फल पाकर भर्तृहरि अचंभित हो उठता है। बीच की सारी रामकहानी जब जानने को मिलती है, तो भर्तृहरि को आत्मबोध उपलब्ध हो जाता है। ध्यान रखो, जिस पर तुम मरते हो, सम्भव है वह तुमसे विरक्त हो।

बस, ठोकर लगी, सम्हल गये। जो ठोकर लगने पर भी नहीं सम्हलते वे मूढ़ हैं, मूर्च्छित हैं, अज्ञानी हैं। ऐसे प्राणी बस क्षमा करने योग्य ही हैं। मैं होश का हिमायती हूँ। होश और बोध इनसे बढ़कर अध्यात्म के और कोई चिराग नहीं हैं।

कहते हैं : शराब पी चुका आदमी रात को नौका विहार के लिए बैठा। रात भर पतवार चलाता रहा, पर सुबह देखा तो नौका वहीं थी जहाँ पर पहले खड़ी थी। नौका का लंगर न खोला जाए तब तो एक रात तो क्या पूरे जन्म-जन्म तक तुम पतवार चलाते रहो, पर नौका चार इंच भी आगे नहीं बढ़ पाएगी। मूर्च्छा के लंगर अगर न खोले गए तो व्यक्ति यों ही दलदल में फँसा और धँसा रहेगा।

मूल बात है होश और सजगता की। यदि व्यक्ति में होश है, तो गृहस्थ-जीवन भी मुक्ति के आयाम उपलब्ध करा सकता है। यदि सजगता और होश न हुए तो सन्त बनकर भी संसार का ही निर्माण होगा। क्रोध भी करो तो होश के साथ। होश होगा तो क्रोध आएगा ही नहीं, और अगर क्रोध करना व्यक्ति की मजबूरी होगी तो वह क्रोध भी व्यक्ति के कर्म-बंधन का निमित्त न बनेगा। तीर्थंकर और बुद्ध अगर विवाह भी करते हैं तो उनके द्वारा किए जाने वाला गृहस्थ-जीवन का उपयोग भी उनकी कर्म-निर्जरा में सहायक होता है। कुंदकुंद जैसे आचार्य तो कहते हैं कि- 'सम्यक्दृष्टि जीव चाहे चेतन द्रव्यों का उपयोग करे अथवा अचेतन द्रव्यों का, उसका हर कार्य उसके कर्म-बन्धन को क्षीण करता है।'

मूल्य किसी पदार्थ के त्याग और भोग का नहीं है, मूल्य और महत्त्व तो है पदार्थ के प्रति रहने वाली सजगता और होश का। भगवान कहते हैं कि एक व्यक्ति चलते हुए भी महान् धर्म का पालन कर सकता है और दूसरे व्यक्ति का चलना भी अधर्म हो सकता है। यदि व्यक्ति होश और सजगतापूर्वक चलता है तो उसका किसी भी पथ पर चलना, मन्दिर की सीढ़ियों पर चढ़ने के समान हो जाया करता है। और यदि व्यक्ति बेहोशीपूर्वक किसी मन्दिर की सीढ़ियाँ भी चढ़ेगा तो वह वहाँ भी दो-चार कीड़े-मकोड़े मार आएगा। उसका मन्दिर जाना भी अधर्म हो जाएगा। मूल्य है होश के चिरागों का, मूल्य है आत्म-जागरण के दीयों का।

पहली अवस्था है सुषुप्ति। जहाँ व्यक्ति मेरेपन की गहन मूर्च्छा में फँसा रहता है। मेरी माँ, मेरा बाप, मेरी पत्नी, मेरा धन, मेरा शरीर! यह जो मेरापन है, वही मूर्च्छा है। मैं और मेरापन ही बाँधता है। 'मेरा' का भाव ही शरीर को भी मैं से जोड़ देता है। प्रश्न है शरीर कब तक मेरा रहेगा। कुछ समय के अन्तराल बाद तो यह निश्चित रूप से मिट्टी में मिल जाएगा। आज सुबह ही ऐसी कुछ चर्चा चल रही थी कि अमुक तीर्थ की मूर्तियाँ शाश्वत हैं। मैंने कहा कि जब तीर्थंकर का शरीर ही शाश्वत नहीं हो सका, उनके अनुयायी ही शाश्वत न हो सके तो तीर्थंकर के नाम पर बनने वाली मूर्तियाँ शाश्वत कैसे हो सकती हैं ?

आज विज्ञान और धर्म दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि आप जिस चार फुट की जमीन पर बैठे हैं वहाँ कम से कम अब तक दस लोग दफनाए जा चुके हैं। दुनिया में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ मृत व्यक्ति दफनाए या जलाए न जा चुके हों। ऐसा मिट्टी का कोई कण नहीं है, जो अब तक मृत व्यक्ति का संस्पर्श न कर चुका

हो अथवा जीवन का पर्याय या स्वरूप न देखा हो। आज हम जिस मकान या जमीन को अपनी कह रहे हैं, कल दूसरा व्यक्ति उसका स्वामी हो जाएगा। व्यक्ति कहता है मेरा मन्दिर, मेरा मकान। अरे ! मृत्यु तुम्हें सबसे पराया कर देगी। तुम जिस जगह को अपनी मान रहे हो, तुमसे पहले हजारों व्यक्ति इसे अपनी मान-मानकर संसार से विदा हो चुके हैं। संसार में चारों ओर ममत्व और सुषुप्ति का ही खेल चल रहा है।

कहानी बताती है कि किसी संत ने किसी सम्राट के महल को ही सराय और धर्मशाला कह डाला था। राजा का चौकना स्वाभाविक था। संत ने कहा सराय वह है, जहाँ मुसाफिर आकर ठहरते हैं। तुम्हारा महल भी सरायखाना है, जहाँ अब तक कई मुसाफिर ठहरे हैं, चले गए हैं। अभी तुम हो, उससे पहले तुम्हारे पिता, उससे पहले उनके पिता, उससे पहले इन पिताओं के पिता, उससे पहले.... !

सम्राट ने कहा, तुम क्या कहना चाहते हो ? संत का जवाब था, सम्राट जहाँ इतने सारे मुसाफिर आये, रुके, चले गये। वह सराय नहीं तो और क्या है ?

सम्राट मुस्करा उठते हैं। साधुवाद देते हैं संत को इस बोध को प्रदान करने के लिए। पहले मूर्च्छा थी, अब जागरण हो गया। पहले पत्थरों में रूँधे थे, अब पत्थरों के पार हो गये।

मूल है समझ मूर्च्छा की, मूर्च्छा से मुक्त होने की।

दूसरी अवस्था है -- स्वप्न। स्वप्न यानी मन का भटकाव। अकेले में समझ आने वाली मन की उठापटक। आपको कैसे स्वप्न आते हैं, इससे अपने मन की स्थितियों को पहचानें। डरावने, डकैती वाले, मैथुन वाले या देवी-देवताओं के, मन की स्थिति को पहचानने के लिए स्वप्न अच्छे साधन बन सकते हैं।

व्यक्ति के चित्त में विचार और कल्पनाएँ चौबीस घण्टे चलते रहते हैं। व्यक्ति अपना अधिकांश जीवन अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं में बिता देता है। ऐसा नहीं है कि स्वप्न अर्थात् कल्पनाएँ रात को ही उठती हों। व्यक्ति दिन में भी सपना देखा करता है। एक मिनट के लिए भी व्यक्ति निर्विचार या शान्तचित्त नहीं हो पाता। और कुछ नहीं तो वह अपने तल-भँवरे में पड़े अटाले के बारे में ही सोचने लगेगा कि इतनी बोटलें इकट्ठी हो गयी हैं, इतना यह सामान इकट्ठा हो गया है, कल इसको बेचूँगा। अथवा वह घर के सामने पड़े कचरे के बारे में ही सोचने लगेगा।

दुकान में बैठा-बैठा सोचेगा कि कल ऐसा कर लूँगा अथवा इस साल अच्छी कमाई होगी तो मकान दुमंजिला करा लूँगा। है तो भिखारी, पर सपने देखेगा सम्राट बनने के। सपने देखने पर कोई रोक तो है नहीं, इसलिए पता नहीं क्या-क्या सपने व्यक्ति देख लिया करता है। अधिकांश व्यक्ति रात में ही नहीं, दिन में भी सपने देखा करते हैं। इन्हें ही दिवास्वप्न कहते हैं। ये रात के सपनों से अधिक खतरनाक होते हैं। दिवास्वप्न एक तरह से मन का भंवरजाल है। फंसे कि गये काम से। मन की शांति, सुकून सब किसी और के कब्जे में।

ऐसा हुआ कि एक बार शेखचिल्ली को रास्ते में कोई सेठ मिल गया। सेठ के पास घी का घड़ा था जो उसे अपने घर तक पहुँचवाना था। उसने शेखचिल्ली को कहा कि—‘तुम घड़ा सिर पर रखकर मेरे घर तक पहुँचा दो, मैं तुम्हें मजदूरी के दस पैसे दूँगा।’ उस जमाने में दस पैसे की भी अहमियत थी, शेखचिल्ली खुशी-खुशी घड़ा सिर पर रखके चलने लगा। पीछे-पीछे सेठ चल रहा था। शेखचिल्ली चलते-चलते दिवास्वप्न में खो गया। वह सोचने लगा कि मुझे मजदूरी के जो दस पैसे मिलेंगे उनसे मैं अंडे खरीदूँगा। अंडों से मुर्गी पैदा होगी। फिर मुर्गी से ढेर से अंडे। उनकी आमदनी से मैं एक बकरी खरीदूँगा। बकरी दूध देगी और उस दूध को बेचकर मेरे पास पैसा आता जाएगा। फिर मैं एक सुन्दर स्त्री से विवाह कर लूँगा। पत्नी दहेज में बहुत सारा धन लाएगी, मैं अपना धन और उसका धन मिलाकर किराने की एक दुकान खोल लूँगा। मेरी दुकान पर बहुत-से ग्राहक आया करेंगे, मैं बहुत व्यस्त रहूँगा। जब मैं खाना खाने घर नहीं पहुँच पाऊँगा तो पत्नी मेरे बेटे के साथ दुकान मुझे बुलाने आएगी। बेटा आकर मुझे कहेगा—‘पापा-पापा, खाना खाने चलो।’ पर ग्राहकों की बहुत भीड़ होने के कारण मैं उसे गर्दन हिलाकर इंकार करूँगा और... ! शेखचिल्ली ने जैसे ही इंकार करने के लिए गर्दन हिलाई, घड़ा सिर से जमीन पर आ पड़ा। सारा घी मिट्टी में मिल गया।

सेठ जो पीछे आ रहा था, चिल्ला उठा। उसने कहा, ‘अरे बेवकूफ ! मेरा सारा घी मिट्टी में मिला दिया।’ शेखचिल्ली बोला, ‘अरे सेठ ! तेरा तो सिर्फ घी ही बरबाद हुआ है, मेरा तो बसा-बसाया संसार ही बरबाद हो गया।’

शेखचिल्ली ! मैं नहीं समझता तुम किस पर हंस रहे हो ! शेखचिल्ली पर या अपने आप पर ? ध्यान रखो, यह किसी एक शेखचिल्ली की कहानी नहीं है वरन् हर व्यक्ति जो कल्पनाओं के आकाश में गोते लगाता रहता है, अपने आप में शेखचिल्ली ही तो है।

हम विचारों के प्रति जागरूकता लाएँ। गैर-जरूरी विचारों पर नियंत्रण का शिकंजा कसें। उन विचारों से बचें, जिनका कोई सिर-पैर नहीं है। हम हकीकत से जुड़ें। वर्तमान के साधक बनें। विचारों को व्यवस्थित करें। विचारों को व्यवस्थित करना जहाँ एक चुनौती है, वहीं एक बहुत बड़ी साधना। नकारात्मक विचारों से बचें, सकारात्मक विचारों को ही स्थान दें। निर्विचार होना ऊँची बात है, पर उस स्तर तक पहुँचने के लिए शुरुआत करें – सकारात्मक विचारों से। इससे व्यर्थ की सोच, व्यर्थ की कल्पनाएँ और व्यर्थ का तनाव कम होगा। दिवास्वप्न से बचेंगे।

तीसरी अवस्था है—जागृति की। व्यक्ति के आत्मगुणों के विकास में जो अवस्था सहायक बनती है, वह है जागृति। भगवान कहते हैं—जो सोते हैं उनके जगत में सारभूत अर्थ नष्ट हो जाते हैं, अतः सतत आत्मजागृत रहकर पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करो।

सतत आत्मजागृति रहे। अन्तरदृष्टि पूर्वक, अन्तरबोध पूर्वक किसी भी पहलू के प्रति किया जाने वाला व्यवहार आत्म-जागृति है। मुझसे यदि कोई धर्म का मार्ग देने के लिए कहे तो मैं कहूँगा कि धर्म का राजमार्ग, धर्म का सार और धर्म का प्राणतत्त्व समाया है मात्र एक आत्म-जागरूकता में। तुम सामायिक करते हो, जप-तप करते हो या अन्य कोई धार्मिक अनुष्ठान करते हो, बहुत अच्छी बात, पर इन सबसे भी पहले जो महत्त्वपूर्ण है वह है सतत आत्म-जागरूकता। जागरूकता को साधने के लिए ही भगवान अपनी ओर से प्रेरणा दे रहे हैं। माना मूर्च्छा बहुत प्रगाढ़ है, क्रोध आता है, काम-विकार भी पीड़ित करते हैं, अभिमान भी उठता है, माया-लोभ भी नहीं छूटते।

सैकड़ों बार अनेक धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने के बावजूद जब राग-द्वेष नहीं छूटते तो व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या करूँ? मैं कहूँगा, नहीं छूटता है तो मत छोड़ो, क्रोध आता है तो क्रोध कर लो, काम पीड़ित करता है तो वासनाओं को भोग लो, अहंकार की स्थिति होने पर उससे भी गुजर जाओ। कोई दिक्कत नहीं, हमारी अपनी ही सींची गई जड़ें हैं। हमारे अपने ही बोये गये बीज हैं। बचने से काम न चलेगा। पर इन सबके साथ आज से एक चीज को जोड़ लें, वह है होश और बोध। क्रोध करेंगे तो होशपूर्वक। क्रोध करते समय व्यक्ति को यह होश रहे कि मुझे अभी क्रोध आ रहा है। क्रोध को प्रकट करो तो यह होश रहे कि अभी मेरे अन्दर गालियाँ चल रही हैं। अथवा क्रोध प्रगट हो गया। अब सब कुछ शांत है।

अगर व्यक्ति होशपूर्वक गाली निकालेगा तो गाली मुँह में आधी आकर ही रह जाएगी, वह तत्काल सँभल जाएगा। उसका होश और उसकी सजगता उसे क्रोध के नरक से बचा लेगी। महावीर कहते हैं कि व्यक्ति आत्म-जागरूकता पूर्वक क्रोध भी करेगा तो वह एक-न-एक दिन उस क्रोध से अवश्य उपरत हो जाएगा।

व्यक्ति विवाह करता है, दाम्पत्य-जीवन को जीता है, क्रोध को छोड़ना आसान है, माँ-बाप और घर-परिवार को छोड़ना भी आसान है, पत्नी को छोड़ना भी आसान है, पर मन में उठने वाली विकृत तरंगों को छोड़ना कठिन है। व्यक्ति की सबसे बड़ी मजबूरी यही है। इसी के कारण व्यक्ति को संसार में भटकना पड़ता है। जमीन-जायदाद, धन-दौलत व्यक्ति के लिए अधिक बाधक नहीं बनते, क्योंकि वह जानता है कि एक दिन तो इन्हें छोड़ना ही है। अध्यात्म की साधना में सबसे अधिक बाधक उसके मन में उठने वाली विकृत तरंगें हैं।

सच्चा महावीर वही है, जो मन की भड़ास पर विजय पा ले।

एक आदमी को अपनी सन्तान से क्यों प्यार होता है? क्योंकि वह उसी का परिणाम है। पड़ोसी का बच्चा भले ही अपने बच्चे से अच्छा क्यों न हो, पर उसके प्रति वह ममत्व नहीं उमड़ता क्योंकि वह आपकी तरंग का परिणाम नहीं है। वह भले ही जिए-मरे अथवा भूखा रहे, आपको फर्क नहीं पड़ता। पर अपने बच्चे के दुःख-सुख की चिन्ता, उसके प्रति प्रगाढ़ मूर्च्छा होती है। महावीर और बुद्ध जैसे लोग यदि विवाह करते हैं और उनके सन्तानें भी होती हैं तो उनकी जीवन के प्रति सजगता और होश, गृहस्थ-जीवन के उपभोग को नहीं, उनके कर्म-क्षय में सहायक बनाता है। अगर व्यक्ति होशपूर्वक सेवन करता है, उसे इस बात का बोध रहता है कि मैंने क्या किया, उसका क्या परिणाम आया तो उसकी यह सजगता उसे आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों अवश्य ही इस मार्ग से उपरत कर देती है। भगवान ऋषभदेव के सौ सन्तानें हुईं, पर उनकी जागरूकता ने, होश और बोध ने अन्ततः उन्हें मुक्त कर दिया।

अगर होशपूर्वक जीवन के किसी भी मार्ग का अनुसरण किया जाए तो व्यक्ति एक-न-एक दिन चाहे वह अवस्था बुढ़ापे की ही हो, पर गलत रास्तों से बाहर निकल ही आता है। अभी तो आप कहते हैं कि 'क्रोध बुरा है', फिर भी क्रोध किए जा रहे हैं, क्योंकि यह बात आपके होश या बोध में नहीं उतरी है। जिस दिन यह

बात बोध में उतर जाएगी, उस दिन तुम क्रोध कर ही न पाओगे। मैं सिगरेट नहीं पीता; क्यों? दुनिया में बहुत-से सन्त सिगरेट पीते हैं, चिलम फूँकते हैं या तम्बाकू खाते हैं। मैं इसलिए सिगरेट नहीं पीता क्योंकि मैं अच्छी तरह समझ और जान गया हूँ कि नशा व्यक्ति के आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्य दोनों के लिए ही घातक है। क्रोध इसलिए नहीं करता क्योंकि यह बात बोध में आ गई है कि क्रोध करना सबसे बड़ी बेवकूफी है। फिर भी मानव-मन है। कभी-कभार क्रोध की सूक्ष्म तरंग उठ ही आती है, क्रोध की एक छोटी-सी चिंगारी उभर ही जाती है, पर क्रोध मुख से बाहर निकले उसके पहले ही होश जगा देता है कि शांति तुम्हारा लक्ष्य है। तुम्हें शान्त रहना है और तत्काल क्रोध शान्त हो जाता है।

दाम्पत्य-जीवन हो अथवा क्रोध, लोभ हो या परिग्रह सबके साथ व्यक्ति का होश जुड़ा रहे। उसे हर क्षण यह बोध रहे कि – हाँ, यह वस्तुएँ हैं, इनका मैं उपभोग कर रहा हूँ अथवा इनका मैं संचय कर रहा हूँ। साथ में एक सुई भी नहीं जाने वाली है फिर व्यर्थ का परिग्रह क्यों? मैं साल में लाखों-करोड़ों रूपए खर्च करा देता हूँ, पर हर क्षण यह बोध रहता है कि ये सब मुझसे अलग हैं। संसार तो नदी-नाव का संयोग मात्र है। नदी में जैसे तरंगें उठती और गिरती रहती हैं वैसे ही यहाँ जीवन है। किससे जुड़ा जाए और किसे छोड़ा जाए। क्या भोगा जाए और क्या त्यागा जाए! कभी भोग का मोह तो कभी त्याग का मोह! निस्पृहता रहे, सहज आत्म-जागरूकता। भगवान कहते हैं कि जीवन की हर वृत्ति को सम्पादित करते हुए व्यक्ति आत्म-जागरूक रहे।

क्रोध नहीं छूटता, अस्सी वर्ष के हो जाने पर भी पत्नी नहीं छूटती। भीतर के विकार नहीं छूटते। बहुत मालाएँ फेर लीं, बहुत सामायिक और बहुत प्रतिक्रमण कर लिए, पर मनोविकार नहीं छूटते। मैं कहता हूँ छूट सकते हैं। महावीर का यह सूत्र हर प्राणी अपना ले कि सब काम करने की छूट है बशर्ते होश और सजगता रखी जाए। अगर होश हर कार्य के साथ जुड़ा रहे, तो गलत-गलत छूट जाएगा और अच्छा-अच्छा रह जाएगा। इसीलिए भगवान कहते हैं 'जो सोते हैं, जो मूर्च्छित हैं, उनके जगत् में सारभूत अर्थ नष्ट हो जाते हैं। अतः सतत जागृत रहकर पूर्वार्जित कर्मों को क्षय करो।

इसी सन्दर्भ में अगला सूत्र है –

जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं च सुत्तया सेया।

वच्छाहिव भगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥

भगवान ने जब जागृति की बात कही तो उनकी ही एक अनन्य उपासिका ने भगवान से प्रश्न किया कि प्रभु ! किसका जगना और किसका सोना श्रेयस्कर है? भगवान उत्तर देते हुए कहते हैं—‘धार्मिकों का जगना और अधार्मिकों का सोए रहना ही श्रेयस्कर है।’ यह बात भगवान ने वत्स देश के राजा शतानीक की बहन जयन्ती को कही।

धार्मिक का जागरण श्रेष्ठ है, अधार्मिकों का शयन। धार्मिकों की सक्रियता श्रेष्ठ है, अधार्मिकों की निष्क्रियता। अगर धार्मिक व्यक्ति जागृत रहेगा तो वह सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में सहायक होगा, वहीं यदि अधार्मिक व्यक्ति जगा रहा तो सारी दुनिया तबाह हो जाएगी। आज धार्मिक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने-अपने समाज और धर्म की संकीर्णताओं को छोड़कर मानव-कल्याण के लिए आगे आए और सम्पूर्ण जगत् को गले लगाए। आज हर प्रबुद्ध और धार्मिक व्यक्ति का यह परम कर्तव्य है कि वह संसार में प्रेम और शान्ति के मार्ग को बढ़ाने के लिए चार कदम आगे आए।

दुराग्रहों और संकीर्णताओं के डिब्बों में बहुत जी लिए। कुए के मेंढक कब तक बने रहेंगे। सागर तुम्हें अपनी ओर निमंत्रण दे रहा है। तुम उसका निमंत्रण स्वीकार करो। तुम प्रबुद्ध हो, तो अपनी बुद्धि को, अपनी पहुँच का उदारता से उपयोग करो।

अंधेरा चाहे कितना भी सघन क्यों न हो, पर उस अन्धेरे को मिटाने और भगाने के लिए दो-चार दीपक ही पर्याप्त हो जाया करते हैं। अगर सौ व्यक्ति सोए हुए हों और एक व्यक्ति जागा हो तो भी यह कहा जाएगा कि सौ के सौ व्यक्ति जागृत हैं। क्योंकि घर के बाहर पहरा लगा है, चौकीदार की एक सीटी ही सबको जगा देगी। एक धार्मिक व्यक्ति, सौ अधार्मिक व्यक्तियों पर भारी पड़ेगा। सौ कौरवों पर पाँच पाण्डव ज्यादा बलशाली हो जाया करते हैं। सौ झूठों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक अकेला सच बहुत है।

जो धार्मिक हैं, उनका यह परम पुनीत कर्तव्य है कि वह भगवान के प्रेम, शान्ति, करुणा, अहिंसा, मैत्री और पवित्रता के मार्ग को नगर-नगर, गाँव-गाँव तक पहुँचाए। व्यक्ति मन्दिर बनवाता है, एक मन्दिर बनवाने में औसतन एक करोड़ रुपए खर्च हो जाते हैं, पर उस मन्दिर का उपयोग कितने लोग करते हैं? उस मन्दिर का उपयोग गिनती के लोग करते होंगे। मैं कहना चाहूँगा कि प्रेम और शान्ति

के मार्ग को व्यक्ति आगे फैलाए, हर घर अपने आप में मन्दिर बने, घर-घर तक महावीर की वाणी का प्रचार और प्रसार हो। महावीर के सिद्धान्तों का पालन और प्रचारण, एक मन्दिर बनाने के पुण्य से सौ गुना अधिक है।

एक व्यक्ति मन्दिर बनाता है और दूसरा व्यक्ति किसी हिंसक को अहिंसक बनाता है। मैं कहूँगा कि ऐसा करके उसने सौ मन्दिर बनाने जितना पुण्य अर्जित कर लिया। आज ऐसे मन्दिरों की जरूरत है जो आदमी को आदमी बनाए, उसे नेक और एक बनाए।

आज अहिंसा-मंदिर और अहिंसा-विद्यालयों की जरूरत है। जैसे हिंसा का प्रशिक्षण दिया जाता है, मैं कहूँगा तुम अहिंसा का प्रशिक्षण दो। हिंसा से कैसे कब्जा होता है, यह शिक्षा तो बहुत दी जा चुकी। अब कोशिश यह हो कि अहिंसा से कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है। प्रबुद्ध मानवता जगे। धार्मिक लोगों का इस सन्दर्भ में विशेष दायित्व है। धरती पर स्वर्ग का निर्माण करने के लिए नरक को मिटाना होगा, नरक की आग को बुझाना होगा। वैर-विरोध, द्वेष-दौर्मनस्य पर विजय प्राप्त करनी होगी।

भगवान ने कहा कि 'अधार्मिकों' का सोना ही श्रेयस्कर है। 'जो चोर हैं, आतंकवादी, डाकू, लुटेरे और देशद्रोही हैं ऐसे व्यक्ति यदि जगे रहे तो संसार बरबाद ही होगा। ये जितने समय तक सोए रहते हैं, कम से कम उतने समय तक तो लोग इनके कुकृत्यों से बचे रहते हैं।

इतिहास में एक बहुत ही प्रसिद्ध राजा हुआ, नादिरशाह। कहते हैं कि वह रात को सुरापान करके, गणिकाओं के साथ अठखेलियाँ करता हुआ बहुत देरी से सोता था और वह इस कारण सुबह भी बहुत देरी से उठा करता था। राजा की इस हरकत से सभासद बहुत नाराज होते और वह उसे प्रायः कहा करते थे कि आप जल्दी उठा करें अन्यथा राज्य का संचालन अच्छी तरह से नहीं हो पाएगा। पर नादिरशाह को किसी की बात अच्छी नहीं लगती। एक दिन नादिरशाह के दरबार में एक फकीर आया। फकीर से नादिरशाह बोला, 'बाबा ! हमारी देर से उठने की आदत के कारण सभी सभासद हमें टोकते रहते हैं, क्या आप भी अपनी तरफ से कुछ कहना चाहेंगे?' फकीर बोला, 'सम्राट ! अगर गुनाह माफ हो तो सच बोलने का साहस करूँ।' राजा बोला, 'तुम्हें अभयदान देता हूँ जो चाहते हो वो कहो।' फकीर बोला, 'सम्राट ! आप जैसे लोग सोए ही रहें तो अच्छा है।'

संभव है कि उस फकीर ने महावीर के इस सूत्र को भलीभांति समझ लिया होगा कि 'धार्मिकों का जगना और अधार्मिकों का सोना ही श्रेयस्कर है।' आतताइयों के जगे रहने से राज्य और देश का अकल्याण और तबाही होगी। इसलिए हिटलर, चंगेज खाँ, तैमूर लंग, स्टेलिन और ऐसी ही क्रूर प्रवृत्ति के लोग सदैव सोए रहें तो ही श्रेष्ठ है। इनका जगना ही युद्धों एवं तबाही को निमंत्रण है। ये यदि जगे रहे तो इनके दिमाग में बस एक ही फितुर उठेगा कि कैसे किसको नष्ट किया जाए, कैसे किसको मिटाया जाए अथवा कैसे संसार को बरबाद किया जाए ?

हर व्यक्ति अपने आप को तौल ले कि वह अपने अन्तरमन में कितना धार्मिक है और कितना अधार्मिक ? यदि आप रिश्वतखोर हैं, कालाबाजारी करते हैं, मिलावट करते हैं, कम नाप-तौल करते हैं, टैक्स की चोरी करते हैं, नकली इंजेक्शन और दवाइयाँ बेचते हैं तो मेरा आपसे निवेदन है कि यदि आप चार घण्टे सोते हैं तो आज से आठ घण्टा सोया करें ताकि कुछ तो लोग हमारी अमानवीयता के शिकार होने से बचे रहेंगे। यदि आप धार्मिक हैं, आपके जीवन में नैतिकता और प्रामाणिकता है तो मैं आप से गुजारिश करूँगा कि आप यदि आठ घण्टे सोते हैं तो आज से आप पाँच घण्टा ही सोएँ, अपनी सेवाओं से सम्पूर्ण संसार को लाभान्वित करें, अपने भापको सम्पूर्ण विश्व में फैलाएँ। धार्मिक लोग जितना सोते हैं, उससे एक घंटा कम सोकर देखें, आप पाएँगे कि आपके धार्मिक जीवन में पाँच साल की बढ़ोतरी हो गई।

*जागरह नरा णिच्चं जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि।*

*जो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो ॥*

भगवान कहते हैं—मनुष्यो ! सतत जागृत रहो। जो जागता है उसकी बुद्धि बढ़ती है जो सोता है वह धन्य नहीं है, जो सदा जागृत रहता है, वही धन्य है।

भगवान ने कहा कि 'सदा आत्म-जागृत रहो।' क्योंकि पता नहीं कब कौन-सा क्षण, मौत का क्षण बन कर आ जाए। व्यक्ति जब रात को सोता है तो आने वाले कल की प्रतीक्षा को लेकर सोता है। वह यह सोचता हुआ सोता है कि कल यह करना है, यह नहीं करना है, पर पता नहीं कल कब काल बन कर आ जाए। व्यक्ति की निद्रा कब चिरनिद्रा बन जाए, इसका कोई पता थोड़े ही है। जागे सो महावीर, सोए सो कुंभकरण ! जो जागृत हैं, वे महावीर हैं, जो मूर्च्छित हैं, सुषुप्त हैं, वे कुंभकरण हैं।

कुंभकरण प्रतीक है सोने का। महावीर प्रतीक हैं जारुकता के। हम हर क्षण जागृत रहें ऐसे ही जैसे कि कोई भारण्ड पक्षी रहता है। भारण्ड पक्षी के दो मुँह होते हैं, जब एक मुँह नींद लेता है तो दूसरा जागृत रहता है और जब दूसरा मुँह सोता है तो पहला मुँह जागृत होकर रक्षा करता है।

काल बड़ा निर्दयी होता है, वह किसी को लेने कोई मुहूर्त निकलवाकर नहीं आता। वह तो बिन मुहूर्त के डोली उठा ले जाता है। इसलिए व्यक्ति को हर पल, हर क्षण सतत आत्मजागृत रहकर साधना के पथ पर आगे बढ़ना चाहिए। व्यक्ति को चाहिए कि वह प्रमाद न करे, आलस्य न खाए। भगवान कहते हैं, 'जो जागते हैं, उनकी बुद्धि बढ़ती है।' व्यक्ति को प्रमाद और आलस्य का त्याग कर सतत ज्ञानार्जन के लिए प्रयास करना चाहिए। जो निद्रालु और आलसी हैं वे कभी विद्या प्राप्त नहीं कर सकते।

संस्कृत सूक्तियों में विद्यार्थी की चेष्टा और ध्यान कैसा हो? इसके लिए कहा गया है—'काकचेष्टा, बकोध्यानं'। एक विद्यार्थी की लगन या प्रवृत्ति कौए के तमान हो और उसका ध्यान किसी बगुले की तरह हो। आपने कभी कौए को ध्यान से देखा है? वह कितना सजग रहता है! उसकी चोंच भले ही रोटी के टुकड़े पर हो पर उसकी आँखें दायीं-बायीं तरफ घूमकर खतरे से सदा सावधान रहती है। शायद ही किसी ने कौए को पत्थर से मारकर उड़ाया हो, क्योंकि वह इतना सजग रहता है कि आपका पत्थर उस पर लगे, उससे पहले ही वह उड़ जाता है। और एक विद्यार्थी का ध्यान बिल्कुल बगुले जैसा हो, जैसे कि बगुला एक पाँव ऊँचा खड़ा करके, आँखों को आधी मीचकर एक भक्त की तरह खड़ा रहता है, पर उसका सारा ध्यान मछलियों पर केन्द्रित रहता है। ज्ञानार्जन का इच्छुक व्यक्ति भी अपने लक्ष्य पर इसी तरह ध्यान केन्द्रित करके रहे। ध्यान रखो, अभ्यास से सब कुछ सधता है। रस्सी से पत्थर भी घिस जाता है और निर्बुद्धि भी विद्वान बन जाता है।

बात करीब पच्चीस वर्ष पूर्व की है जब मैं अध्ययनरत था। सुबह चार बजे उठ जाया करते और रात को ग्यारह बजे तक पढ़ते रहते। उस समय पढ़ई सिर पर ऐसे ही सवार रहती, जैसे कि किसी के सिर पर भूत सवार होता है। रातको सोया हुआ था, सहचर ने जगाकर पूछा, 'गिलास कहाँ है?' कहते हैं मैंने नींद में ही जवाब दिया, 'रेपीडेक्स इंग्लिश स्पीकिंग कोर्स' में। साथी लोग चौंके और बोले, 'आप क्या कह रहे हैं?' मैं तो गिलास के बारे में पूछ रहा हूँ।

आदमी अपनी साधना में इतना तल्लीन हो जाए कि उसे अपने लक्ष्य के अतिरिक्त न तो कुछ दिखाई दे और न ही सुनाई। सतत अभ्यास, सतत जागरूकता, सतत सन्नद्धता सफलता प्राप्त करने की बेहतर कला है।

हो सकता है क्रोध करना व्यक्ति की मजबूरी हो अथवा ऐसा होना नियति हो, पर व्यक्ति स्वयं की भावदशा के प्रति सजग तो रह ही सकता है। कैसे साथे हम जागरूकता को, इसके लिए निवेदन है कि व्यक्ति होशपूर्वक चले, अन्यथा उसके पाँव खुले गटर में कब पड़ जाएँ, इसका पता नहीं चलता। तुम गाना गाते हुए, ऊपर फिल्म का पोस्टर देखते हुए चल रहे हो। तुम गा तो रहे हो 'सावन का महीना पवन करे शोर' और जब जाकर किसी कीचड़ या गटर के नाले में गिरते हो तब पता पड़ता है कि ऊपर वाला सावन नहीं नीचे गटर का सावन बरस रहा है।

व्यक्ति होशपूर्वक चले, ऐसा करने से वह गटर में गिरने से तो बच ही सकता है, साथ ही साथ अहिंसा-धर्म का सहजता से पालन हो सकता है। भगवान यह आत्म-जागरूकता का दीप जो हमें थमा रहे हैं, उनमें उनका कोई लाभ या स्वार्थ नहीं है। वह तो कृतकृत्य हो चुके हैं, उनके द्वारा कुछ कहने का उद्देश्य सिर्फ यही है कि हर व्यक्ति उस दीप को जला सके जिसकी ज्योति व्यक्ति के जीवन को रोशन कर सके, उसे जीवन का राजमार्ग दिखा सके। अगर हमारा दीया जलेगा तो उन्हें कोई लाभ नहीं है। हम अपनी आत्मा पर ही उपकार कर रहे हैं। व्यक्ति की मूर्च्छा टूटे और आत्म-जागरूकता का दीप रोशन हो, इसीलिए भगवान अपने मुख से वाणी का उपयोग करते हैं।

आदमी वाणी का उपयोग भी होशपूर्वक करे। बोलने से पहले अच्छी तरह सोच ले कि मैं जो बोल रहा हूँ, इसका क्या परिणाम होगा? ताकि बाद में पछतावा नहीं करना पड़े। आदमी की आदत होती है, किसी से मिलने के बाद जब वह बिछुड़ जाएगा तो बाद में उसकी स्मृतियों में खोए रहेगा। वह सोचता रहेगा कि मैंने उसको ऐसा कहा, अगर वैसा कहता तो ज्यादा अच्छा रहता, अगली बार जब मिलूँगा तो ऐसा कहूँगा। इससे अच्छा तो यह है कि सोच-समझकर बोलो ताकि बाद में तुम्हें अपने कहे शब्दों पर अफसोस न हो।

बैठो तो भी होशपूर्वक। जब तुम छोटे थे, मास्टरजी की कुर्सी पर नीचे से रस्सी बाँध देते और मास्टरजी जैसे ही कुर्सी पर बैठते, वैसे ही तुम रस्सी खींच देते, मास्टरजी सीधे जमीन पर आ जाते। यदि तुम होशपूर्वक नहीं बैठे तो यह

किस्सा कुर्सी का तुम्हारे साथ भी हो सकता है। मास्टर जी की पुनरावृत्ति तुम पर भी हो सकती है। यहाँ व्यक्ति को 'फूल' बनाने के लिए अप्रैल का इन्तजार नहीं किया जाता, हर दिन व्यक्ति एक-दूसरे को 'फूल' बनाने के इन्तजार में बैठा रहता है। इसलिए किसी सोफे पर बैठो तो उसके पहले अच्छी तरह देख लो कि वहाँ पहले से कुछ गिरा या रखा हुआ तो नहीं है। अन्यथा जैसे ही बैठोगे, चीखकर उसी क्षण उठना पड़ सकता है। संभाव है, वहाँ पहले से ही आलपिन गिरी पड़ी हो। तुम यदि ऐसा करते हो तो तुम्हारा होश और सजगता न केवल तुम्हारी सुरक्षा करते हैं बल्कि यदि वहाँ अन्य कोई जीव है तो उसकी भी प्राण रक्षा हो जाती है और तुम्हारे द्वारा अहिंसा-धर्म का सहजता से पालन हो जाता है।

खाने में भी पूरा होश रखो, अच्छी तरह देखकर ही किसी वस्तु को ग्रहण करो। आजकल तो लोग किराए का खाना खाते हैं। बाजार से बनाया रेडिमेड या फिर नौकरों के हाथ से बनवाकर खाते हैं। मुनिजन लोग उन घरों से आहार ग्रहण नहीं करते जहाँ रसोइयों द्वारा खाना बनाया जाता है, क्योंकि वहाँ शुद्धता नहीं रह पाती। उसे खाने में से इल्ली निकालकर बताओ तो कहेगा जीरा है, मकोड़े का माथा बताओ तो कहेगा, 'अरे साहब ! यह तो इलाचयी का दाना है।' इसलिए जहाँ तक सम्भव हो, खाना स्वयं बनाएँ और यदि बाहर का खाना खा रहे हैं तो बहुत अच्छी तरह देखकर खाएँ। जूते पहनो तो वह भी होशपूर्वक। अच्छी तरह से देख लो कि उसके अन्दर कोई कीड़ा-मकोड़ा तो नहीं है। अगर मकोड़ा होगा तो वह बेचारा तो तुम्हारे पाँव से दबकर मर जाएगा, लेकिन यदि किसी दिन कोई जहरीला बिच्छु रहा तो तुम्हें मरते समय नहीं लगेगा। जूते खोलो तो भी सजगता से, सावधानी से।

हर कार्य विवेकपूर्वक हो। अगर आप सिगरेट पीते हैं तो आपकी मौज, गुटखा खाते हैं आपकी ऐश, पर सदैव ध्यान रखें कि सिगरेट का धुआँ ऐसी जगह न फैलाएँ जहाँ किसी व्यक्ति को दिक्कत हो। गुटखा खाकर पीक हर जगह न थूकें। सार्वजनिक स्थानों को पीकदान न बनाएँ। स्वच्छता पर ध्यान दें। स्वच्छता स्वयं स्वर्ग की जननी होती है।

भगवान ने कहा कि जो व्यक्ति वस्तु के लेने-देने में, मल-मूत्र विसर्जन करने में, बैठने में, चलने-फिरने में, सोने और खाने-पीने में विवेक रखता है, अप्रमत्त रहता है, सजगता और होश बरकरार रखता है वह ही सच्चा अहिंसक है। इसीलिए

मैंने दैनिक जीवन में काम में आने वाली ये छोटी-छोटी बातें कहीं। दैनिक जीवन में रहने वाली अप्रमत्तता और सजगता ही व्यक्ति के लिए साधना के उच्च द्वार खोलती हैं।

भगवान कहते हैं कि वे धन्य हैं जो सतत आत्मजागृत रहते हैं। वे कभी धन्य नहीं हो सकते जो सोए हैं, मूर्च्छित हैं अथवा प्रमत्त हैं। पहले भी अप्रमत्त लोगों को भगवान की तरफ से धन्यवाद ज्ञापित किया जाता था और आज भी ऐसे अप्रमत्त लोग धन्यवाद के पात्र हैं।

पल-प्रतिपल अपनी हर अच्छी-से-अच्छी और बुरी-से-बुरी क्रिया के प्रति सजग रहें। आत्म-जागरूकता और सजगता ही मुक्ति का आधार है। महावीर स्वयं जागरण के प्रतीक हैं। आत्म-जागरूकता की अलख जगाने के लिए महावीर और बुद्ध दोनों आदर्श साबित हो सकते हैं। राम और कृष्ण का, मोहम्मद और जीसस का अपना मूल्य है, अपना महत्व है, पर महावीर का नजरिया इन सबसे अलग, इन सबसे ऊपर है। महावीर कहेंगे—‘अप्पा अप्पम्मि रओ।’ अपने आप में रमण करो। बुद्ध कहेंगे—‘अप्प दीपो भव।’ अपने दीपक स्वयं बनो। कृष्ण कहते हैं ‘उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्।’ अपनी आत्मा का उद्धार स्वयं करो। मैं कह देना चाहता हूँ कि ये सब श्रेष्ठ पुरुष अंधेरे में रोशनी की तरह हैं।

मूल्य इसका नहीं है कि हम किस राह से गुजर रहे हैं। मूल्य इस बात का है कि हम गुजर भी रहे हैं या कोरी बातें ही कर रहे हैं। गुजर रहे हैं तो रास्ते के प्रकाश-स्तम्भों का मूल्य है। कोरे तारों को गिनने से कुछ न होगा। तारे बहुत गिन लिए, लहरों को खूब देख लिया। अब हम चलें – ‘चरैवेति।’ जो चलता है, उसी के लिए सतयुग है, शेष तो कलियुग को भुगत ही रहे हैं।

महावीर चिराग हैं, उनके लिए चिराग हैं, जो जीवन को उसकी आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ देना चाहते हैं वरना सब कुछ ‘जप-माला-पूजा-तिलक’ का सान्त्वना भर है।

हम अपने जीवन के प्रति भी जागरूक हों, अपने व्यवहारों के प्रति भी। जगत् के प्रति भी सजग हों और जीवन-जगत के बीच घटित होने वाली घटनाओं के प्रति भी। जो घटित हो, उसके प्रति जागरूक रहें, उसे समझें, मनन करें। जो अनुभव में आए, जो निष्कर्ष निकले, उससे प्रेरणा प्राप्त करें। जिन्दगी से महज गुजरें नहीं, उसे जीएँ। सिर्फ छुएँ नहीं, महसूस करें। सुने नहीं, ग्रहण करें।

धर्म की बातें थोड़ी-सी हैं, छोटी-सी हैं। महत्त्व बस उन्हें समझने का है, जीने का है। जी कर ही देखा-कहा जा सकता है कि धर्म मनुष्य को क्या देता है। भगवान हमारी मुक्ति चाहते हैं। वे स्वयं मुक्त हैं और हमारी मुक्ति की हमें व्यवस्था दे रहे हैं। हम मुक्ति को भी समझें और अपने बन्धनों को भी। भीतर आग लगी है, यह बात जिस दिन समझ में आ जाएगी, हममें से हर कोई व्यक्ति उस स्थान पर जाने के लिए स्वतः तत्पर हो जाएगा, जहाँ शान्ति है, शीतलता है, समरसता है, मुक्ति की पाजेब है।





# बेहतरीन किताबें

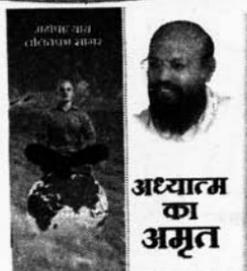
रॉयल साइज, रॉयल मैटर  
रॉयल प्रजेंटेशन  
किताबों की कीमत लागत से भी कम



जीने की कला ( रॉयल साइज )  
पृष्ठ : 196 मूल्य : 70/-



लाइफ़ हो तो ऐसी !  
पृष्ठ : 144 मूल्य : 50/-



अध्यात्म का अमृत  
पृष्ठ : 144 मूल्य : 50/-



प्रेरणा  
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



लक्ष्य बनाएँ, पुरुषार्थ जगाएँ  
पृष्ठ : 128 मूल्य : 40/-



कैसे जिएँ मधुर जीवन  
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



योग अनाएँ, ज़िंदगी बनाएँ  
पृष्ठ : 108 मूल्य : 25/-



जीवन के समाधान  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 80/-



जागे सो महावीर  
पृष्ठ : 192 मूल्य : 40/-



जरा मेरी आँखों से देखो  
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



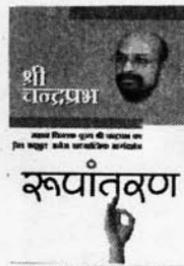
माँ की ममता हमें पुकारे  
पृष्ठ : 32 मूल्य : 8/-



मृत्यु से मुलाकात  
पृष्ठ : 200 मूल्य : 50/-



ध्यानयोग : विधि और वचन  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 40/-



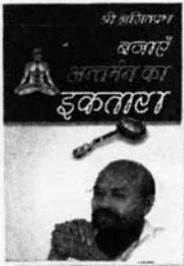
रूपान्तरण  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 25/-



मैं कौन हूँ  
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



महागुहा की चेतना  
पृष्ठ : 192 मूल्य : 40/-



बजाएँ अन्तर्मन का इकतारा  
पृष्ठ : 192 मूल्य : 40/-



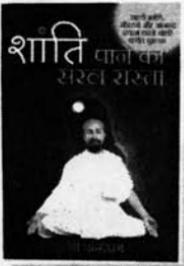
द योग  
पृष्ठ : 192 मूल्य : 40/-



द विपश्यना  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 30/-



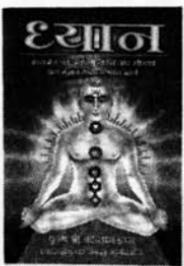
आत्मा की प्यास बुझानी है तो  
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



शांति पाने का सरल रास्ता  
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



अंतर्यात्रा  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 30/-



ध्यान  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 25/-



श्रेष्ठ कहानियाँ  
पृष्ठ : 128 मूल्य : 25/-



जिएं तो ऐसे जिएं  
पृष्ठ : 128 मूल्य : 40/-



महाजीवन की खोज  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 40/-



जागो मेरे पार्थ  
पृष्ठ : 250 मूल्य : 45/-



शांति, सिद्धि और मुक्ति पाने का सरल रास्ता  
पृष्ठ : 176 मूल्य : 40/-



चिंता, क्रोध और तनाव मुक्ति के सरल उपाय  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 50/-



पल-पल लीजिए जीवन का आनंद  
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



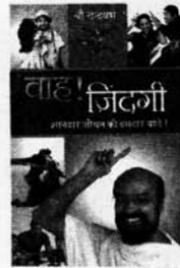
यह है रास्ता जीवन्त धर्म का  
पृष्ठ : 120 मूल्य : 25/-



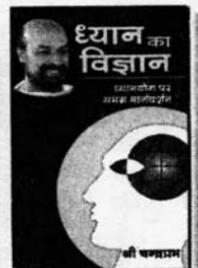
ऐसी हो जीने की शैली  
पृष्ठ : 160 मूल्य : 30/-



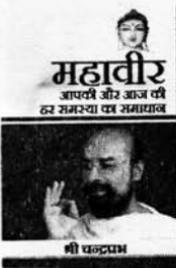
चार्ज करें जिंदगी  
पृष्ठ : 96 मूल्य : 25/-



वाह! जिंदगी  
पृष्ठ : 112 मूल्य : 25/-



ध्यान का विज्ञान  
पृष्ठ : 144 मूल्य : 30



महावीर आपकी और आज की हर समस्या का समाधान  
पृष्ठ : 300 मूल्य : 60/-



ध्यान को गहराई देने वाले ध्यानसूत्र  
पृष्ठ : 192 मूल्य : 35/-



अब भारत को जगाना होगा  
पृष्ठ : 176 मूल्य : 35/-



न जन्म, न मृत्यु  
पृष्ठ : 192 मूल्य : 35/-

न्यूनतम 400 - का साहित्य मंगवाने पर डाक खर्च संस्था द्वारा देय होगा ।  
धनराशि SRI JITYASHA SHREE FOUNDATION के नाम से ड्राफ्ट बनाकर जयपुर के पते पर भेजें । उपरोक्त साहित्य प्राप्त करने हेतु अपना ऑर्डर निम्न पते पर भेजें ।

**श्री जितयशा श्री फाउंडेशन**

बी-7, अनुकम्पा द्वितीय, एम. आई. रोड, जयपुर ( राज. ) 0141-2364737, 2375796

# जागे सो महावीर

श्री चन्द्रप्रभ कहते हैं जो जागृत हैं वे महावीर हैं, जो सोए हैं, वे कुंभकरण हैं। 'जागे सो महावीर' प्रसिद्ध चिंतक राष्ट्रसंत श्री चन्द्रप्रभ द्वारा एक ऐसे महापुरुष पर दिए गए अमृत प्रवचन हैं, जिनकी अहिंसा ने मानव-मात्र को प्रेम और शांतिपूर्वक जीवन जीने का रास्ता दिखाया। महावीर की समग्र मानव-समाज के लिए क्या उपयोगिता हो सकती है, श्री चन्द्रप्रभ ने अपने इन प्रवचनों में उन्हें बड़े सहज और प्रभावी ढंग से पेश किया है। जीवन, जगत और अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को वे सटीक और सहज ढंग से लोगों के दिलों में उतार देते हैं।



महान जीवन-द्रष्टा पूज्य श्री चन्द्रप्रभ देश के लोकप्रिय आध्यात्मिक गुरुओं में अपनी एक विशेष पहचान रखते हैं। 10 मई, 1962 को जन्मे श्री चन्द्रप्रभ ने 27 जनवरी, 1980 को संन्यास ग्रहण किया। वे विविध धर्मों के उपदेष्टा और महान चिंतक हैं। उनकी जीवन-दृष्टि ने लाखों युवाओं को एक नई सकारात्मक क्रांति दी है। उनके प्रभावी व्यक्तित्व, प्रवचन शैली और महान लेखन ने जनमानस को एक नया उत्साह, उद्देश्य और मंजिल प्रदान की है। उनकी 200 से अधिक पुस्तकें और 500 से अधिक प्रवचनों की वीसीडी जन-जन में ईद का प्रेम, होली की समरसता और दीपावली की रोशनी बिखेर रही हैं। इनके द्वारा जोधपुर में स्थापित संबोधि-धाम बहुत लोकप्रिय है, जहाँ शिक्षा, सेवा और ध्यान-योग के जरिए मानवता के मंदिर में ज्योत से ज्योत जलाई जाती है।

